THE BOOK WAS DRENCHED

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180018

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—23—4-4-69—5,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H83·1 SJGP Accession No. H3314

Author श्रीकृष्ण और इतर सेपा

Title प्रतिनिधि लेति हास्य कहानियाँ

This book should be returned on or before the date last marked below. 1961.

प्रतिनिधि ऐतिहासिक कहानियाँ

हिन्दी-जगत् का गौरवमय प्रकाशन

प्रतिनिधि - साहित्य - माला

☐ **प्रतिनिधि हास्य कहानियाँ** (सचित्र)

हिन्दी-जगत् के ४७ अग्रणी कहानीकारों की गुदगुदाने वाले हास्य, तीर की तरह सीधे हृदय में उतर जाने वाले व्यंग्य, बरबस मुसकान ला देने वाले विनोद और चुभते कटाक्षों से ओत-प्रोत श्रेष्ठ कहानियाँ ! प्रत्येक कहानी पर पूरे पृष्ठ का कार्टून-चित्र ! हिन्दी में हास्य-कहानियों का इतना वृहत् संकलन आज तक नहीं निकला ।

रु० १२.५०

☐ **प्रतिनिधि हास्य एकांकी**

हिन्दी-जगत् के २३ सर्वश्रेष्ठ एकांकी-शिल्पियों के शिष्ट हास्य-व्यंग्य से सराबोर प्रतिनिधि एकांकी ! सभी एकांकी रंगमंच पर अभिनीत हो चुके हैं और अत्यन्त सफल रहे हैं ।

रु० १०.००

☐ **कामरूप**

प्रेम, विरह और दुःख-दर्द के चोटी के शायर फ़िराक गोरखपुरी ने उर्दू के दो सौ वर्ष के साहित्य से प्रणय-कविताओं को चुन-चुनकर इसमें संजोया है। सजीलापन इन कविताओं का अस्तित्व है और चुटीलापन इनका स्वभाव; सपने इनके हमजोली हैं और भावना इनकी संगिनी ! ऐसी रंग-बिरंगी चूनर ओढ़े उर्दू-शायरी के ये प्रेम-गीत कौन नहीं गायेगा !

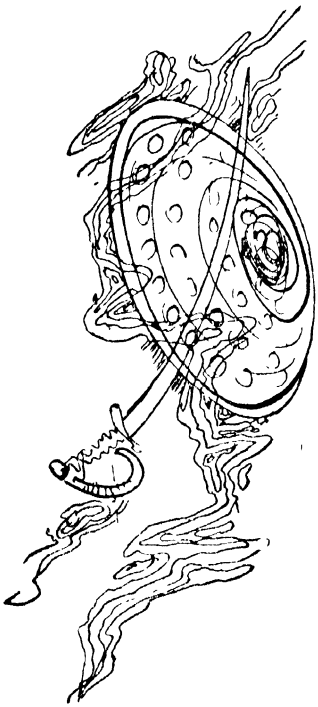
रु० ७.५०

* बड़ा आकार * बहुरंगा मुखपृष्ठ

आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली-६

प्रतिनिधि ऐतिहासिक कहानियाँ

सम्पादक :
श्रीकृष्ण
मनमोहन सरल
अरुण



Post Graduate Library
College of Arts & Commerce, O. U.



आत्माराम एण्ड सन्स
काश्मीरी गेट, दिल्ली

PRATINIDHI ETIHASIK KAHANIYAN

Edited by

SHRI KRISHAN : MANMOHAN SARAL : ARUN

Rs. 8.00

●

प्रकाशक :
रामलाल पुरी
संचालक
आत्माराम एण्ड संस
काश्मीरी गेट,
दिल्ली–६

●

आवरण :
योगेन्द्रकुमार लल्ला

●

मूल्य :
रुपए ८.००

●

प्रथम संस्करण :
१९६१

●

मुद्रक :
ज्ञानमण्डल लिमिटेड,
वाराणसी–१

●

COPYRIGHT © ATMA RAM & SONS, DELHI–6.

प्रस्तावना

सुप्रसिद्ध आंग्ल आलोचक विलियम हेनरी हडसन ने लिखा है कि कहानी-उपन्यास में सब-कुछ सत्य होता है—बस, नाम और तिथियाँ सत्य नहीं होतीं; किन्तु इतिहास में कुछ भी सत्य नहीं होता—बस, नाम और तिथियाँ ही सत्य होती हैं। इतिहास और साहित्य की पारस्परिक तुलना करते हुए किसी ने कहीं लिखा है कि इतिहास राष्ट्र का जीवन-वृत्त है, जबकि साहित्य राष्ट्र की आत्मकथा है। विशुद्ध वैज्ञानिक अर्थ में इतिहास तो अविसंवादी प्रामाणिक तथ्यावली का धारावाहिक संग्रह है। प्रामाणिक ग्रन्थों, शिला-लेखों, मुद्राओं, ताम्रपट्टों, प्राचीन पत्रों आदि सामग्री का आश्रय ग्रहण करके तथ्य-संचयन किया जाता है। इन तथ्यों को धारावाहिक रूप देने के लिए इतिहास के लेखक को कल्पना का सहारा लेना पड़ता है। कल्पना का सहारा साहित्यकार को भी लेना पड़ता है। कथा-लेखक को तो इसकी और भी अधिक आवश्यकता होती है। गल्प और फिक्शन-जैसे नाम इसी कल्पना के आश्रय के कारण सार्थक हैं।

ऐतिहासिक कहानी इतिहास और साहित्य को जोड़ने वाली कड़ी है। यों तो इतिहास और साहित्य बहुत-कुछ एक-दूसरे के पूरक होते ही हैं, किन्तु ऐतिहासिक कहानी दोनों के ही निकट की वस्तु है। वह कहानी भी है, और इतिहास भी। वह केवल कहानी ही नहीं हैं, और न केवल इतिहास ही। ऐतिहासिक कहानी में कल्पना का क्षेत्र एक दायरे में घिरकर रह जाता है। कागज का पुतला बनाने के लिए पहले बाँस की खपचियों से एक ढाँचा बनाया जाता है, फिर उस पर कागज मढ़कर ऐसा रूप देने की चेष्टा की जाती है कि देखने वाले को भ्रम हो जाये और उसमें जीवन का आभास होने लगे। ऐतिहासिक कहानी में ढाँचे का काम करते हैं—इतिहास-पोषित तथ्य, और जिस प्रकार एक खपची को दूसरी से मिलाने के लिए कागज मढ़ा जाता है, उसी प्रकार इन तथ्यों का आधार लेकर, इन्हें सूत्रबद्ध तथा स्वाभाविक करने के लिए कल्पना का सहारा लेना पड़ता है। लेकिन ऐतिहासिक कहानीकार की कल्पना भी सामान्य कहानीकार से भिन्न और सीमित होती है। वह किसी भी

तरह वास्तविकता की उपेक्षा नहीं कर सकता। वास्तविकता का आँचल सामान्य कहानीकार भी नहीं छोड़ता किन्तु उसकी वास्तविकता आज की, आधुनिक काल की वास्तविकता होती है, जबकि ऐतिहासिक कहानीकार की वास्तविकता अतीत की वास्तविकता होती है; उस अतीत की जो सामने नहीं होता, जो अनुभूत और प्रत्यक्ष नहीं होता। उस अतीत की परिस्थिति आदि का अनुमान थोथी कल्पना से नहीं किया जाता। फिर सामान्य कहानीकार के चरित्र उसके जाने-पहचाने होते हैं, सजीव होते हैं। ऐतिहासिक चरित्र अपरिचित होते हैं और उनमें सजीवता लानी होती है। अच्छी ऐतिहासिक कहानी की विशेषता ही यह है कि जिस समय की वह कहानी है, पाठक अपने को भी उसी समय के वातावरण में समझने लगे। उसे वह कहानी सामने घटती हुई-सी जान पड़े। रस-बोध के इस आदर्श को प्राप्त करने के लिए लेखक को छोटी-छोटी बातों में भी सावधान रहना पड़ता है। सम्बोधन अथवा शिष्टाचार के लिए प्रयुक्त शब्दों में ही त्रुटि होने पर खटकने लगती है। इन्हीं सब बातों के कारण सामान्य कहानी के अनुपात में ऐतिहासिक कहानी लिखना कठिन होता है। यही कारण रहा है कि हिन्दी में ऐतिहासिक कहानियों का अभाव दिखाई देता है। ऐतिहासिक उपन्यासों की संख्या तो पर्याप्त संतोषजनक दिखाई देती है किन्तु कहानियाँ बहुत कम ही लिखी गई हैं। उनमें भी सच्चे अर्थों में स्तरीय ऐतिहासिक कहानियाँ तो और भी कम हैं।

ऐतिहासिक कहानियों की परम्परा का सूत्र पकड़कर कहीं बहुत पीछे नहीं जाना पड़ेगा। कारण सुस्पष्ट है। 'कहानी' संज्ञा जिस विधा को दी जाती है वह इसी बीसवीं शताब्दी की उपलब्धि ही तो है, फिर ऐतिहासिक कहानी और पीछे कैसे जा सकती है! हाँ, ऐतिहासिक कथानकों का प्रयोग अवश्य ही बहुत पहले से किया जाता रहा है। कितने ही खण्ड-काव्य, महाकाव्य अथवा फुटकर कविताओं का आधार ऐतिहासिक कथानक रहे हैं। कहानी के प्रारम्भिक युग में उसे 'आख्यायिका' नाम से अभिहित किया जाता था। ये आख्यायिकाएँ अथवा कहानियाँ काल्पनिक हो ही नहीं सकतीं। इन्हें तो सच्ची घटनाओं पर आधारित होना चाहिये। आख्यायिका की परिभाषा देते हुए यह स्थापना आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने की थी। इसके आधार पर प्रारम्भिक युग की प्रायः सभी आख्यायिकाएँ ऐतिहासिक अथवा पौराणिक प्रसंगों पर आधारित हैं। स्वयं महावीरप्रसाद द्विवेदी ने भी ऐसी ही कई आख्यायिकाओं की रचना की। उनकी पहली आख्यायिकाएँ १९०४-५ में तथा उनकी अन्य आख्यायिकाएँ १९११ में प्रकाशित हुईं। ये कहानियाँ केवल इतिहास बनकर रह गईं। इनमें कल्पना तथा भावों का योग नहीं हुआ। तात्विक दृष्टि से भी इन कहानियों में कोई विशिष्टता नहीं आ पाई। इन वर्णनप्रधान कहानियों में भाषा-कौशल भी साधारण कोटि का ही है।

ऐतिहासिक कहानियों का सही रूप सबसे पहले बाबू वृन्दावनलाल वर्मा ने ही पहचाना है। यद्यपि प्रारम्भिक युग की उनकी कहानियों में भी विशेष कलात्मकता नहीं आ पाई किन्तु कहानी का दृष्टिकोण उन्होंने बहुत-कुछ समझा, ऐसा सुस्पष्ट है। १९०९-१० में प्रकाशित उनकी कहानियाँ बहुत ऊँची कोटि की तो नहीं हैं, किन्तु फिर भी बहुत आशाप्रद हैं। वर्माजी से बहुत आशा बन सकती थी किन्तु उन्होंने शीघ्र ही कहानी का क्षेत्र छोड़ दिया और उपन्यास की ओर प्रवृत्त हो गये। तब से अब तक उन्होंने अधिक ध्यान उपन्यासों की ओर ही दिया है, और इस क्षेत्र में उन्हें सफलता भी प्राप्त हुई। बीच-बीच में उन्होंने कुछ ऐतिहासिक कहानियाँ लिखी भी हैं, किन्तु उनकी संख्या संतोषजनक नहीं है।

प्रयोगकाल की कहानियों में कहानी-कला का आरम्भिक रूप ही प्राप्त होता है, साथ ही इनमें पात्रों की चारित्रिक विशेषताएँ बिलकुल भी सामने नहीं आ पातीं। प्रेमचन्द-प्रसाद युग में ही वास्तव में कहानियों में सही अर्थों में 'कहानीपन' आ पाया। यही हाल ऐतिहासिक कहानी का भी रहा। उसे भी स्थिर और सही रूप इसी युग में प्राप्त हो सका। जयशंकर प्रसाद, प्रेमचन्द, चतुरसेन शास्त्री, रायकृष्णदास, गोविन्दवल्लभ पन्त आदि लेखकों ने ऐतिहासिक कहानियों की दिशा में कुछ-न-कुछ प्रदान किया। इन लेखकों की ऐतिहासिक कहानियों ने उचित मार्ग का निर्देशन किया। ऐतिहासिक होते हुए भी ये कहानी के गुणों से समन्वित हैं। मानव-चरित्र का विश्लेषण भी यथासम्भव मनोवैज्ञानिक एवं स्वाभाविक है। जीवन के चिरन्तन सत्यों तथा भावनाओं को भली प्रकार चित्रित किया गया है। समग्र रूप में कहा जा सकता है कि ये कहानियाँ सजीव हैं।

आधुनिक युग में भी ऐतिहासिक कहानियों का सृजन होता रहा है किन्तु अन्य कहानियों के अनुपात में इनकी संख्या कम ही रही है। बड़े अचम्भे की बात है कि कहानी का आरम्भ ऐतिहासिक कहानियों से ही हुआ था किन्तु आगे चलकर ऐतिहासिक कहानियाँ ही पिछड़ गईं। आज तो यह स्थिति दिखाई देती है कि यदि प्रति माह दो सौ कहानियाँ प्रकाशित होती हों, तो उनमें ऐतिहासिक कहानियाँ एक-दो से अधिक नहीं मिलेंगी।

ऐतिहासिक कहानियों के इस अभाव का कारण यह कदापि नहीं है कि पाठक उन्हें पसन्द नहीं करते। देखा गया है कि सामान्यतः पाठक सामाजिक कहानियों की अपेक्षा ऐतिहासिक कहानियों को ही अधिक पसन्द करते हैं। इस कारण आज के कहानीकार से यह अपेक्षित है कि वह पाठकों की इस प्यास को पूरा करने का यत्न करे।

इस दिशा में जागरूक होने की आवश्यकता एक और कारण से भी है। पाठक ऐतिहासिक कहानी को क्यों पसन्द करता है, इसका विश्लेषण करके

इस कारण को स्पष्ट करना होगा। मानव की स्वाभाविक उत्कण्ठा जिस प्रकार भविष्य के ज्ञान की ओर रही है, उतनी ही उत्सुकता उसे अपने अतीत की ओर भी रहती है। अतीत की जिज्ञासा की इस भूख को इतिहास पूरी तरह से सन्तुष्ट नहीं कर पाता। उसके दो कारण हैं—एक तो इतिहास की सामग्री धारावाहिक और सम्पूर्ण नहीं होती। इस कारण उसके तथ्यों से सही स्थिति का बोध सामान्य पाठक की बुद्धि से परे हो जाता है। सामान्य पाठक उन तथ्यों का साधारणीकरण करके उनसे सामंजस्य स्थापित नहीं कर पाता क्योंकि कल्पना और भावना का सम्बल उसके पास नहीं होता। दूसरी बात यह है कि इतिहास सदैव सत्य नहीं होता। पीटर तो इतिहास को मिथ्याभाषी कहकर पुकारा करता था। इतिहास की सत्य-असत्य की भूल-भुलैयाँ में से सत्य को ही ढूँढ निकालना सामान्य पाठक के वश की बात नहीं होती, और न वह इतना श्रम करना ही चाहता है। कहानीकार अपनी विवेक की दृष्टि से इतिहास की इस भूल-भुलैयाँ के आर-पार स्पष्ट देख सकता है और इस तरह वह पाठक को एक साफ और निथरी हुई वस्तु प्रदान करता है, जो रस-बोध की दृष्टि से तो सुगम और सहज होती ही है, मनोरंजन और ज्ञानवर्द्धन भी करती है; और वह वस्तु और कुछ नहीं, ऐतिहासिक कहानी ही होती है।

कहानी ही क्यों, उपन्यास क्यों नहीं? यह प्रश्न भी यहाँ उठना स्वाभाविक है। इसका उत्तर भी सहज सुस्पष्ट है। आज जीवन की गति इतनी त्वरित हो चुकी है कि सामान्यतः पाठक के पास उपन्यास पढ़ने का अवकाश ही नहीं है। फिर वह गागर में सागर चाहता है। उसे प्रत्येक क्षण और प्रत्येक पग पर वैविध्य की कामना भी रहती है। कहानी उसकी इन सभी आवश्यकताओं को उपन्यास की तुलना में कहीं अधिक पूरा करती है।

इतिहास की जो परिभाषा पहले दी जा चुकी है, उसी क्रम में एक बात और सामने आती है। अतीत का इतिवृत्त ही इतिहास होता है, इसके अनुसार भारतीय इतिहास के अन्तर्गत वैदिक और पौराणिक काल भी आ जाते हैं। इस स्थापना के आधार पर पौराणिक कहानियों को ऐतिहासिक कहानियों से पृथक् मानना युक्तिसंगत नहीं लगता। इन्हें अनैतिहासिक मानने के पक्ष में सामान्यतः दो तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं। एक तो ये आध्यात्मिक संकीर्णता से युक्त रहती हैं, इसलिए इनमें से अधिकांश किसी धर्म-भावना को प्रकट करने वाली रूपक-कथाएँ हैं। दूसरे, ये अप्रामाणिक और अस्वाभाविक हैं। यों तो इतिहास में सब-कुछ प्रामाणिक नहीं होता, और न सब स्वाभाविक ही लगता है। रूपक-कल्पनाएँ भी सर्वथा निराधार और निस्सार नहीं होतीं। फिर बहुत-सी पौराणिक-कथाएँ इन आक्षेपों की अपवाद भी हैं। बार-बार दोहराई

जाने के कारण भी ये प्रामाणिक और ऐतिहासिक हो गई हैं। अतीत के इतिवृत्त के इस भाग को पूरा करने के लिए भी इन्हें इतिहास में सम्मिलित किया जाना आवश्यक हो जाता है।

प्रस्तुत संकलन उपर्युक्त सभी बातों को यथासम्भव ध्यान में रखकर किया गया है। हिन्दी कहानियों की इस दिशा में अभाव को लक्ष्य करके यह योजना प्रस्तुत की गई थी। हिन्दी की प्रतिनिधि ऐतिहासिक कहानियों का अन्य कोई ऐसा वृहद् संकलन पहले भी हुआ हो, ऐसा स्मरण नहीं होता। इसी से इस दुष्कर कार्य को हाथ में लेते झिझक तो हुई थी, किन्तु इसे पूरा करने के बाद हमें अपार सन्तोष हो रहा है। इसमें भारतीय इतिहास के प्रायः सभी युगों का निदर्शन कराने वाली कहानियों को सम्मिलित करने का प्रयास रहा है। साथ ही यह भी प्रयत्न रहा है कि लेखक की प्रतिनिधि ऐतिहासिक कहानी ही सम्मिलित की जाये। दोनों ही बातों का विचार रखने के कारण यदि कहीं कोई भूल हो भी गई हो, तो सुविज्ञ पाठक क्षमा करें। हाँ, एक अभाव तो हमें भी खटक रहा है। हम चाहते थे कि भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम का प्रतिनिधित्व करने वाली कोई अच्छी कहानी भी दी जाये किन्तु प्रयत्न करने पर भी हम स्तरीय कहानी जुटा नहीं पाये।

एक बात और कहनी है। हमारी इच्छा थी कि इस संकलन में जहाँ भारतीय इतिहास का दिग्दर्शन पूरी तरह हो, वहाँ ऐतिहासिक कहानियों के विकास का पूरा परिचय भी मिल सके। इसे पूरा करने के लिए प्रारम्भिक युग तथा विकास-युग की कहानियाँ भी इसमें सम्मिलित की जानी चाहिये थीं। इसके लिए हमने इन कालों के प्रतिनिधि लेखकों की कहानियाँ लेने का प्रयत्न किया। उन दिवगंत लेखकों के उत्तराधिकारियों से पत्र-व्यवहार किया गया किन्तु उन्होंने अनुमति के बदले में जो माँगें रखीं वे सामर्थ्य के बाहर की थीं। क्या यह उचित है कि अनेक बार प्रकाशित ऐसी कहानी के लिए जिससे अब तक वे लोग अनायास ही इतना तक प्राप्त कर चुके हैं, जितना उनके लेखकों ने जीवन-भर भी प्राप्त नहीं किया था, पुनर्प्रकाशन की अनुमति देने के लिए ऐसी माँगें की जायें, जिन्हें पाठ्य-पुस्तकों के प्रकाशक को छोड़कर ललित-साहित्य का प्रकाशक पूरा न कर सके? जिन सम्मानित और श्रेष्ठ लेखकों के विनम्र और सहृदयतापूर्ण स्वभाव की कहानियाँ हम सुनते आये हैं, उन्हीं के उत्तराधिकारी ऐसा अशोभनीय और अनुचित व्यवहार बरतते हैं कि दुःख होता है। ऐसी रचनाओं के स्वत्वाधिकारी प्रकाशकों की भी यही हालत है।

जीवित लेखकों में से भी कुछ को इसी प्रकार की अनुचित माँगों के कारण विवशतः छोड़ देना पड़ा। बार-बार प्रकाशित हुई रचना के लिए चौंका देने वाली राशि की माँग देखकर खेद होता है।

इस अभाव का हम अनुभव करते हैं। हमारी विवशता और उससे

भी अधिक वे लेखक, तथा लेखकों के स्वत्वाधिकारी गण इसके लिए उत्तरदायी हैं। फिर भी जो दोष हमारा है उसके लिए हम नतमस्तक हैं।

अन्त में सभी सहयोगी लेखकों का आभार स्वीकार करना आवश्यक है, जिनके सहयोग से ही यह संकलन सम्पूर्ण हो सका है। कहानी-संकलनों के प्रकाशन में जबकि अन्य प्रकाशक उदासीन हैं, 'प्रतिनिधि-साहित्य-माला' के अन्तर्गत ऐसे विशाल संकलनों के प्रकाशन के साहस पर मैसर्स आत्माराम एण्ड संस के संचालक श्रीरामलाल पुरी वास्तव में बधाई के पात्र हैं।

—सम्पादक

क्रम

१. अनन्त
दूसरा एकलव्य १
२. अरुण
भूमि की लहर १५
३. आनन्दप्रकाश जैन
अन्तिम नग २५
४. आरिगपूडि
महाबलिपुरं ४१
५. गोविन्दवल्लभ पंत
राष्ट्रद्रोही का धन ५१
६. चतुरसेन शास्त्री
दुखवा मैं कासे कहूँ मोरी सजनी ५९
७. चन्द्रकिरण सौनरेक्सा
कल्याणी ६९
८. जगदीशनारायण माथुर
असतेन मृतः ७९
९. परदेशी
चम्पा के फूल ८९
१०. प्रह्लादनारायण मित्तल
राजमहिषी का न्याय १०१
११. भगवतशरण उपाध्याय
देवी चन्द्रगुप्त १११
१२. मनमोहन सरल
अधरों की मदिरा १२३
१३. महीपसिंह
कोहनूर की कीमत १३३
१४. यमुनादत्त वैष्णव 'अशोक'
पत्थर की लकीरें १४१
१५. यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र'
मंगलमुखी १५७

१६. रतनलाल बंसल
चट्टान और लहर १६५
१७. राहुल सांकृत्यायन
प्रभा १७७
१८. रांगेय राघव
देवदासी २०१
१९. वृन्दावनलाल वर्मा
माँ के आँसू २२५
२०. विश्वदेव शर्मा
कैसर का रंग २३५
२१. विष्णु प्रभाकर
जीवन-दीप २४३
२२. शंकर पुणतांबेकर
सुजाता २५५
२३. शशिभूषण सिंहल
नमक के लिए २६७
२४. शैलेश मटियानी
तथ्य और सत्य २७७
२५. सावित्री निगम
गूजरी महल २८५
२६. सुरेश भटनागर
दस अंगुलियाँ : एक धागा २९३
२७. स्वरूप ढौंडियाल
प्राचीर के पीछे ३०१
२८. हंसराज रहबर
भूत की परछाईं ३०९
२९. हरिदत्त भट्ट 'शैलेश'
कलाकार का मूल्यांकन (!) ३१९

१

दूसरा एकलव्य

अनन्त

श्री अनन्त का जन्म सन् १९३३ में हुआ था। इलाहाबाद विश्वविद्यालय से बी० ए० पास कर अंग्रेजी में एम० ए० कर रहे थे कि परिस्थितियों के कारण पढ़ाई बीच में ही छोड़कर नौकरी कर लेनी पड़ी। लेकिन नौकरी किये अधिक दिन भी न बीते थे कि पढ़ने की धुन फिर सवार हुई और नौकरी छोड़कर लखनऊ विश्वविद्यालय से हिन्दी में एम० ए० उत्तीर्ण किया। लिखने का चाव विद्यार्थी-काल से ही है। प्रथम कहानी १९४८ में बनारस की मासिक पत्रिका 'आँधी' में छपी थी। हिन्दी की प्रायः सभी उच्च कोटि की पत्र-पत्रिकाओं में आपकी रचनाएँ छपती रहती हैं। आपकी कहानी 'शूद्र का बेटा' पर हिन्दी की लोकप्रिय मासिक पत्रिका 'सरिता' द्वारा आयोजित अखिल भारतीय ऐतिहासिक कहानी-प्रतियोगिता में प्रथम पुरस्कार मिला था। कलकत्ता से प्रकाशित होने वाले पत्र 'चित्रभारती' के सम्पादक-पद पर भी आप कुछ दिन कार्य कर चुके हैं।

रचनाएँ

'जिन्दगी के घेरे', आदि।

पृथा का सिर चकरा रहा था। उसे लगता, मानो उदर के भीतर जो कुछ है वह बाहर आ जायेगा। अंग-अंग शिथिल हो रहा था।

"मेरा मस्तक घूम रहा है माँ, मुझे मितली आ रही है।"

माँ ने पुत्री का मस्तक छुआ। ज्वर नहीं है। पृथा शय्या पर सो गयी। वह रो रही थी।

"रो मत, मितली आने से क्या!"

पृथा फफक-फफककर रो उठी। माँ ने उसका मस्तक फिर छुआ, उसकी छाती छुई, उसका उदर छुआ। उदर! और वह काँप गयी। उदर नहीं, मानो अग्नि का ढेर छू लिया हो।

'गर्भ!' उसके मन ने कहा।

और तब कुन्ती के आँसुओं ने, मितली ने, प्रकोष्ठ ने, सारे वायुमंडल ने गरज-गरजकर कहा—'गर्भ-गर्भ···!'

माँ ने अपने कान बन्द कर लिए—'नहीं, नहीं, यह असत्य है, यह असम्भव है।' किन्तु उसकी आँखों के सम्मुख घूमता रहा—मांस का एक टुकड़ा।

"किसका है? अरी, यह टुकड़ा किसका है?"

कुन्ती रोती रही। वह नहीं कहेगी। आजीवन वह अपने प्रेमी पर आँच नहीं आने देगी। वह सब सहन करेगी, भिक्षा का पात्र लेकर घूमेगी किन्तु वह नहीं कहेगी, नहीं सकारेगी।

"किसका है?" माँ ने पुनः पूछा।

"यह नहीं कहूँगी, पर मैं इसे बचाऊँगी। यह मेरा रक्त है, यह मेरा अंश है।"

माँ भयंकर हँसी हँसी। उसने कहा, "तू नहीं कहेगी तो यह नहीं बचेगा। तू सारे कुल को ले डूबी, पृथा। हमारे मुँह पर इतना बड़ा धब्बा!"

पृथा माँ से लिपट गयी, "माँ, मैं कुछ नहीं कहती। इसे केवल हो जाने दो। यह जीवित जन्म ले। फिर जो चाहे, करना। इसे यमुना में फेंक देना किन्तु एक बार मैं इसे हिलता देख लूँ। माँ, मैं तुम्हारा रक्त हूँ, यह भी तुम्हारा रक्त है, माँ। इस रक्त को रूप होने दो।" वह रोती रही।

माँ ने उसके माथे को सहलाया जैसे वह अपनी पुत्री को नहीं, किसी नन्हे शिशु को सहला रही हो।

* * *

"अब क्या होगा?"

सूर्य मौन बैठा रहा। उसने कुन्ती के शब्द सुने। उसे लगा यमुना के दूसरे तट से असंख्य जलती हुई आँखें घूर रही हैं—जन की, कुल की, पूरे समाज की आँखें।

"बोलते क्यों नहीं, उसका क्या होगा जो तुम्हारा है, जो मेरे गर्भ में है?"

सूर्य काँप उठा, विवशता के स्वर में बोला, "मैं चाहता हूँ कि यह अंकुर बढ़कर वृक्ष हो किन्तु मेरे भुज जैसे कट गये हैं, कुन्ती।" उसने पृथा की हथेली अपने हाथों में ले ली। कुन्ती का सिर सूर्य के कन्धे पर था। वे बैठे रहे—उन्मन, आकुल, पंख-टूटे पंछी की भाँति।

मार्ग कहाँ है? कहाँ है?

किन्तु कहीं कुछ न था। मद्धिम-मद्धिम प्रवहमान यमुना की धारा थी, सुनसान कछार था और आकाश पर मानो कोई काजल पोतता आ रहा था।

* * *

'केआँ! केआँ! केआँ!'

निर्जन तट पर स्नान करता व्यक्ति चौंक गया।

क्या? यह तो माँ के उदर से शीघ्र ही जन्मे शिशु का स्वर है।

"कौन है?" उसने स्वयं से कहा।

'केआँ! केआँ!'

व्यक्ति ने तट के उस पार देखा। तट के इस ओर करील के घनियारे कुंजों में नेत्र गड़ाए और घूमी हुई डगर पर दृष्टि डाली, किन्तु कही कोई नहीं था!

"कौन है?" उसने अपनी समस्त शक्ति को स्वर मे केन्द्रित कर पुकारा। किन्तु कोई उत्तर नही आया और शिशु-रुदन निरन्तर बढ़ता गया। जिस दिशा से रुदन का स्वर आ रहा था, वह उस ओर दौड़ने लगा। कुंजों के बीच उसके पाँव छिल गए, किन्तु वह भागता गया। उसे लगा, जैसे स्वर सरिता-तट से आ रहा है। वह उसी ओर द्रुत गति से चलने लगा।

हाँ, स्वर वहीं से आ रहा था। किन्तु यह क्या? वहाँ तो कोई नहीं है।

वह रुक गया और उसने ध्यान से सरिता के जल में देखा। रोने का स्वर जल से आ रहा है।

वह आगे बढ़कर जल के निकट आ गया। उसने देखा—एक टोकरी है जो ढँकी है। उसने उसे खोला। टोकरी में फूल बिछे हैं, उस पर एक नन्हा-सा बालक है जो छोटे-छोटे हाथ-पाँव फेंककर रो रहा है। बालक! बालक!

व्यक्ति विस्मय से देखता रहा। फिर उसने अपने चारों ओर देखा। कोई नहीं है। उसने शिशु को उठा लिया। सरिता में देखा, लहरों पर फूलों की पंखुरियाँ तैर रही थीं! तो यह सुदूर अज्ञात से आ रहा है। उसने शिशु को अपने हृदय से कसकर लगा लिया और भयभीत-सा आस-पास देखता रहा।

'बालक! किसी का नहीं, किसी का नहीं। मेरा है, मेरा है। मैं अब पिता हूँ। मैं पुत्रवान हूँ। और राधो! वह माँ है। वह हर्ष से फूल जायेगी, नाचेगी। यह

मेरा पुत्र है। यह मेरा है। मैं पिता हूँ।'

और वह भोर के चंचल पखेरू की भाँति हँसता हुआ भाग चला। बालक भी जैसे मनुष्य का स्पर्श पाकर मौन हो गया था। आकाश में सूर्य की सोनिल किरणें थीं और सरिता के फूलों पर अनन्त सौन्दर्य। डगर को छोड़कर जब वह ग्राम को देख सका तो अपने में डूब गया। राधो क्या कहेगी!

"कौन है रे? इस भाँति भागता क्यों है?"

उसने देखा, एक अश्वारोही उसके सम्मुख था। वह चकित हो, भय से काँप गया। उसने कहा, "मैं··मैं सामने दिखलाई देते ग्राम का सूत अधीरथ हूँ आर्य।"

"तो इस भाँति भाग क्यों रहा है, यह तेरा शिशु है?"

"आर्य", अधीरथ ने हर्षित स्वर में कहा, "मैंने इसे यमुना के जल में पाया है। किसी माँ ने इसे त्याग दिया है। अब यह मेरा पुत्र है। आर्य, अब मैं पुत्रहीन नहीं हूँ।"

"शिशु! यमुना के जल में?" अश्वारोही के नेत्र आश्चर्य से बड़े हो गये, "एक बार मैं इसे देखूँगा।"

शिशु को अपने हृदय से बाँधे अधीरथ दहल उठा, "नहीं-नहीं, आर्य, यह मेरा है। मैंने इसे कहीं नहीं पाया। मैंने इसे यमुना में नहीं पाया।"

अश्वारोही उतरकर धरती पर आ चुका था। उसने कहा, "मैं केवल देखना चाहता हूँ, इसे लूँगा नहीं।" और उसने शिशु को अपने हाथों में खींच लिया।

वह मुग्ध हो गया। नन्हे-नन्हे हाथ-पाँव वाले जीव की मृग-जैसी भोली आँखों को वह अपलक देखता रहा। शिशु रोया नहीं, अपनी ओर देखने वाले को विस्मित हो देखने लगा। नायक बालक को निहारकर कुछ क्षणों तक विचारमग्न रहा। फिर उसके भीतर बवंडर की भाँति कोई विचार उठने लगा। वह भी इसी समय जन्म लेता। कुन्ती उसे त्याग देगी। वह कैसे रख सकेगी। किन्तु कहीं पुत्री उसे जन्मे तो? इसे देखकर मेरा मन क्यों भरा आ रहा है? इसके स्पर्श से मैं क्यों पुलकित हो उठा हूँ?

"मैं अपना हृदय काटकर इसे बड़ा करूँगा।" अधीरथ ने गद्‌गद् होकर कहा।

नायक बोला, "आवश्यकता होने पर तुम यहाँ से तीन योजन पश्चिम की ओर प्रबन्धन ग्राम के नायक सूर्यदेव को खोजते हुए आना। मैं तुम्हें मिलूँगा।"

बालक को पुनः प्यार कर, उसे निहार, जब नायक ने सूत के हाथों में दिया तो वह चीख-चीखकर रो उठा। नायक क्षण-भर को रुका और कहने लगा, "जा।" अधीरथ शिशु को लिए भागा जा रहा था। सन्ध्या का कुमकुम आकाश के चँदोवे से झर रहा था और अश्वारोही भागते हुए सूत की धुँधली होती छाया को देखता, खड़ा था।

बालक को अपने वस्त्रों में छिपाये अधीरथ ने जब गृह में प्रवेश किया तो वह इस भाँति चल रहा था, जैसे उसकी बाहों में कल्पतरु का कोई फल हो जो उसका है, जो उसकी राधो का है, जिसे दिखाकर वह अपनी प्रिया को चकित कर देगा।

वह पत्नी के सम्मुख खड़ा था। राधो ने पति के हाथों में नन्हा बालक देखकर

पूछा, "किसका है ?"

अधीरथ ने शिशु को निहारा, चूम लिया। फिर हृदय से बाँधकर कहा, "यह मेरा है, यह हमारा है राधे। यमुना में तैरती एक पेटिका में मैंने इसे पाया है। तू इसकी माँ है, मैं इसका पिता हूँ।"

राधा विस्मय से स्तब्ध कभी बालक को, कभी पति को देखती रही। अधीरथ ने शिशु को उसके क्रोड़ में डाल दिया। बालक के स्पर्श से राधा का विस्मय टूटा। उसने देखा, उसके करों में पाटल की पाँखुरी-सा नरम एक नन्हा जीव है। वह देखती रही बालक को, पति को, उस सत्य को जो उसके अंक में था और उसे भान हुआ जैसे वह जी गई हो; युगों से दो प्राणियों के जीवन में जो शून्यता घहर रही थी उसका अन्तर फट गया हो, उसमें से रुदन का स्वर, शिशु का रुदन उसके कानों में गूँजता जा रहा हो। उसकी छाती का दुग्ध-स्रोत जो युगों से किसी की प्रतीक्षा में था, जैसे सहस्रधा फूट जाना चाहता हो।

* * *

कुन्ती और सूर्य आज पुनः यमुना के तट पर हैं। सरिता की धाराएँ मद्धिम गति से बहती जा रही हैं, कूलों से टकराकर जल का सुहाना स्वर करील के उन कुंजों तक दौड़ आता है, जहाँ वे बैठे हैं।

कुन्ती के नेत्र झर रहे हैं। वह सूर्य के कन्धे पर नमित हो कहती है, "सूर्य, मेरा रक्त, मेरा अंश यमुना की लहरें पी गईं। तुम तीन वर्ष बाद आये हो और मुझे लगता है, मैंने अपने पुत्र को कल ही यमुना में तैराया है।"

सूर्य के मुख पर एक स्मिति फैल गई। कुन्ती ने उसे देखा, "तो तुम्हें उसकी हत्या से हर्ष है! तुम इतने हृदयहीन हो?" वह सूर्य के स्पर्श से विलग हो जाती है, "मैं तुमसे घृणा करती हूँ।"

सूर्य हँसा। कुन्ती की आँखों में रक्त भर उठा। उसके पुत्र की मृत्यु से उसके प्रेमी को हर्ष! प्रेमी !!

कुन्ती के मुखमण्डल पर उभरे क्रोध को देख सूर्य कहने लगा, "तेरा अंश सरिता की लहरों में नहीं मिला।"

"क्या ?" कुन्ती का मुख विस्मय से स्वतः खुल गया, "क्या ?"

"वह कर्ण के नाम से जी रहा है, इसी कारण मैं इतना प्रसन्न हूँ।"

कुन्ती ने पागल की भाँति सूर्य को अपनी बाहों में भरकर कहा, "क्या यह सत्य है सूर्य, क्या यह सत्य है ?"

"सत्य, वैसा ही सत्य पृथा, जैसे आकाश का वह दिनमणि।"

तब सूर्य ने पेटिका में रखे शिशु की कथा बताई। कुन्ती सुनती रही। सुनकर उसे प्रतीत हुआ, वह एक नई कुन्ती है, वह माँ है, करील के कुंज झूम रहे हैं, यमुना की ऊर्मियाँ नाच रही हैं और तट के उस पार एक नन्हे से शिशु का स्वर गूँजता है—माँ! माँ !!

किन्तु क्षण-भर बाद उसकी समूची काया काँप गई, "पर सूर्य, क्या मैं देख सकूँगी ? नहीं, अब नहीं हो सकेगा। मैं तो अब सुदूर अनन्त में जा रही हूँ, सुदूर।" सूर्य ने कुछ नहीं कहा।

"हाँ, अब तो मैं हस्तिनापुर के राजकुमार की राज्ञी बनकर जाऊँगी। शीघ्र ही हमारे बीच की सीमा बढ़ जायेगी। पिछली बार जब हम मिले थे तो तुमने उसे अन्तिम मिलन कहा था, किन्तु हम आज फिर मिल सके, पर आज···आज सचमुच अन्तिम मिलन है। मैं हस्तिनापुर के राजा पाण्डु की वाग्दत्ता हूँ।"

सूर्य ने अविस्मित ही कहा, "जानता हूँ। इस पीड़ा को मैं ही अनुभव कर सकता हूँ। अब तो मैं कर्ण में ही तुम्हें देखूँगा। कर्ण को कुन्ती समझ जीवन-भर आपदाओं से बचाने का यत्न करूँगा किन्तु वह कर्ण मेरा पुत्र नहीं, सूत-पुत्र कहा जायेगा और इसी में हमारा कल्याण है। सूत अधीरथ उसे अपने पुत्र से बढ़कर स्नेह देता है।"

कुन्ती अचल खड़ी रही। तो वह एक पुत्र की माँ होकर भी अपने पुत्र को देख नहीं सकती ! उसे अपना नहीं कह सकती ! प्रभु, यह कब का पाप है, जिसके लिये मुझे दण्ड मिल रहा है। मेरा पुत्र जीवित है और मैं उसे अपने अंक में लेकर चूम तक नहीं सकती। यह कैसा न्याय है भगवान्। और मुझे जाना होगा वहाँ, जहाँ मेरा हृदय नहीं जायेगा, मेरी आत्मा नहीं जायेगी।

* * *

अधीरथ की झोंपड़ी के सम्मुख जनरव तीव्रतर हो उठा।

राधा बाहर आ गई। बाहर जन की संकुलता थी, कुछ हर्ष से उन्मत्त थे, कुछ की आँखों में विस्मय था और अनेक एक व्यक्ति के कन्धों पर चढ़े कर्ण की ओर देखकर पुलकित थे।

"राधा का पुत्र महान् वीर है !"
"कर्ण में असीम बल है !"
"वह अपरिजेय योद्धा है !"

भीड़ हर्ष से चीख रही थी :

"···शूर है !"
"···बली है !"
"···योद्धा है !"

राधा ने आश्चर्य से पूछा, "कारण !"

एक व्यक्ति ने कर्ण की ओर असीम प्रसन्नता से देखते हुए कहा, "अभी-अभी कुणीश के महाबली वृषल ने कुन्तल की दसवर्षीय कन्या को अपने सींग से उठा लिया था। यह कर्ण, तेरा यह पुत्र कर्ण उधर से सरोवर की ओर जा रहा था। हम वृषल की सींगों में कन्या को देख भय से काँप रहे थे कि कर्ण विद्युत् की भाँति लहर कर···"

"···कर्ण शूर है !"

"···कर्ण बली है !"

"···विद्युत् की भाँति लहरकर वृषल के निकट दौड़ गया और कन्या को उसकी सींगों से खींच, उन पर अपनी दोनों भुजाओं को रखकर वृषल को पीछे की ओर घुमाने लगा और अश्चर्य, महान् आश्चर्य अधीरथ कि जो वृषल दो बली योद्धाओं से नहीं हटता था, वह अपनी सारी शक्ति और क्रोध लगाकर भी कर्ण से पराजित हुआ। हमने उसे लौह-शृंखला में बाँध दिया है। कर्ण असीम बली है।"

इतना सुनना था कि राधा भीड़ को चीरती हुई उस व्यक्ति के पास पहुँच गई जिसके कन्धों पर कर्ण बैठा था। "पुत्र, मेरे लाल, तू विक्षत तो नहीं हुआ, आ मेरे माणिक।" कर्ण कन्धों से उतरकर धरती पर आ गया और राधा ने चौदह वर्ष के कर्ण को खींचकर इस तरह अपने अंक से लगा लिया, जैसे वह यमुना के तट से लाये गये नन्हे शिशु को लगा रही हो। अधीरथ मुग्ध खड़ा था। जनता पुलकित थी।

राधा भयभीत और व्याकुल स्वर में कह रही थी, "गत वर्ष भी इसने ऐसा ही किया था। हम हस्तिनापुर के घोर वन-प्रदेश से आ रहे थे कि निकट ही सिंह का गर्जन सुनाई पड़ा। हमारे प्राण अधर में डोल गये कि तभी सिंह आँखों के सम्मुख दीखा। इसने अपने धनुष पर बाण चढ़ाकर उसे छोड़ दिया। वह सिंह की दाहिनी आँख में घुसा, सिंह तड़पकर कूदा और हम से लगभग बीस करों की दूरी पर ही था कि इसने, मेरे इस वाचाल पुत्र ने दूसरा बाण छोड़ दिया। बाण सिंह के पेट को फाड़ता हुआ उसमें टिक गया। हाय, यदि वह बाण न लगता, यदि वह तीर विफल हो जाता ! नहीं, भद्र जन, यह किसी दिन अपने प्राणों को संकट में डाल देगा। कर्ण तू ऐसा न किया कर।"

"कर्ण धनुर्धर है !"

"कर्ण योद्धा है !"

"कर्ण महाबली है !"

के स्वर उठ-उठकर वायुमण्डल को चीरते रहे।

* * *

कुन्ती के मुख पर अब दुःख और गम्भीरता की रेखाएँ स्पष्ट होती गई हैं। वैवाहिक जीवन का सुख अधिक दिनों तक नहीं टिका। मन में नैराश्य की भावना प्रबल होकर जब अतीत के पाट खोल देती है तो लगता है, समय कितनी द्रुत गति से भाग गया है। यमुना के कूल, वे मद्धिम-मद्धिम बहती लहरें, करील के कुंज। अब वे सब कहाँ हैं ? वे प्रीत-भरे हाथ, वह छुवन। गर्भ ! गर्भ ! और अपने रक्त के टुकड़े को यमुना में तैरा देना। ओह, कितना निर्मम सत्य था ! कहाँ होगा कर्ण, मेरा पुत्र, मेरे रक्त से सिरजा मेरा लाल !

समय का वेग आत्मा को किस भाँति झकझोर देता है, झकझोरकर भाग खड़ा होता है···

"माँ !"

"कौन है ?"

"हम सब हैं माँ।"

कुन्ती ने देखा उसके पाँचों पुत्र खड़े हैं। उसकी अतीत-शृंखला टूट गई। उसने कहा, "आओ, आज तो तुम सब बड़े प्रसन्न हो ! कोई विशेष कारण ?"

गठे हुए शरीर का भीम बोला, "माँ, आज गुरुदेव ने अर्जुन के अति पराक्रमी शत्रु के दाएँ हाथ का अँगूठा माँगकर उसे सदा के लिए शक्तिहीन कर दिया।"

'अँगूठा ? किसका, क्यों ?'

अर्जुन के हर्ष का आवेग इस प्रश्न से असंयत हो उठा, "एक शूद्र-पुत्र था—अम्ब। उसकी शक्ति के नाश से अब मेरी तुलना में कोई नही खड़ा हो सकेगा।" अर्जुन के मुख पर विशेष चमक थी। आज उसके समानान्तर दौड़नेवाली शक्ति को गुरु द्रोण ने पंगु कर दिया था।

आर्या कुन्ती ने कहा, "तुम्हें मेरा आशीर्वाद है कि तुम अपनी शक्ति और चतुरता से वर्ण-धर्म की रक्षा करो।" फिर माँ ने अपने पुत्रों के मस्तक को स्नेह से सहलाया।

युधिष्ठिर ने कहा, "अगले पक्ष मे हमारी रण-विद्या की परीक्षा होगी, हम गुरु-दक्षिणा देंगे। माँ, उसके लिए आपकी कल्याण-कामना हमारे लिए शुभ और प्रेरणामय होगी। सारा हस्तिनापुर उस दिन हमारी रण-विद्या का प्रदर्शन देखेगा।"

कुन्ती का स्वर और ममतामय हो उठा, "मेरी शुभकामना ? क्या वह तुम सबके कहने से होगी ? वह तो सदा तुम्हारे ही लिए है युधिष्ठिर !"

* * *

नगर के अधिकांश नागरिक राजमहल के सम्मुख बने विशाल रंग-मण्डप में एकत्रित हो गये हैं। राजप्रासाद के कंगूरे तोरणों से सजे है। रंग-मण्डप के चारों ओर और भीतर आम्र और अशोक-पल्लव सूतों में टँगे हुए है। एक ओर यज्ञ में समिधा डालकर विप्र-गण इस पर्व के महत्त्व और पवित्रता के प्रदर्शन के लिए मंत्रों का उच्चारण कर रहे हैं। कुमारों की रण-कुशलता और विद्या का दर्शन करने के लिए जन-संकुल समाज उत्सुकता से पर्व के आरम्भ होने की प्रतीक्षा में है। शूद्र और अस्पृश्यों को इस पर्व में भाग लेने की आज्ञा नही, केवल सेवा मे खड़े दास कार्य-रत होने के मिस उसे देख सकते हैं। प्रतीक्षा-स्थल के एक ओर सिंहासन पर नेत्रहीन सम्राट् धृतराष्ट्र बैठे हैं और उनके दोनों पार्श्वों मे विदुर और कणिक विराजमान है; सम्राट् से दस करों की दूरी पर कुमार अपने वस्त्रों में सुसज्जित आसीन है। उनके सम्मुख गुरु द्रोण का आसन लगा है। अग्नि में समिधा पड़ने से जो सुगन्धियाँ उठती हैं, उनसे सारा वातावरण शुचि हो उठा है।

एकाएक शंखध्वनि हुई। विप्रों का मंत्रोच्चार कुछ क्षणों के बाद रुका और पूर्ण शान्ति फैल गई। तब राजन्यवर्ग को सम्बोधित करते हुए गुरु द्रोण ने कहा, "भद्र-

जन, मेरे शिष्यों ने जिस एकाग्रता और परिश्रम से रण-विद्या में शिक्षा प्राप्त की है उससे मुझे विश्वास है कि वे अपनी दक्षता के द्वारा संसार के महापराक्रमी योद्धा होंगे। भविष्य में ये कुमार अपनी शक्ति और विद्या से वर्णाश्रम धर्म की रक्षा करें, मेरी उनसे यही आशा है।"

आचार्य के आशीर्वचन के पश्चात् सर्वप्रथम कुमार युधिष्ठिर ने प्रवेश किया। उसने एक तीर से एक विशाल शिलाखण्ड को मध्य से तोड़कर उसमें से अग्नि की शिखाएँ उठा दीं। जन 'साधु-साधु' कहने लगे। फिर उसने कदली के दो दिशाओं में खड़े पौधों को ऐसे कौशल से बेधा कि एक ही तीर से दोनों बिध गये।

फिर दुर्योधन और भीम दो सिंह-शावकों की भाँति परीक्षा-स्थल में उतरे। उनकी गदाओं की टक्कर से जो गर्जना हुई उससे जनसमूह काँप उठा। परीक्षा की भावना को भुलाकर जब वे दोनों आग्नेय नेत्र किये एक-दूसरे पर प्रहार करने लगे तो गुरु द्रोण ने उन्हें सचेत किया। शक्ति का ऐसा प्रदर्शन हस्तिनापुर में कम ही देखा गया था। उसके पश्चात् जब वे मल्लयुद्ध में तत्पर हुए तो उनकी मांसपेशियों की गठन, उनके दाँव और उनके शक्ति-प्रदर्शन को देख जन अपलक खड़े रहे। कणिक ने सम्राट् धृतराष्ट्र से कहा, "राजन्, दुर्योधन महान् बली है। वह कुरु वंश की कीर्ति है।"

नेत्रहीन सम्राट् के अधरों पर स्मिति फैल गई।

गुरु द्रोण ने दोनों शिष्यों को विलग होने का आदेश दिया। उनके पश्चात् अपने धनुष और तरकस सहित गौर वर्ण अर्जुन जब उपस्थित हुआ तो उसके आकर्षक व्यक्तित्व को देखकर जन का उत्साह द्विगुणित हो गया। अर्जुन ने एक बाण गुरु के चरणों के निकट फेंककर उन्हें प्रणाम किया। गुरु शिष्य की इस स्तुति से गद्‌गद् हो गये, उन्होंने बाहु उठा आशीर्वाद दिया। इसके पश्चात् अर्जुन ने एक बाण आकाश की ओर देखकर छोड़ दिया। उपस्थित जन जब तक ऊपर की ओर देखें, वह बाण अर्जुन के सम्मुख लौटकर पृथ्वी में गड़ गया। फिर उस तीर पर एक-एक कर पाँच तीर अर्जुन ने खड़े किये। तीरों के उस स्तम्भ के नीचे अर्जुन ने एक दूसरे तीर से अग्नि की लपटें उठा दीं और जब अग्नि की लपटें बढ़ने लगीं तो उस अग्नि के निकट गोलाकार में धरती के भीतर से जल की बहती धाराएँ। बाहर जल की धाराएँ; अन्दर अग्नि की शिखाएँ। जल में अग्नि, अग्नि में जल। जनता इन्द्रजाल में फँसे प्राणी की भाँति विमुग्ध खड़ी थी।

पश्चात्, द्रोण के प्रिय शिष्य ने सौ करों की दूरी पर अशोक पल्लव में लटकती हुई सुई की नोक को जब बड़ी सरलता से बेध दिया तो जनता हर्षोन्मत्त हो उठी।

द्रोण ने अपने शिष्य की विद्या से मुग्ध होकर कहा, "अर्जुन संसार का सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर होगा। उसमें महान् योद्धा होने के बीज हैं।" गुरु की इस वाणी से जन, राजन्य वर्ग और अन्य सभी का आह्लाद दुगुना हो गया। अर्जुन इस स्तुति और सराहना से नमित हो गुरु के चरणों में झुक गया। उसके शील और सौजन्य से उपस्थित जनसमूह और भी उन्मत्त हो साधुवाद की बरखा करने लगा। गुरु ने अपने

शिष्य को उठाकर जन को सम्बोधित कर कहा, "धनुप का ऐसा कौशल आर्यावर्त्त में दुर्लभ है।"

जनता विक्षिप्त की भाँति हर्षध्वनि कर उठी। पश्चिम की ओर इस ध्वनि में विस्मय भी मिला हुआ था क्योंकि एक युवक जन-लहरों को चीरता हुआ आगे बढ़ा आ रहा था। जब वह रक्षकों की पंक्ति तक पहुँच गया तो असंख्य आँखें उसकी ओर उठ गईं। युवक के गठे गौर वर्ण, उसके घुँघराले केश और उसके धनुप-बाण से कसे शरीर से एक मोहक तेज बरस रहा था। जहाँ गुरु द्रोण अपने प्रिय शिष्य अर्जुन की शूरता पर उसे साधुवाद दे रहे थे, उससे बीस करों की दूरी पर वह खड़ा हो गया। उसने विनम्रता से गुरु को सम्बोधित कर कहा, "आचार्य, कुमार की विद्या की सराहना करते हुए भी मैं इतना और कहूँगा कि समस्त आर्यावर्त्त तो अशेष, मैं स्वयं उसका प्रदर्शन कर सकता हूँ।"

द्रोण ने चकित हो उधर देखा। युवक ने पुनः कहा, "अर्जुन ने यदि दो बाणों से जल और अग्नि उत्पन्न की है, तो मैं एक से ही दोनों कर सकता हूँ।"

अर्जुन स्तब्ध-सा स्थिर रहा। उसके मस्तिष्क में कोई विचार विद्युत् की भाँति कौंधा और वह काँप गया। निकट के जन युवक-वाणी सुनकर विक्षुब्धता और उत्सुकता से मौन हो गये। द्रोण ने इस बार गम्भीरता से प्रश्न किया, "तुम्हारा परिचय? तुम्हे इस साहस की असफलता का दण्ड ज्ञात है?"

"आचार्य!" युवक ने उसी दृढ़ता से कहा, "मैं लगभग आठ कोस की दूरी पर बसे कंचनपुर में रहनेवाले सारथी अधीरथ का पुत्र कर्ण हूँ। असफल होने पर उचित दण्ड भोगने के लिये नतशीश हूँ।"

जिस दृढ़ता, जिस गर्व से कर्ण ने ये शब्द कहे थे, उससे गुरु द्रोण भीतर-ही-भीतर भयभीत हुए किन्तु तुरन्त कुछ सोचकर उन्होंने अपनी दुर्बलता पर विजय प्राप्त कर ली।

पर तब तक यह समाचार दावाग्नि की भाँति जनसमूह के एक छोर से दूसरे छोर तक लहर गया था—"अर्जुन का प्रतिद्वन्द्वी नया युवक! कर्ण! कर्ण!"—यह शब्द राजन्य वर्ग में, कुमारों में, जन-जन में गूँजता हुआ दास-दासियों के मण्डल को भी छू गया और तब तो राजप्रासाद के कंगूरे उस शब्द को लेकर हुंकारने लगे।

दासी कुलिशा राज्ञी कुन्ती के प्रकोष्ठ की ओर दौड़कर यह ललकार सुनाने भागी। उनके निकट पहुँच जब वह हाँफने लगी तो कुन्ती ने कहा, "इस भाँति भागी क्यों आ रही है?"

"आर्ये, महिषी, कुमार अर्जुन के रण-कौशल को एक युवक ने भरे उत्सव में ललकारा है।"

"क्या? क्या कहती है तू?"

कुलिशा ने अपने रक्त के वेग को रोककर कहा, "आर्ये, वह दूर के किसी ग्राम में रहनेवाले सारथी अधीरथ का बेटा कर्ण है।"

कुन्ती ने सुना और खड़ी कुन्ती दासी पर इस भाँति लटक गई, मानो कँवल का डंठल टूटकर लटक गया हो।

'कर्ण ? अर्जुन को ललकारता है ? क्या यह सत्य है ? क्या यह वही कर्ण है जिसे मेरे रक्त ने सिरजा था ? यदि यह सत्य है, यदि यह स्वप्न नहीं है तो, हे भगवान्, यह कितना भयंकर है। एक ही कोख के पुत्रों में सन्धि कैसे होगी, कैसे होगी ?'

कुन्ती ने अपने को संयत किया। वह दासी से बोली—"तू जा, मैं एकान्त चाहती हूँ।" दासी चली गई।

कुन्ती के हृदय में, पोर-पोर में अनगिन सुइयाँ चुभ रही थीं। तो कर्ण जीवित है ! उसका पुत्र शूर है। वह अर्जुन से भी वीर है। किन्तु वह उसे अपना बेटा नहीं कह सकती, वह उसे हृदय से लगाकर अपने विछोह की, अपनी विवशता की कथा नहीं कह सकती। वह और उसका पुत्र दो फूलों की भाँति विलग हैं।

कुन्ती के नैन भरते गये। फिर कितने दिनों के रुके मेघ झरझर-झरझर बरसने लगे। आज वह राज्ञी नहीं, पाण्डवों की माँ नहीं, पाण्डु की विधवा नहीं, कुँआरी कुन्ती थी जिसने अपने सद्यः जन्मे शिशु को यमुना की लहरों में तैरा दिया था।

राजमहल में कुन्ती व्याकुल थी और बाहर के रंग-मण्डप में अर्जुन अट्टहास कर कह रहा था, "सूत-पुत्र ? ओह, सूत का पुत्र धनुर्धर है ! हा, हा, हा !"

"मैं केवल एक अवसर चाहता हूँ, कुमार।" सूत का बेटा कह रहा था।

गुरु भयभीत थे। अभी कुछ दिनों पूर्व कितने कौशल से उन्होंने एकलव्य की विद्या का विनाश कर अर्जुन की शक्ति को अक्षुण्ण रखने का यत्न किया था। यह दूसरा प्रतिद्वन्द्वी कहाँ से आ गया ?

द्रोण को इस संकट से कृपाचार्य ने उबार लिया। वह सूत-पुत्र की धृष्टता पर गरजते हुए बोले, "अकुलीन, राजवंश के कुमारों को कोई कुमार ही ललकार सकता है। तू उस स्थिति के सर्वथा अयुक्त है।"

"आचार्य ! गुरुदेव !" अकुलीन ने याचना की, "मैं केवल एक अवसर चाहता हूँ।"

किन्तु द्रोण ने खोई हुई शक्ति पा ली थी, "चुप रह, शठ ! अर्जुन की विद्या का प्रतिद्वन्द्वी होना तेरे लिए असम्भव है।"

जनता इन्द्रजाल मे फँसे जीव की भाँति चकित थी। कर्ण के तेजस्वी शरीर को देखकर अर्जुन दहल रहा था। एकलव्य के बाद यह दूसरा कौन आ गया ? यह कर्ण नहीं, एकलव्य है, दूसरा एकलव्य है।

कर्ण ने पुनः याचना की, "एक अवसर चाहता हूँ कुमार !"

* * *

यह सत्य है कि अब मेरे मस्तक पर अङ्ग देश का मुकुट है। यह मुकुट कुलीनता का प्रतीक है। किन्तु कौन है मुझे कुलीन पद देनेवाला ? सुयोधन ही तो। वह न होता तो राजवंशी मुझे देखकर घृणा से मुँह घुमा लेते। घृणा, वे अब भी करते हैं

किन्तु अब मैं उनकी जुगुप्सा का उत्तर दे सकता हूँ।

भीम कहता है, सुयोधन ने निज स्वार्थ के लिए मुझे हेतु बनाया है। कौरव और पाण्डव मित्र नहीं हैं। उनके रक्त सम्बन्ध ने उन्हें मिलकर रहने के बदले विलग कर दिया है। यह सच है। राज्य लक्ष्मी के लिए ही यह सब-कुछ है, किन्तु इसमें मैं निष्पक्ष कैसे रह सकता हूँ! जब रङ्ग-मण्डप के बीच अर्जुन और आचार्यों ने मेरी कुलीनता को ललकारा था, जब मैं एक अवसर की भीख माँग रहा था, जब समस्त पाण्डव और द्विजाचार्य मेरे विरुद्ध खड़े थे तो बढ़कर सुयोधन ने ही मेरे मस्तक पर अंग देश का मुकुट रखा था। मेरी कुलीनता सुयोधन की दी हुई है, मैं इस कुलीनता की रक्षा करूँगा और मेरे इस पद से सुयोधन भी जुड़ा हुआ है, मैं जीवन-मरण में उस सुयोधन का संगी हूँ।

* * *

जीवन का व्यंग्य धारदार अनी की भाँति कुन्ती को छेद रहा है। इससे बच कर वह कहाँ जाये? कहाँ जाने से वे कछार, वह घुटन, वह गर्भ, दो पुत्रों की परस्पर ललकार उसका हृदय नहीं बेधेगी? सत्य का यह नागफाँस उसकी देह को ही नहीं, उसकी आत्मा को घोंट देगा।

कृष्ण ने जो कहा, वह मिलन का नहीं, कर्ण और अर्जुन के अलगाव का मार्ग है। कर्ण मेरा पहला पुत्र है। मेरी देह में जो-कुछ पावन था, मनोरम था, सत्य था, वह कर्ण है। मैं अपने जीवन के सबसे महान् सत्य को कैसे काट दूँ? क्या पहली प्रीति के उस कल्पतरु का हनन कर दूँ? क्या ऐसा कर दूँ?

नहीं, नहीं, नहीं!

* * *

यमुना की धारा ने क्या नहीं देखा। देखते-देखते यह धारा इतिहास की सबसे बड़ी साक्षी बन गई है। वह कहती है, अब भी कहती है, लहर-लहर से कहती है कि···

उस दिन कर्ण खड़ा था—सान्ध्य वेला में डूबते अंशुमान की अर्चना के लिए। अंजलि में मेरा जल था। तभी एक वृद्धा आई।

सूर्य की उपासना कर कर्ण पीछे घूमा तो वृद्धा ने आशीर्वाद दिया।

"कौन हो माँ?"

"माँ कहकर भी मेरा परिचय पूछता है?"

"मेरे निकट सभी वृद्धाएँ माँ के समान हैं।"

वृद्धा ने वत्सलता से बढ़कर कर्ण को भेंट लिया और विह्वल हो कह उठी, "मैं कुन्ती हूँ, मैं पृथा हूँ, मैं तेरी माँ हूँ।"

कर्ण विस्मित नहीं हुआ, बोला, "जानता हूँ, कृष्ण ने बताया था किन्तु मैं अकुलीन तुम्हारे लिये क्या कर सकता हूँ?"

"ऐसा न कह पुत्र, तू मेरी कोख से जन्मा है।"

"फिर", कर्ण ने विद्रूप से कहा, "फिर क्या हुआ, माँ! जन्म के पश्चात् तुमने

निज के इस पुत्र का क्या किया !"

"व्यंग्य मत कर, कौन्तेय !"

कर्ण बीच में ही बोला, "कौन्तेय नहीं माँ, राधेय कहो। जिसके निश्छल वात्सल्य का मेरा रोम-रोम ऋणी है; जहाँ छल नहीं था, जहाँ स्वार्थ नहीं था, मैं उसी माँ का बेटा हूँ।"

"मैं तो तुझे कौन्तेय ही कहूँगी।"

कर्ण हँसा, "इस एकान्त में चाहे जो कह लो, जहाँ कोई सुनता नहीं, किन्तु और कहीं भी यह सम्बोधन नहीं कर सकोगी माँ। यदि करने का साहस होता तो मैं उन सारी लांच्छनाओं से उबर जाता जो मैंने सदा सहन की हैं। मैं राधेय हूँ, और रहूँगा।" फिर दो क्षण कोई कुछ नहीं बोला। भयानक शान्ति फैली रही। कर्ण ने ही मौन तोड़ा, "आने का प्रयोजन तो बताया नहीं !"

कुन्ती मौन रही। उसके नेत्र झर रहे थे। उन नेत्रों के सम्मुख शृंखला की भाँति स्मृतियों की वे कड़ियाँ झनझना उठी थीं, जो उसके कौमार्य से ही उसको सालती रही हैं। कर्ण ने फिर कहा, "प्रयोजन कहो, माँ। यमुना साक्षी है, जो कहोगी वह करूँगा।"

* * *

···मैं साक्षी हूँ, हाँ मैं साक्षी हूँ, कुन्ती ने पाण्डवों का जीवन-दान माँगा था ! और कर्ण ने मेरी धारा का जल अंजलि में भर कहा था, "यमुना, तू साक्षी है, अस्ताचल-गामी सूर्य, तुम साक्षी हो, मैं पाण्डवों की माँ कुन्ती से यह प्रतिज्ञा करता हूँ कि यदि आर्यावर्त्त पर युद्ध के मेघ गरजे और मैं पाण्डवों के विरुद्ध लड़ा तो एक-एक बार हनन की स्थिति में पाकर भी पाँचों पाण्डवों को अभय-दान दूँगा।"

मुझे याद है—वह सन्ध्या, गगन की गोद में दौड़ते मेघ। उन मेघों की भिन्नरूपा कृतियाँ भी याद हैं—एक अँगूठा, मात्र अँगूठा, फिर कुछ नहीं, मेघ बह गये; फिर एक टोकरी, उसमें एक शिशु, फिर रंग-मण्डप के दो वीर और वह दृश्य, जहाँ कर्ण अंजलि-भर जल लेकर मुझे और मेरे पिता को सम्बोधित कर कुन्ती से प्रतिज्ञा कर रहा था, वह तो कभी नहीं बिसरेगा, कभी नहीं। हाँ मैं साक्षी हूँ, मैं यमुना साक्षी हूँ।

२

भूमि की लहर

अरुण

●

श्री अरुण का जन्म सन् १९२८ में मेरठ में हुआ था। आप आगरा विश्वविद्यालय के एम० ए० हैं। विद्यार्थी-काल से ही लिखने की ओर रुचि रही है। अब तक आपकी दो दर्जन से भी अधिक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। कई प्रकाशन के पथ पर हैं। आपकी 'सचित्र गृह-विनोद' पुस्तक उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत भी हो चुकी है।

साहित्य-सृजन आपकी पैतृक सम्पत्ति है। आपके पिता श्री मदनमोहनजी ने भी 'निष्काम' उपनाम से इस दिशा में काफी यशोपार्जन किया है। हिन्दी के सभी प्रतिष्ठित पत्रों में आपकी रचनाएँ प्रकाशित होती रहती हैं।

आप क्रिकेट के अच्छे खिलाड़ी हैं और उत्तर-प्रदेश के सर्व-प्रमुख कैप्ट-स्पोर्टस्-क्लब के कप्तान हैं।

रचनाएँ

'भोर की किरणें', 'अमृत और विष', 'मृत्यु में जीवन', 'नुक्कड़ की बत्ती और रास्ते', 'रेलगाड़ी के डिब्बे', 'हास परिहास', 'सचित्र गृह-विनोद', 'सचित्र व्यंग्य-विनोद', आदि।

"रानी, कहानी सुनोगी ?" आजानुबाहु पुरुप-सिंह ने पूछा।

"कुमार कहानी गढ़ने में सिद्धहस्त हैं।" लतिका ने आङ्गिगन से छिटककर विजयकुमार की छटा निरखते हुए कहा।

कुमार विजय खिल-खिलाकर हँस पड़े।

"यहाँ से सहस्र योजन दूर एक देश है—बंग। उसकी दक्षिणी सीमा पर, सागर-तट के ताम्रलिप्ति के वनों में एक साहसी पुरुष रहता था। उसका शरीर व्याघ्र की भाँति लचकदार और फुर्तीला था। उसमें गैंडे की निर्भीकता थी और हाथी का बल। फिर भी देखने में वह कमनीय लगता था मानो अर्जुन का अवतार हो···"

"क्या कुमार विजय अपना वर्णन कर रहे हैं ?" लतिका की सीपियाँ बिखर गईं।

"नहीं पगली, वह मेरे दादा थे—दर्पिल। जनता उन्हें दस्यु कहती थी, लेकिन कुछ थे जिनके वह ऊर्जस्वित कठोर कायावाले उपास्य देव थे। उनमें थी बंग-नरेश की कन्या। वह पूर्ण यौवन-भरे दीप की वर्तिका सम थी। वह थी उषा की प्रथम किरण। उसके काजल-केश दर्पिल के बाहुओं से भी अधिक लम्बे थे। उसके नेत्र आत्मा के श्वेत पट पर दो काले चन्द्र थे, गाल बंग-सागर। कटि मुष्टिमेय। विवाह के दिन दर्पिल ने प्रासाद पर आक्रमण किया और बंगमणि को उठाकर ले गया। आक्रमक और उसका विजेता दोनों मातृभूमि छोड़कर पश्चिम की ओर चल दिये।"

विजय की पुतलियाँ शान्त जल पर स्थिर पोत के समान सुदूर भूत में झाँक रही थीं।

"बस ?" विजय के कुछ देर चुप रहने पर लतिका ने पूछा।

जल में चंचलता फैली। "बस !"

लतिका मचल गई। "यह भी कोई कहानी बनी !"

कुमार विजय मुसकराये, "लतिका, जीवन क्या है ?"

लतिका ने मृणाल-बाहें कुमार के गले में डाल दीं, "कुछ भी हो, जीवन तुम्हारी कहानी नहीं है।"

"कहानी हो भी नहीं सकता।"

"क्यों ?"

"कहानी में एक तारतम्य होता है और जीवन···विशृङ्खल घटनायें हैं। आरम्भ से लेकर अन्त तक अद्भुत मिश्रण जिसमें कोई-कोई अपना लक्ष्य समझ पाता है।"

"आज साहसी विजय भावुक बन गये हैं।"

"कौन जानता था कि पितामह की आत्मा पौत्र में झलकेगी।" विजय ने पिछली बात अधूरी छोड़कर कहना आरम्भ रखा—"उसकी वीरता की कथायें एक नवयुवक को उसके पिता से दण्डित करायेंगी। लतिका, मैं दर्पिल का वंशज हूँ। सामने लहराते सागर के समान मेरे मन में भी एक सागर है जो मुझे वाताहत किये है। मैं इस ओर नहीं रुकना चाहता, उस पार जाना चाहता हूँ--नई ओर···"

द्वार पर हस्त-प्रहार सुनाई देता है। "कुमार को देव स्मरण कर रहे हैं।"

कुमार मुसकराते हुए उठ खड़े हुए, "जीवन के अर्थ तो मनुष्य क्या उसके चरित्र-लेखक भी ढूँढ़ते रहते हैं किन्तु हर कहानी अर्थ लिये होती है। उस कहानी का अर्थ कल बताऊँगा।"

कल सुनते ही लतिका विवर्ण हो उठी। "कुमार, कल नहीं।"

कुमार ने प्रेम से लतिका के गाल पर चिकुटी भरी। "क्यों, कल तो मैं अवश्य आऊँगा।"

चिकुटी से भी लतिका की लालिमा नहीं लौटी। वह सिहरकर बोली, "नहीं, कल मत आना, कुमार। मैं एक बात कहना चाहती थी। तुम्हारे साथी···"

लतिका की दुविधा देखकर कुमार खिल-खिलाकर हँस पड़े। "जो बात आज तुम्हें कहने से रह गई है उसे भी कल ही सुनूँगा।"

लतिका डबडबाई आँखों से कुमार विजय को सिंह की मत्त चाल से प्रकोष्ठ से बाहर निकलते देखती रही।

* * *

पत्तनाध्यक्ष सिंहविक्रम चिन्ता में मग्न अपने प्रकोष्ठ में चक्कर लगा रहे थे। कुमार विजय को आते देखकर उनके माथे पर रेखायें और तीव्र हो उठीं।

"आओ कुमार, बैठो।" कुमार को स्थान दे वह स्वयं भी बैठ गये।

कुछ क्षण वातावरण में शान्ति रही। फिर पत्तनाध्यक्ष के मुख से लावा फूट निकला, "कुमार, तुम्हें ध्यान है तुम हमारे शरणागत हो। जब वरुणदेव ने तुम्हारा एक पोत अपने उदर में ले लिया था और दूसरा पोत भी तरंग-जर्जरित था, तब हमने तुम्हें अपने पत्तन में आश्रय दिया था। तुम्हारे साथियों को वस्त्र दिये, भोजन दिया, वासस्थल दिया।"

कुमार की एक क्षण भृकुटी चढ़ गई। पर फिर अपनी पूर्व दशा में आ वह मुसकराकर बोले, "यह आपका कर्तव्य था, देव!"

"मेरा कर्तव्य था!" सिंहविक्रम गरजे।

"जो मनुष्य का कर्तव्य है उसे आपने पूरा किया।" कुमार की पूर्व मुद्रा थी।

"अच्छा मान लिया, परन्तु इस सबके बदले तुम्हारा भी तो कुछ कर्तव्य था!"

"उसे आपको याद दिलाना नहीं पड़ेगा।"

"याद दिलाना मुझे भी अप्रिय है, कुमार।" पत्तनाध्यक्ष थके स्वर में बोले—"पर सहन की भी एक सीमा होती है। तुमने सूर्पारक को उसके स्वागत का कैसा

बदला दिया है ? तुम्हारे सैनिक आपानकों में झगड़ा करते हैं, राजमार्ग पर कलह करते हैं, स्त्रियों का अपमान करते हैं, नागरिकों को सताते हैं···"

"मैं जानता हूँ श्रीमान्।"

"तुम जानते हो फिर भी कुछ नहीं करते। इसका मतलब है तुम भी उनसे मिले हुए हो। सब कुछ तुम्हारी आज्ञा से हो रहा है।" सिंहविक्रम आवेश में आसन छोड़कर खड़े हो गये—"हा ! मैं कितना हतभागा हूँ, लाट का राजकुमार जानकर मैंने तुम्हें अपने प्रासाद में भी घुसने दिया।"

कुमार विजय के नेत्रों के डोरे लाल हो गये। "सावधान देव ! शासन करना प्रासाद में बैठे रहने से नहीं आता, मनुष्यों के सम्पर्क से आता है। आप···"

"क्या कहा ?" पत्तनाध्यक्ष गरज उठे।

"मैं ठीक कह रहा हूँ। मैं अपने साथियों के साथ छः मास तक सागर में एक साथ रहा हूँ। जितना मैं उन्हें जानता हूँ उतना कोई नहीं जानता। जो आपत्तियाँ आपने उठाई हैं वे सब सत्य हैं और प्रत्येक मेरे सामने अग्नि-पुंज बनकर खड़ी है। परन्तु मेरे सैनिक मेरे साथी हैं। उन्होंने सुख-दुःख में मेरा साथ दिया है। अब मेरा भी कर्तव्य है कि उनके दुःख में उनका साथ दूँ।"

"उन्हें दुःख है।"

"हाँ, मेरे अदम्य उत्साह पर उन्होंने अपना सब-कुछ न्यौछावर कर दिया। मेरी आज्ञा से अपनी नारियों के साथ पोतों पर भर वे सागर का वक्ष चीर चले। परन्तु वरुणदेव मेरे प्रतिकूल थे। उन्होंने नारियों वाला पोत डुबा दिया और हमें भी मृत्यु का साक्षात्कार करा दिया। उनकी रमणियाँ उनसे छूटीं, उनकी मातृभूमि उनसे छूटी, अब वे सब भूखे और पिपासु हैं।"

"यही तो मैं कह रहा हूँ। जिनके आगे-पीछे कोई नहीं होता वे दस्यु के सिवा क्या हैं ?"

"आप मेरा अपमान कर रहे हैं।"

"तुमने पूरे सूर्पारक का अपमान किया है। क्या सूर्पारक अपने अपमान का बदला नहीं ले सकता। मैं कह रहा हूँ अपने साथियों को रोको, नहीं तो वरुण जानते हैं क्या हो जाय।"

"उन्हें रोका नहीं जा सकता। सब व्यर्थ होगा।"

"तुम बड़े उद्धत हो, कुमार। मुझे यात्रियों से सब पता लग चुका है। इसी अविनय के पीछे तुम्हारे पिता ने तुम्हें देश-निकाला दिया है।"

"मैंने यह आपसे कब छिपाया है ?"

"देखो, यह मेरी अन्तिम चेतावनी है। अब भी मान जाओ।"

"मैं विवश हूँ।"

"तो सूर्पारक भी विवश है। उसे खेद है कि वह आतिथ्य-धर्म का पालन नहीं कर सकता।" सिंहविक्रम ने ताली बजाई। अलिन्द के द्वार खोलकर एक व्यक्ति

अन्दर आया। वह सूर्पारक का सेनापति था।

"विशालाक्ष, कुमार को बन्दी बना लो।"

विशालाक्ष को अपनी ओर बढ़ते देखकर कुमार विजय खिल-खिलाकर हँस पड़े। "आप गलती कर रहे हैं, पत्तनाध्यक्ष। क्यों आप मनुष्यों के प्राणों के प्यासे हो उठे हैं?"

विशालाक्ष ठिठककर खड़े रह गये। पत्तनाध्यक्ष के मुख से भी निकला, "क्यों?"

"मुझे बन्दी जानकर मेरे साथी एक झंझावात फैला देंगे। उनका मरण तो निश्चित है पर अपने साथ वे कितने सूर्पारक के नौनिहालों को ले जायँ, यह नहीं कहा जा सकता। अच्छा, तो मैं जा रहा हूँ।" कुमार मुड़े और प्रकोष्ठ के बाहर निकल गये।

"देव, युवक बड़ा उपद्रवी है।" कुमार के जाने के बाद सेनापति का मुख खुला—"हमें कुछ अवश्य करना चाहिये। सूर्पारक की जनता महासागर की भाँति विक्षुब्ध हो उठी है। यदि हमने शीघ्र इनका उपचार नहीं किया तो वह दण्ड-विधि अपने हाथों में ले लेगी।"

"तुम ठीक कह रहे हो, सेनापति। मेरा विचार तो उसे इसी समय बन्दी बनाने का था, परन्तु उसने भी ठीक कहा। जल्दी के कारण हम विभ्रम में गलत पग उठा रहे थे। होना तो यह चाहिये कि साँप मरे और लाठी भी न टूटे।"

अन्धेरा छाता जा रहा था किन्तु सूर्पारक की राजनीति के सूत्रधार मन्त्रणा में निमग्न थे।

* * *

लतिका की दासी कुमार के आवास से लौटकर आई। लतिका ने विचलित वक्ष से पूछा—"कुमार ने क्या कहा?"

"कुमार नहीं मिले, देवि! उनका आवास खाली पड़ा था।"

"अच्छा, तू जा।"

दासी के जाने पर लतिका फिर गवाक्ष की ओर मुड़ी। पत्तनाध्यक्ष का प्रासाद सागर के किनारे खड़ी एक छोटी पहाड़ी पर बना हुआ था। सूर्पारक प्राचीन भारत का प्रसिद्ध पत्तन था। बम्बई से कुछ मील दूर सोपारा गाँव आज इसका अवशेष मात्र है। लतिका का प्रकोष्ठ प्रासाद के पीछे की ओर था। उसके नीचे आठ फीट सीधा पहाड़ी ढलान था और फिर एक पगडण्डी थी।

गवाक्ष से दूर सागर में होते सूर्यास्त को देखती हुई लतिका व्याकुल हो रही थी। वह सोच रही थी—आज मेरा सूर्य भी डूबनेवाला है। उसने सुन लिया था कि पिताजी ने कुमार और उनके साथियों को मार डालने की योजना बनाई है। वह यह भी जानती थी कि कुमार बड़े हठी और उग्र हैं। जब कल कह गये हैं तब आज अवश्य आयेंगे चाहे उन्हें पता हो।

वह गवाक्ष से सागर को निहार रही थी। इसी सागर ने उसे वरदान दिया था। वह प्रतिदिन सुनती थी। सागर लहरा कर कहता था—'विजय मेरा वरद पुत्र है। वह मनस्वी है यशस्वी होगा। तू उसे सँभालकर रखना।'

किसी ने पीछे से लतिका के नयन मूँद लिये। लतिका ने प्रेमातिरेक में उन कठोर अँगुलियों को आँखों पर से हटाकर अपने उछलते स्तन-युगल को कस लिया। अपने नेत्र ऊपर उठा कुमार के नेत्रों में डालकर वह बोली, "कुमार, तुम नहीं माने!"

कुमार विजय मुसकराये, "यह धनुष खींचकर हमारी ओर न देखो, लता।"

लतिका ने पुलककर नेत्र नीचे कर लिये। कुछ क्षण पहले के सूर्यास्त की लालिमा उसकी पूर्ण देह में चमक उठी। लेकिन चिन्ता का घेरा तो अग्नि-चक्र से भी अधिक दुःखदायी होता है। आकुल नेत्र फिर ऊपर उठे। "कुमार, तुम्हें मेरी बात सुननी पड़ेगी।"

"मैंने कहा था कि कल सुनूँगा, सो आज सुनने आया हूँ।"

"कुमार, तुम बहुत भोले हो।"

"ऊहूँ!"

"मैं सच कहती हूँ।"

"मैं कब झूठ कह रहा हूँ।"

"तुम्हारे सैनिकों ने सारे सूर्पारक को तुम्हारे विरुद्ध कर दिया है।"

"जानता हूँ।"

"तुम उन्हें रोकते क्यों नहीं?"

"उनको रोकने का केवल एक उपाय है।"

"वह क्या?"

"उन्हें एक-एक नारी विवाह में दे दी जाय।"

लतिका ताली बजाकर हँस पड़ी—"यह तो बहुत सरल है। मैं पिताजी से बात करूँगी।"

"पर मैं यह नहीं चाहता।"

"क्यों?"

"मेरे साथी जब लाट से चले थे तो उनका उत्साह अपरिमित था, और था अपने नेता में विश्वास अडिग। मार्ग की कठिनाइयों ने उनका उत्साह क्षीण कर दिया है। और केवल विश्वास से काम नहीं चल सकता।"

"अर्द्धाङ्गिनी से मिलकर वे नवप्राणित हो उठेंगे, कुमार।"

"ठीक कहती हो, लतिका। किन्तु वे नये प्राण नगर के बन्दी होंगे।"

"क्या मतलब?"

"यह कि वे फिर यहीं बस जायेंगे, मेरे साथ नई भूमि ढूँढने नहीं निकलेंगे।"

लतिका अचम्भित विजय के मुख को देखती रही। वह एक अनोखी आभा से आप्लावित था।

"मेरा साथ, जिसके सपने भी सुदूर के हैं, जो केवल सागर की लहरों के झूलने पर ही शान्ति से सो सकता है, जिसके पितामह ने बंग की शस्य-श्यामला भूमि पर पद-प्रहार कर धरती का वक्ष चीरकर अपने लिये लाट ढूँढ निकाला था। उनका पौत्र मैं भी पिता से लड़कर भागा हूँ। मेरे लिये लाट नहीं है, सुदूर एक भूमि है—सागर के वक्ष को चीरकर।"

"तुम्हारे सपने पूरे नहीं होंगे, कुमार।" लतिका बिलख उठी। सिसकी भरती हुई वह बोली, "पिताजी ने तुम्हारे मरण का जाल बिछा रखा है।"

"मैं जानता हूँ, लता।"

"एक निश्चित घड़ी पर तुम्हारे सब साथियों को मृत्यु के घाट उतार दिया जायगा।"

"और मेरे लिये तुम्हारे प्रकोष्ठ से बाहर दो विश्वस्त अनुचर लिये विशालाक्ष खड़ा है।"

"कुमार!" लतिका सिहरकर विजय से लिपट गई।

"लतिका, कल की कहानी का अर्थ आज समझ में आयेगा।"

"कुमार, कुछ सोचो।" कुमार को झिंझोड़ लतिका ने विनती की।

"मुझे तुम पर विश्वास है लता, साथ ही अपने पर और अपने भविष्य पर।"

"मेरे विश्वास से क्या होगा?"

"बंगराज-कन्या दर्पिल के साथ लाट आई थी। तुम्हें मेरे साथ चलना है।"

"कुमार!" लतिका को अपने कानों पर विश्वास नहीं हुआ।

"मैंने नये पोत विक्रय कर लिये हैं। वे सजे खड़े हैं। सब साथी उन पर जा चुके हैं।"

"लेकिन कुमार, हम वहाँ तक कैसे जा सकेंगे? इस प्रकोष्ठ से निकलने के सब रास्ते बन्द हो चुके हैं।

"कौन कहता है?" कुमार विजय की मछलियाँ तड़प उठीं—"मेरी पीठ पर आओ, लतिका। कसकर मेरे गले में बाँहें डाल लो।"

गवाक्ष पर चढ़कर कुमार ने नीचे छलांग मार दी। लगभग दस फीट का अन्तर होगा। लतिका को एक हल्का झटका लगा और दोनों पगडण्डी पर थे।

कुछ दूर पर सागर गरजकर उन्हें बुला रहा था।

पत्तनाध्यक्ष के दिये समय में अभी एक घड़ी शेष थी।

उधर पोतों ने लंगर उठा दिये।

* * *

प्रसिद्ध पत्तन भृगुकच्छ पर विजय दो दिन ठहरे। उनकी कीर्ति उनसे पहले पहुँच चुकी थी। वहाँ उनका शत्रु-जैसा स्वागत हुआ।

अपने पोतों में सामग्री भरकर विजय ने वहाँ से भी कूच किया। पोतों का

लक्ष्य दक्षिण की ओर था—दक्षिण का वह कोना जहाँ पूर्वी और पश्चिमी सागर मिलते थे।

मार्ग में कई पोत नष्ट-भ्रष्ट हो गये, पर कुमार अटूट साहस से आगे बढ़ते रहे।

वे ताम्रपर्णी के सागर से संयोग-स्थान की ओर बढ़ रहे थे जहाँ सागर मोती उगलता था। उन मोतियों का सारे सभ्य संसार में बड़ा मूल्य था।

परन्तु दिशा-भ्रम हो जाने के कारण अनजाने वे नीचे उतरते लंका पहुँच गये। उन्होंने उसे भारत ही समझा और उस भूमि को ताम्रपर्णी नाम दिया। वह नाम इतना प्रसिद्ध हुआ कि उनके बाद अशोक महान् ने भी लंका का इसी नाम से उल्लेख किया है।

विजय के मन का सागर शान्त हुआ। मूल निवासी वेछाओं और दक्षिण के पाण्ड्यों की कन्याओं से अपने साथियों का विवाह संस्कार रचाकर उसने नई भूमि के निवासियों को सभ्य बनाया। उनकी भूमि को पन्ने के रंग में लहलहा दिया।

३

अन्तिम नग

आनन्दप्रकाश जैन

●

श्री आनन्दप्रकाश जैन का जन्म सन् १९२७ में उत्तर-प्रदेश के जिला मुजफ्फरनगर के कस्बा शाहपुर में हुआ था। बचपन से ही कथा-साहित्य पढ़ने का चाव था। स्वयं भी कुछ कविताएँ और कहानियाँ लिखीं जो सन् १९४२ के आन्दोलन में डटकर भाग लेने के कारण जब्त कर ली गईं और साथ ही दो वर्ष का कठोर कारावास-दण्ड मिला। कारावास का समय दर्शन और इतिहास के अध्ययन में बीता।

आपकी प्रथम कहानी 'पिटते कुत्ते' सन् १९४७ में 'माया' में छपी थी। आपने 'कल्पना' नाम से एक मासिक-पत्र का भी प्रकाशन किया था। ऐतिहासिक कथा-क्षेत्र में आपका स्थान चोटी के लेखकों में माना जाता है। आपकी लिखने की गति बहुत तीव्र है। आजकल आप टाइम्स आफ़ इण्डिया के लोकप्रिय बाल-मासिक-पत्र 'पराग' के सम्पादक हैं।

रचनाएँ

'कठपुतली के धागे', 'तीसरा नेत्र', 'आग और फूस', 'लाल पन्ने', 'अतीत के कम्पन', 'काल के पंख', 'आटे के सिपाही', 'मुर्गे', 'कानून से युद्ध', 'मास्टरजी', 'चार आँखें', आदि।

आगरे के किले में, जमना के सामने, सम्मन बुर्ज की जाली पर झुका मुगल सम्राट शाहजहाँ तल्लीन खड़ा था। पीछे या इधर-उधर मुड़कर देखने की ताब नहीं थी। हर बार जब वह नजरें उठाता था, तो लगता था कि अरजुमंद झाँक रही है। हर जाली में दो आँखें नजर आती थीं। अब उस हृदय-विदारक घटना को बीते डेढ़ साल हो गया था। तब से जब भी वह सम्मन बुर्ज में आता था, मुमताज की दो आँखें उसे हर तरफ से, हर जाली से झाँकती दिखाई देती थीं।

दूर क्षितिज पर उसकी नजरें एकटक जमी हुई थीं। धीरे-धीरे क्षितिज पर किसी सूक्ष्म तत्त्व का उदय हुआ। शाहजहाँ के चेहरे पर एक मुसकराहट खिलनी आरम्भ हुई, और जब वह तत्त्व आहिस्ता-आहिस्ता बढ़ता हुआ बृहदाकार हो गया, तो शाहजहाँ खिलखिला उठा। एकदम घूमकर वह जोर से चिल्लाया—

"बदरुन्निसा ! बदरुन्निसा ! वह देखो मुमताज हँस रही है।"

बुर्ज के कोने पर खड़ी लौंडी ने सजल नेत्रों को छिपाते हुए सिर झुकाया और निवेदन किया—"जहाँपनाह को आज ग्यारहवीं बार यह लौंडी यह याद दिलाने की गुस्ताखी करती है कि बदरुन्निसा उस महान् शोक को सहन न कर पाने के कारण एक साल हुआ किला छोड़कर चली गई।"

"ओह, हम भूले !" शाहजहाँ ने निराश भाव से फिर क्षितिज की ओर देखा, जहाँ अब केवल निस्सीम के अतिरिक्त और कुछ नजर नहीं आ रहा था। होंठों-ही-होंठों में वह बुदबुदाया—"बदरुन्निसा किला छोड़कर चली गई क्योंकि वह सदमाए अजीम को बरदाश्त नहीं कर सकती थी। हम बरदाश्त कर सकते हैं, तभी तो हम रोज-रोज सम्मन बुर्ज में आते हैं; तभी तो हम अभी तक इस किले में जिन्दा हैं।"

डेढ़ साल से शाहजहाँ ने हर खास-आम से मिलना छोड़ रखा था। रंगमहल का शयनकक्ष, नमाज के लिए कसौटी के पत्थर का काला तख्त, या सम्मन बुर्ज —ये ही वे स्थान थे जहाँ शाहजहाँ जीवित शव की भाँति घूमता था। बहुत कोशिशों के बाद एक दिन किसी तरह नमाज के समय वजीर खास उस काले तख्त के सामने रखे सफेद तख्त तक आ पाए, जिस पर बैठकर वह डेढ़ साल पहले सल्तनत के खास मसलों पर शहंशाह के साथ बातचीत किया करते थे।

शाहजहाँ ने बहुत शान्ति के साथ बातचीत शुरू की थी :

"आप शायद हमसे यह पूछने आए हैं कि हम अभी तक कैसे जी रहे हैं ! सवाल वाजिब है। हमारा जवाब है कि मुमताज हमारी रूह को हमारे जिस्म से बाँध गई है। हमें उस वक्त तक जीना पड़ेगा जब तक कि हम मुमताज की मासूम कब्र पर

एक ऐसा रोजा खड़ा नहीं देखते, जिसमें···जिसमें मुमताज जी उठे।"

जिसमें मल्का मुअज्जमा जी उठें ऐसा रोजा ! चर्चा आम हो गई। समाचार नगर से नगर, प्रान्त से प्रान्त और देश से अन्य देशों मे फैल गया। कुशल से कुशल कारीगरों ने दिन-रात एक कर दिया। नित्य दो-चार नमूने सम्मन बुर्ज में शाहजहाँ के सामने पेश किए जाते। इन नमूनों को देखकर कभी शाहजहाँ के चेहरे पर हँसी नहीं आई; और एक दिन जब बड़े गर्व के साथ एक नामी कारीगर का बनाया हुआ नमूना लिए खुद वजीर साहब हाजिर हुए और उसकी खूबियाँ बयान करने लगे, तो सब-कुछ सुनने के बाद शाहजहाँ की आँखों मे आँसू आ गए। उसने धीमे से अपनी नजर वजीर खास के चेहरे पर गड़ाकर कहा :

"आप इनाम-इकराम देकर इस कारीगर को विदा कर दीजिए और नमूना अजायबघर में रख दीजिए।"

"और इस पर तामीर कब शुरू होगी, आलीजाह ?" वजीर खास ने पूछा।

"इस पर तामीर नहीं होगी," शाहजहाँ ने आँखें फेरकर कहा—"यह तो इतना भारी है कि बानो की रूह इससे दब जाएगी।"

तीन बार कोरनिश झुकाकर वजीर साहब नमूने को लिए-दिए वापस लौट गए। मगर उसके बाद कोई नमूना शाहजहाँ तक नहीं पहुँच सका। जो आता वह अजायबघर वाले नमूने से घटकर होता और वजीर खास बाहर-ही-बाहर उसे रोक लेते।

फिर एक दिन, ग्यारहवीं बार बानो की खास सहेली बदरुन्निसा के किले से चले जाने की सूचना देने के बाद, उस गुस्ताख लौंडी ने निवेदन किया :

"जहाँपनाह, मुहम्मद ईसा अफनदी नाम का एक फनकार मुल्क तुर्किस्तान से आया है और कदम चूमने की इजाजत चाहता है।"

"किस फन का माहिर है ?" शाहजहाँ ने पूछा।

"संगमरमर की रूह का," लौंडी ने उत्तर दिया।

जहाँपनाह ने उस कलाकार को देखने की इच्छा प्रकट की। कुछ ही देर में वजीर खास एक तुर्की जवान को अपने साथ लिए सम्मन बुर्ज मे आए। शाहजहाँ ने दोनों को वहीं बुलाया, जहाँ खड़ा-खड़ा वह क्षितिज की ओर व्यर्थ ही उसी दृश्य के पुनः प्रकट होने की प्रतीक्षा कर रहा था।

जब लौंडी ने आगंतुकों के आने की घोषणा कर दी, तो शाहजहाँ ने बिना मुँह फेरे ही पूछा—"क्या चाहते हो ?"

कलाकार ने कोरनिश झुकाने के बाद कहा, "यह गरीब कलाकार जहाँपनाह से कला का संरक्षण चाहता है।"

"खुलासा बयान करो," शाहजहाँ ने कहा।

"मैंने अपनी स्वर्गस्थ पत्नी का स्मारक बनाने के लिए अपनी समस्त कला की सहायता से एक रोजे का नमूना तैयार किया है, जहाँपनाह। मैं जानता हूँ कि

अपनी सारी जिन्दगी मेहनत करके भी मैं उस नमूने के अनुरूप भवन धरती पर खड़ा नहीं कर सकता। मैं यह भी जानता हूँ, जहाँपनाह, कि हुजूर भी उसी दुख से दुखी हैं, जिससे मेरा अन्तर छटपटा रहा है। मुझे आशा है कि जहाँपनाह कला को संरक्षण देंगे और कला के उस नमूने को साकार होने का अवसर देंगे।"

"तो तुम जानते हो कि हम भी अपनी स्वर्गीय मल्का की एक यादगार बनाना चाहते हैं?" शाहजहाँ ने भावपूर्ण शब्दों में पूछा।

"जी, जहाँपनाह," कलाकार ने उत्तर दिया।

"तो क्या हम यह न समझें कि तुम इस बहाने अपने बनाए हुए नमूने को हमारी कल्पना पर हावी कर देना चाहते हो?"

"जी, नही, जहाँपनाह।"

"क्यों?"

"इसलिए कि जहाँपनाह और स्वर्गीय मल्का मुअजमा का अलौकिक प्रेम इस लोक की किसी कलाकृति को अपनी तुलना मे सिर उठाकर खड़े होते देखकर दुखित होगा।"

"और तुम्हारी और तुम्हारी स्वर्गस्थ पत्नी का प्रेम इस तुलना को देखकर रंजीदा नही होगा?" शाहजहाँ ने आश्चर्य से पूछा।

"जी, नहीं, जहाँपनाह," कलाकार ने उत्तर दिया—"हम साधारण लोगों का प्रेम इसी लोक में जन्म लेता है और इसी मे दफन हो जाता है। मैं एक स्वार्थी कलाकार हूँ—जब तक जिन्दा रहूँ तब तक अपनी प्रेमिका को उस इमारत के भीतर जिन्दा देखना चाहता हूँ, जिसका नमूना मैंने तैयार किया है।"

आश्चर्य से अभिभूत होकर शाहजहाँ ने पीठ फेरी और उस कलाकार की आकृति को देखा। एक दुबला-पतला, छरहरा शरीर, बढ़ी हुई नुकीली दाढ़ी, सफेद रंग—और उसकी आँखों की पुतलियों में शाहजहाँ की पीठ की ओर स्थित क्षितिज झाँककर मुसकरा रहा था।

सहसा ही शहंशाह की नजरों से टकराकर कलाकार की नजरें नीचे झुक गईं।

शाहजहाँ ने आज्ञासूचक स्वर में कहा, "वह नमूना माबदौलत के रूबरू पेश किया जाये।"

"सेवक इसमें असमर्थ है, जहाँपनाह," कलाकार ने दीन स्वर में कहा—"वह नमूना अभी कल्पना में है।"

शाहजहाँ ने डेढ़ साल में पहली बार क्रुद्ध होकर कहा, "यह क्या मजाक है! नमूना तैयार किये बिना तुमने हमारे हुजूर में आने की जुर्रत कैसे की?"

"कला का संरक्षण प्राप्त करने के लिए, आलीजाह," कलाकार ने सम स्वर में उत्तर दिया—"मैंने वह नमूना इसीलिए तैयार नहीं किया कि जहाँपनाह और यह दीन कलाकार आजकल एक-सी ही अवस्था से गुजर रहे हैं।"

"क्या मतलब?"

"यही, जहाँपनाह, कि सेवक को भय था कि नमूना देखने के बाद आलीजाह उसके आधार पर इमारत जरूर बनवाते, लेकिन वह इस तुच्छ कलाकार के लौकिक प्रेम के स्मारक के रूप में नहीं, मल्का मुअज्जमा के अलौकिक प्रेम के स्मारक के रूप में।"

"क्या बकते हो!" शाहजहाँ क्रोध से काँपकर बोला।

"सेवक सही निवेदन करता है, आलीजाह," कलाकार ने अविचलित भाव से कहा—"यह दुनिया है और यहाँ अमीर लोग गरीबों की भावनाओं को भी खरीद लेते हैं।"

शाहजहाँ के क्रोध का पारावार न था। उसने अपनी अत्यन्त क्रुद्ध दृष्टि वजीर खास की ओर उठाई, जो एक तरफ सहमे हुए-से खड़े थे। उन्होंने उस दृष्टि को अनुभव किया और एक कदम आगे बढ़कर बोले :

"गुलाम इस फनकार को पेश करने की गुस्ताखी की माफी चाहता है, जहाँपनाह! मगर यह आदमी जो कुछ कहता है सही कहता है। यह तुर्किस्तान और ईरान में जादूगर संगतराश के नाम से मशहूर है। इसने लफ्जों-ही-लफ्जों में एक ऐसे मकबरे का नक्शा खींचकर मेरे सामने रख दिया कि वह साकार नजर आने लगा।"

शाहजहाँ ने एक क्षण विस्मय से वजीर की ओर देखा। फिर कड़े स्वर में उन्होंने कहा, "माबदौलत हुक्म देते हैं कि इस फनकार से चन्दन की लकड़ी में वह ढाँचा तैयार कराया जाये। हम उस कल्पना को देखना चाहते हैं।"

"जो हुक्म, जहाँपनाह," वजीर ने गरदन झुकाकर फनकार को कोरनिश करने का इशारा किया, और शाहजहाँ को पीठ फेरकर फिर क्षितिज की ओर देखते छोड़ दोनों आदमी सम्मन बुर्ज से बाहर आ गये।

* * *

ढाँचा बनाने के लिए ईसा ने राजा जयसिंह का उद्यान चुना। बाग में हर खास और आम की आवाजाही बन्द कर दी गई। ईसा अपने बारीक औजारों से चन्दन की लकड़ी में उलझ गया। कल्पना सुगन्धित काष्ठ में साकार रूप धारण करने लगी। अन्त में पूर्णिमा की संध्या को, अट्ठारह दिन बाद, उसने सदर वजीर सादुल्लाखाँ को सूचित किया कि ढाँचा तैयार है और वह किले में नहीं लाया जा सकता, इसलिए बादशाह सलामत उसे उद्यान में ही देखने की तकलीफ गवारा करें।

शाहजहाँ को खबर दी गई और वह डेढ़ साल में पहली बार किले से बाहर निकला। बड़े-बड़े सरदार और अमीर-उमरा साथ थे। सभी यह देखने के लिए उत्सुक थे कि जिस आदमी को जादूगर संगतराश कहा जाता है, देखें उसकी कल्पना कहाँ तक दौड़ी है।

ईसा ने सरदारों और अमीर-उमरा को ढाँचे के चारों ओर करीने से खड़ा किया। ढाँचे के ऊपर एक मखमल का परदा पड़ा था। शाहजहाँ को सामने खड़ा कर के उसने मखमल का परदा ढाँचे के ऊपर से हटा दिया। उसके नीचे एक बारीक

मलमल का परदा था, जिसके पार चाँदनी झिल-मिलाकर मानो एक श्वेतवर्ण नवयौवना को अपने शुभ्र वर्ण में छिपाकर अनावृत होने से बचाने की असफल चेष्टा कर रही थी। शाहजहाँ के सामने एक पानी का छोटा-सा हौज था, जिसमें ताजमहल की शुभ्र प्रतिमा मानो आकाश से झाँक रही थी।

कितनी ही देर तक सभी लोग मंत्रमुग्ध की भाँति खड़े रहे। शाहजहाँ एकटक उसकी ओर देखता रहा। अन्त में उसने पलकें झपकाईं और बोला :

"जादूगर फनकार, हमें अफसोस है कि हम तुम्हारी कला को दौलत का संरक्षण नहीं दे सकेंगे।"

दुख और आश्चर्य से चकित होकर कलाकार शहंशाह की ओर ताकने लगा। फिर उसने पलकें झपकाते हुए कहा, "क्या यह नाचीज फनकार इसकी वजह जानने की जुर्रत कर सकता है, जहाँपनाह ?"

शाहजहाँ ने मुसकराकर कहा, "जरूर। हमें मालूम नहीं था कि कोई इतनी खूबसूरत इमारत इस जमीन पर बन सकती है। हमने मल्का मुअज्जमा को मृत्यु-शैया पर वचन दिया था कि दुनिया में सबसे खूबसूरत इमारत उनकी रूह पर खड़ी की जाएगी। तुम देखते हो, फनकार, हम उस वादे को तोड़ने की हालत में नहीं हैं।"

कलाकार ने गले-ही-गले में कुछ गटका और दयनीय दृष्टि से राजा जयसिंह की ओर देखा, जो उस समय शाहजहाँ से कुछ दूर सादुल्लाखाँ के पास खड़े थे। वही उस उद्यान के स्वामी थे, जिसमें रात-दिन एक करके कलाकार ने संसार में सबसे सुन्दर भवन का नमूना तैयार किया था।

राजा जयसिंह ने एक कदम आगे बढ़कर कलाकार को सम्बोधित किया : "कलाकार, शहंशाह सिर्फ शहंशाह ही नहीं हैं, एक इनसान भी हैं और जो कुछ उन्होंने कहा है वह सही कहा है। दूसरी ओर, कलाकार केवल कलाकार होता है। उसे अपनी कला के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु से प्रेम नही होता। तुम्हारी कला प्रकट होने के लिए तड़प रही है। उसे इसका अवसर देना तुम्हारा धर्म है। अगर तुमने इस ढाँचे को हूबहू इमारत के रूप में बदल दिया, तो जहाँपनाह तुम्हें इतना पुरस्कार देंगे···"

शाहजहाँ ने बीच में ही कहा, "कि तुम इस हौज की परछाईं की तरह एक दूसरा रोजा अपनी बीवी की इमारत पर खड़ा कर सको।"

ढाँचे के चारों ओर खड़े अमीर-उमरा ने नारा लगाया : "जहाँपनाह का इकबाल बुलन्द हो !"

डबडबाई आँखों से कलाकार अपने नमूने की ओर अपलक देख रहा था। क्या सचमुच कलाकार को अपनी कला के अतिरिक्त अन्य किसी से प्रेम नहीं होता ? क्या दूसरों को तृप्तिदान करने के लिए अपनी कला को प्रकट करना ही उसका धर्म है ? तब इस अनन्य प्रेम और तृप्तिदान का स्वयं कलाकार के लिए क्या महत्त्व है ?

इसी प्रकार देखते-देखते भावी ताजमहल का वह सौम्य प्रतिरूप उसकी आँखों

से ओझल होने लगा। पीड़ा से अधगले नेत्र उसने शहंशाह की ओर उठाए और बोला, "अच्छी बात है। जहाँपनाह हुक्म दें। यह इमारत इसी धरती पर खड़ी होगी।"

शाहजहाँ ने आगे बढ़कर ईसा की पीठ थपथपाई और कहा, "लेकिन एक शर्त है।"

"हुक्म कीजिए," कलाकार ने उसी भाव से कहा।

"हमें पूरा यकीन है कि हमारी अरजुमंद इस इमारत के भीतर हमें जिन्दा दिखाई देगी। लेकिन अगर ऐसा न हुआ, तो हम तुम्हारे फन की वह कद्र नहीं कर सकेंगे जिसका हमने वादा किया है।"

यह दूसरा आघात था। यह स्वयं कलाकार की ईमानदारी और सचाई पर अविश्वास था। अपने गिरते हुए आँसुओं को छिपाने के लिए ईसा ने सिर झुकाकर भरे स्वर में कहा, "बहुत खूब, जहाँपनाह।"

शाहजहाँ ने सादुल्लाखाँ की तरफ देखकर आज्ञासूचक स्वर में कहा, "खान साहब, राजा-महाराजाओं के पास खबरें भेजने का इन्तजाम किया जाए। इस जमीन पर जन्नत की इमारत खड़ी होगी। हमारी अरजुमंद की रूह को जिन्दा करने के लिए हमें जो भी कोई खास-आम मदद देगा, हमारी शहंशाहियत उसकी शुक्रगुजार होगी।"

खबरें भेज दी गईं। शहर-शहर में मुनादी पिट गई। जगह-जगह से तोहफे आने शुरू हो गये। कारीगरों के दल-के-दल आगरे की तरफ चल दिये। जिसे भी अपनी कला पर थोड़ा-सा नाज था उसने ईसा के हाथों को चूमा। पचासों प्रमुख कारीगर और बीस हजार मजदूरों ने मुमताजमहल की रूह को जिन्दा करने के लिए विश्व के अप्रतिम आश्चर्य के निर्माण में हाथ लगाया। मुमताजाबाद के नाम से उनका एक छोटा-सा शहर आबाद हो गया। सुन्दर लेख लिखने के लिए मुल्क तुर्किस्तान का सत्तारखाँ, चित्र खींचने के लिए समरकन्द का मुहम्मद शरीफ, तुग्रा लेखन के लिए शीराज का अमानतखाँ, और राजगीरी के निरीक्षण के लिए अकबराबाद का मुहम्मद हजीफ ईसा अफनदी के हाथ बन गए।

* * *

इस बीच शाहजहाँ के राज्य का विस्तार बढ़ने लगा। अहमदनगर को लेने से जो सिलसिला शुरू हुआ तो बीजापुर, गोलकुण्डा, कन्धार शाहजहाँ के अधीन हो गये। सम्मन बुर्ज के कटहरे पर खड़े होकर दूर क्षितिज पर जो धूमिल नारी-मूर्ति कभी-कभी उभरती मालूम होती थी, वह राजा जयसिंह के उद्यान में बनने वाले रोजे की पाड़ों के पीछे छिप गई। सम्मन बुर्ज की जालियों में जो दो प्यासी आँखें जब-तब झाँकती दिखाई देती थीं उनका दिखाई देना बन्द हो गया। इसके साथ सम्मन बुर्ज में आने का अन्तर भी धीरे-धीरे बढ़ता रहा और जब तक रोजा बनकर तैयार हुआ, तब तक तो यह अन्तर छः-छः महीने का हो गया। सम्मन बुर्ज अब अरजुमंद के प्रेम का स्थान नहीं, एक अज्ञात भय का स्थान बन गया, जहाँ जाते हुए शाहजहाँ के मन में सिहरन

चपला की भाँति कौंध जाती थी।

एक दिन सादुल्लाखाँ ने सूचित किया कि ताज बीबी का रोजा तैयार हो गया है। शाहजहाँ भागा-भागा सम्मन बुर्ज पर उसकी एक झाँकी देखने के लिए आया, मगर रोजा पाड़ों से एक-एक इंच ढका हुआ था। शाहजहाँ ने पूछा :

"ये पाड़ें कब तक हट जाएँगी ?"

"शायद एक महीना लग जाए," वजीर ने जवाब दिया।

"लेकिन हम रोजा आज ही देखना चाहते हैं," शाहजहाँ ने कहा।

"मगर यह तो मुमकिन नहीं, जहाँपनाह," वजीर चकित होकर बोला।

"यह शाही हुक्म है," शाहजहाँ ने कहा—"रिआया को आगाह कर दो, पाड़े मुफ्त लूट ले जाएँ। आज रात की चाँदनी में हम रोजा देखेंगे।"

आगरा और आस-पास के देहातों में मुनादी पिट गई। लाखों आदमी रोजे की तरफ भागे। पाड़े एक दिन में साफ हो गईं। दसियों हजार लोगों का समूह उल्लसित हृदय लिए किले के सामने एकत्र हो गया—शाहजहाँ के द्वारा रोजा देखे जाने का दृश्य देखने के लिए। लोगों के मन में एक उत्सुकता थी—देखें अपनी प्रेमिका का अपूर्व स्मारक देखने पर उस प्रेमी का क्या हाल होता है, जिसका सिक्का मुल्क में चलता है।

पूरा चाँद खिला हुआ था। किले से ताज तक हाथियों और घोड़ों की कतारें लगी हुई थीं। ढोल, ताशे और नगाड़े पीटे जा रहे थे। शाहजहाँ अपनी अरजुमंद की रूह का महल देखने जा रहा था।

* * *

ताजदरवाजे पर ताज के कलाकारों ने शहंशाह का स्वागत किया। ईसा अफनदी आज खुश था। उसके चेहरे पर अब जहाँ-तहाँ झुर्रियाँ दिखाई पड़ने लगी थीं। मगर उसके भीतर से एक अपूर्व तेज झाँक रहा था, जो किसी सुन्दर कलाकृति के पूर्ण हो जाने पर हर सच्चे कलाकार के मुँह पर झाँकता है।

जिसकी कल्पना ने ताज को साकार किया था वही ईसा शाहजहाँ के आगे-आगे चला। ताजदरवाजे के उस पार खड़े होकर शाहजहाँ ने एक बार ताज के उस बृहद् रूप को आँखों में उतारा और उसका मुख प्रसन्नता से दीप्त हो गया। ताज के बाहर हजारों कंठ 'शहंशाह शाहजहाँ जिन्दाबाद !', 'मल्का मुअज्जमा मुमताजमहल जिन्दाबाद !' के नारे लगा रहे थे।

शाहजहाँ आगे बढ़ा। बीच का बड़ा हौज आया और ताज पर से फिसलती हुई शाहजहाँ की निगाहें पानी पर पड़ीं, जिसके भीतर ताज का प्रतिरूप झाँक रहा था। शाहजहाँ अवाक् था, स्तब्ध था, अपलक था।

बहुत से प्रमुख सरदारों ने शहंशाह के साथ-साथ ताज के दरवाजे के भीतर प्रवेश किया। गुम्बद की छत से झाड़-फानूस लटक रहे थे और उनसे स्वच्छ प्रकाश अरजुमंद की नकली कब्र पर पड़ रहा था। शाहजहाँ अबोध बच्चे की तरह उसके पास जाकर खड़ा हो गया। सब ओर निस्तब्धता छा गई। सूई गिरी कि आवाज सुनाई दी।

सहसा एक जोर का चीत्कार शाहजहाँ के गले से निकला—

"अरजुमंद···बानो !"

विशाल गुम्बद मे पंद्रह सैकिण्ड तक ध्वनि गूँजती रही : "अरजुमंद···बानो !"

और मोहविमूढ़, भारत का शहंशाह शाहजहाँ फूट-फूटकर रो पड़ा। गुम्बद में उसके रोने की प्रतिध्वनि कई गुना करुणामयी होकर गूँजने लगी। ईसा ने आगे बढ़कर निवेदन किया—

"जहाँपनाह, यह सम्मानित बानो की नकली कब्र है, जो सिर्फ इसलिए बनाई गई है कि इसे देखकर जहाँपनाह गलतफहमी में न पड़ें। जिस नकली कब्र में हम अपनी रूह को बन्द करके दुनिया में घूमते हैं, उसे देखकर इन्सान इसीलिए नहीं रोता कि असली कब्र तक पहुँचने के लिए उसे थोड़े-से समय का अन्तर चाहिए। जहाँपनाह उस अन्तर को याद रखें और गम को भुला दें।"

ईसा के ये शब्द भी उतने ही प्रभावकारी होकर गुम्बद में गूँजने लगे। शाहजहाँ कुछ स्थिर हुआ और क्षण-भर में ही उसने अपने चारों ओर खड़े मुसाहबों और सरदारों की उपस्थिति का अनुभव किया। वह तुरन्त उस नकली कब्रगाह से बाहर आया।

नीचे तहखाने में जब वह असली कब्र के पास पहुँचा, तो उसकी आँखों में एक भी आँसू नहीं था। कब्र के पास खड़े होकर उसने कुछ देर तक चुपचाप मन-ही-मन कुछ पढ़ा और लौटकर तेजी के साथ वहाँ से बाहर आ गया। इसके बाद वह तेज कदमों से कब्रगाह के चारों ओर बने जालीदार कमरों में घूमने लगा। ईसा को हैरत थी कि बादशाह इतना तेज क्यों चल रहा है ? शाहजहाँ की गहरी नजरें दीवारों और जालियों के चप्पे-चप्पे पर घूम रही थीं और विचित्र गति से आगे बढ़ जाती थीं।

कुछ ही देर में वह ताजमहल की मुख्य इमारत से बाहर निकल आया और उस हौज के पास जा खड़ा हुआ, जिसमें ताज की परछाईं झाँक रही थी। जन-साधारण अब भी ताजदरवाजे के बाहर खड़े नारे लगा रहे थे, किन्तु उस शोर से भी ताजमहल की शान्ति भंग होती प्रतीत नहीं हो रही थी। ईसा शहंशाह से कुछ दूरी पर खड़ा प्रशंसा के दो शब्द सुनने की प्रतीक्षा कर रहा था।

मगर खोई-खोई दृष्टि से ताज को देखते हुए शाहजहाँ ने हसरत-भरी आवाज में कहा—"इस खूबसूरत इमारत में हमारी अरजुमंद कहीं भी हमें जिन्दा दिखाई नहीं दी !"

इस भर्राई हुई आवाज को कलाकार के अतिरिक्त अन्य अनेक सरदारों ने सुना और भौंचक्के रह गये। ईसा ने घबराहट और आश्चर्यचकित दृष्टि से बादशाह को देखा, और मानो उसे यकीन न आया हो, उसकी निगाह ताज के मनोरम दृश्य की ओर घूम गई।

पता नहीं कितनी देर बीती, कितनी आशाओं-निराशाओं का आवागमन ईसा के मन के भीतर हुआ। उस समय भी उसे चेत नहीं हुआ, जब शाहजहाँ ने उसके

कन्धे को थपथपाते हुए कहा, "फनकार, तुमने एक ऐसी इमारत बना दी है, जो इस दुनिया में न आज तक बनी और न कभी बनेगी। हम तुम्हें इसका वाजिब मुआवजा देंगे···मगर···मगर अफसोस कि हमारी मुमताज इसमें कहीं भी हमें जिन्दा दिखाई नहीं देती।"

ईसा ने सुना या नहीं, कौन जाने! उसके साथ काम करनेवालों ने बादशाह की अगवानी की और उसे ताज के बाहर ले चले। ईसा जहाँ खड़ा था वहीं पर मानों किसी ने उसे पत्थर के बुत की तरह कील दिया हो।

नारों की आवाज ताज से दूर होती सुनाई पड़ती रही। घण्टों और नगाड़ों के शब्द मद्धिम पड़ते चले गये। ईसा के चारों ओर उसके सहयोगी एकत्र हो गये। सबकी आँखों में समवेदना और आशंका थी। बात सबमें फैल गई थी। तरह-तरह की सम्मति प्रकट की जा रही थी। सत्तारखाँ का विचार था कि ताज में जो तीन करोड़ से ऊपर का अकूत धन लगा है, इतना रुपया बादशाह ईसा को देना नहीं चाहता। सहानुभूति प्रकट करता हुआ अमानतखाँ कह रहा था कि बादशाह को डर है कि रुपया पाकर कहीं ईसा ताज से भी सुन्दर भवन धरती पर खड़ा न कर जाए। मुहम्मद हनीफ की आँखों में क्रोध था। भला कहीं मुरदा जिन्दा दिखाई दे सकता है? कला की सजीवता ही मुमताज की सजीवता का प्रमाण है और कौन कहता है कि ताज सजीव कला का प्रतिनिधित्व नहीं करता?

मगर ईसा की नजरें ताज के ऊपर टिकी हुई थीं। उसके साथी जो राय दे रहे थे, उनका उसे कुछ पता नही था। जब शाहजहाँ ने नमूना देखने पर उससे वादा लिया था कि ताज में मुमताज जीवित दिखाई देनी चाहिए, तो उसने इस बात को कभी केवल कला की सजीवता के अर्थों में नहीं लिया था। उसका विश्वास था कि इस अनोखी कल्पना के साकार होने पर मुमताज शाहजहाँ को जीवित दिखाई न दे, यह असम्भव है।

मौन बैठा ईसा दो घड़ी बाद उठा और उसने शीराज के अमानतखाँ को बुलाकर कहा—"कारवाँ तैयार करो। मुझे ऐसा मालूम होता है कि मेरा आखिरी वक्त नजदीक ही है। मैं अपने मुल्क की सरजमीन पर मरना चाहता हूँ। सबसे कह दो—हम कल सुबह ही यहाँ से चल देंगे।"

अमानतखाँ ने कहा, "लेकिन हम लोगों को अभी आखिरी महीने का वेतन तो मिला ही नहीं।"

ईसा ने उत्तर दिया, "फन की कोई कीमत नहीं होती, अमानतखाँ। कद्रदानी में बादशाह जो देना चाहता था वह दे चुका। अब और देने में उसे तकलीफ होगी। हम उसकी शर्त पूरी नहीं कर सके।" अपनी ही बात के अविश्वास में वह ताज की ओर फिर से देखकर बोला, "हमें उससे अब और ज्यादा लेने का हक नहीं है।"

इन सभी कलाकारों में भाईचारे का व्यवहार था, एक-दूसरे के ऊपर निर्भर रहने का भाव था। सभी लोगों ने ईसा के भाव की प्रशंसा की और ईरान, तुर्किस्तान

आदि उत्तर-पश्चिमी देशों के रहनेवाले कारीगरों का लम्बा काफिला तैयार होने लगा। मुमताजाबाद में सारी रात तेज रोशनी के हंडे जलते रहे।

* * *

पौ फटी, सुबह हुई और लम्बे काफिले का अग्रगामी दस्ता ताज के बाहरी दरवाजे पर आया, जो उस वक्त बन्द था और जिसकी सुरक्षा में खड़े दो शाही पहरेदारों से एक क्षीणकाय बुढ़िया उलझी हुई थी। सुबह की उगती हुई किरणों में अन्तिम बार अपनी सर्वश्रेष्ठ कलाकृति को निरखने के लिए ईसा अपने ऊँट से उतरा और उसके साथ उसके अनेक साथी दरवाजे पर आए। पहरेदारों ने सम्मान में सिर झुकाया और बुढ़िया से एक ओर हट जाने को कहा, मगर बुढ़िया किसी तरह राजी नहीं हुई।

ईसा ने आगे बढ़कर पूछा, "क्या बात है, माई ? तुम क्या चाहती हो ?"

बुढ़िया ने एक हाथ से आँखों पर छाया करते हुए ईसा को गहरी नजर से देखा और बोली, "अरे बंदे खुदा के, सुना है अरजुमंद बानो बेगम की कब्र पर अल्लाह के फरिश्तों ने एक रोजा खड़ा किया है। खलकत देखने आ रही है, पर ये मुए मुझे नहीं देखने देंगे—मुझे, बदरुन्निसा को, जिसे बेगम इस दुनिया में सबसे ज्यादा अजीज थी, जिसने उसे पालने में झुलाकर पैरों पर खड़ा किया, जिसने उसकी बलाएँ अपने सिर लीं, और जिसकी दुनिया अल्लाह ने उसकी बानो को उठाकर सूनी कर दी। दस कोस से चलकर आई और अब ये कहते हैं···"

ईसा ने पूछा, "तो तुम मल्का मुअज्जमा अरजुमन्द बानो बेगम की सहेली थीं ?"

"और मैं इतनी देर से क्या कह रही हूँ, मर्देखुदा !" बुढ़िया ने आश्चर्य से अपनी भोली आँखों के ऊपर तनी हुई भौंह को और ऊँचा करते हुए कहा।

"तो आओ हमारे साथ," ईसा बोला, "मैं दिखाऊँगा तुम्हें ताजमहल।"

बुढ़िया ने उसे सौ-सौ दुआएँ दीं, अल्लाह का नाम लिया और डगमगाते कदमों से उसके पीछे-पीछे चल दी। लोगों ने अनुभव किया कि वास्तव में वह थकी हुई थी। पैरों के साथ-साथ घुटनों तक का पाजामा धूल में अट गया था।

ईसा अपनी कला से स्वयं विभोर था। सबसे आगे चलता हुआ वह बुढ़िया के बहाने से मानो अपनी स्वर्गस्थ पत्नी के सम्मान में अपनी कला का वर्णन करने लगा :

"बीबी, तुम इस रोजे को देखने आई हो, मगर यह रोजा नहीं है, प्रेम से पगी किसी कोमल, श्वेतवसना, श्वेतवर्ण नारी की मूर्त्ति है, जिसके वस्त्रों में हम लोगों ने अपनी शैतान तबीयत का इजहार करने के लिए सीप, मोती, पन्ने, पुखराज जड़ दिये हैं। यह हमने बीच का हौज नहीं बनाया है, एक दर्पण उस मानिनी के लिए रख दिया है, जिससे वह केवल एक बार अपनी मुँदी हुई आँखों को खोलकर इसमें अपनी छवि देखे और मुसकरा दे···"

बुढ़िया अधखुली आँखों से सब-कुछ देखती हुई आगे बढ़ रही थी और उसके

कान ईसा के एक-एक शब्द को भी पी रहे थे। ईसा अपने वर्णन में मस्त था :

"किसी प्रेमी के घर को सूना करके, यह चार हाथोंवाली परी यहाँ आकर अमर होने के लिए तप करने लगी और इसके चार हाथ पत्थरों की सूरत में बदलकर मीनार बन गए हैं, जिनके ऊपर की बुर्जियों में इस परी के हाथों की उँगलियाँ हमें दिखाई देती हैं। ठहरो, बीबी, इस तापसी देवी के दिल के भीतर कदम रखने से पहले धर्म-पुस्तक कुरान की इन आयतों को पढ़ लो, नहीं तो कुफ्र होगा और तुम उसके दिल के भीतर की हालत को नहीं समझ सकतीं···"

बुढ़िया के कदम डगमगाने बन्द हो गए थे। वह मानो हवा में तैरती हुई इस विचित्र और अपूर्व दृश्य को देख रही थी। ईसा कह रहा था :

"दिल के दो परदों की तरह हमने भी इस नाजनीन के दिल को दो हिस्सों में बाँटा है। ऊपर के हिस्से में जो कब्र बनी है वह इस देवी के रूप के प्रति उठनेवाली अशोभनीय भावनाओं को दफन करने के लिए है, और यह ठोस सोने का जो जालीदार परदा इस कब्र के चारों तरफ लगा है, उन छेदों को प्रकट करता है जो प्रेमी के वियोग में इस देवी के हृदय में पड़ गए हैं। मूक नारी की वेदना की आहों को संसार नहीं सुन पाता, इसलिए उस आवाज में गूँज पैदा करने के लिए हमने यह गुम्बद बनाया है। मगर इन आहों को अगर कोई सुन पाता है, तो इस गुम्बद की छत में लटका हुआ वह झाड़-फानूस है, जिसमें काफूर की बत्तियाँ दिन-रात जलती रहती हैं···"

सहारा देकर ईसा ने बुढ़िया को तहखाने में उतारा। अपने एक साथी के हाथ से कपूर की बत्ती का एक दीपक लेकर उसने कब्र पर रखा और चुप रहा। केवल बुढ़िया के कान में फुसफुसाकर उसने इतना कहा, "चुप रहना, यहाँ पर कोई सो रहा है!"

ये शब्द सुनकर बुढ़िया का तन-मन सिहर गया और वह आँखें फाड़े कब्र की ओर देखती रह गई।

तहखाने से निकलकर ईसा ने बुढ़िया को अठपहलू कक्ष दिखाने शुरू किए और अपने साथियों को इशारे से नीचे ही छोड़ दिया। उसकी वाणी लुप्त हो गई थी। वह अपनी कला का वर्णन करते-करते कहीं सुदूर अतीत में पहुँचकर भटक गया था। कमरों का एक चक्कर लगा लेने के बाद उसे यह अनुभव हुआ कि बुढ़िया उसके साथ नहीं है और वह अकेला ही घूम रहा है।

सचेत होकर वह वापस लौटा और उसने देखा कि बीच के एक कमरे में बुढ़िया बीचोंबीच खड़ी है और उसका मुँह भीतर की ओर वाली एक जाली की तरफ घूमा हुआ है। यही नहीं, बल्कि वह बातें कर रही है :

"बानो, अपनी बदरुन्निसा को नहीं पहचानतीं? इन बीस बरसों में ही मैं पराई हो गई? मैं तो एक पल को भी नहीं भूली। हाँ, सच। पर तुमने तो आज सारे सफेद-ही-सफेद कपड़े पहन लिए। अच्छा, याद आया, जब जवाहरात और सलमे-सितारे पहन-पहनकर तुम उकता गई थीं, तो एक दिन मैंने ही तुम्हें यह पोशाक

पहनाई थी···"

शब्द धीमे जरूर थे, मगर साफ थे। ईसा हैरत से कुछ बोलता-बोलता रुक गया। आश्चर्य से वह बुढ़िया को देख रहा था, और बुढ़िया बातों में मशगूल थी।

"मुझे क्या पता था कि तुम यहाँ आ बैठी हो। मैंने तो देखा कि तुम महल में नहीं रहीं और मैं किला छोड़कर चली आई। हाँ, अच्छी तो क्या रही! पर तुम ऐसी आँख-मिचौनी न खेला करो। तुम्हें मेरी मुहब्बत की कसम, बानो, अब मेरे साथ चलोगी न? बोलो, चलोगी न? बोलो, बोलो, बानो, बोलो!"

क्षण-भर में ईसा की आँखों में एक विचित्र चमक आई और वह दबे पैरों उस कमरे से बाहर निकलकर भाग चला। दौड़ा-दौड़ा वह नीचे आया और फुसफुसाकर बोला, "खबरदार, सब लोग यहाँ से बाहर हो जाएँ। दरवाजे पर पहरा लगा दो, कोई अन्दर न जाने पाए। जरा भी शोर न हो। मैं अभी एक घड़ी में लौटकर वापस आता हूँ।"

लोगों ने देखा कि वृद्ध ईसा भागने के बहाने उड़ा जा रहा है। देखते-ही-देखते उसने ताजदरवाजा पार किया, एक-दो से टकराया, मुख्य द्वार पर आया और पेड़ से बँधा पहरेदार का मजबूत घोड़ा खोल लिया। इससे पहले कि कोई पूछे क्या बात है, वह उछलकर घोड़े पर बैठ गया और लगाम को दो-तीन झटके दिए। घोड़ा हवा में एक बार पिछले दो पैरों पर खड़ा हो गया, इसके बाद हवा की तरह दरवाजे से निकलकर किले की तरफ दौड़ने लगा।

किले के दरवाजे पर पहुँचते ही ईसा जोर से चिल्लाया :

"ताजमहल को बनानेवाला ईसा आया है। दरवाजा खोलो।"

दरवाजा चरमराकर ईसा का स्वागत करने के लिए खुल गया। तीर की तरह हवा में सनसनाहट पैदा करता हुआ ईसा का घोड़ा लम्बा गलियारा पार करके दूसरे, फिर तीसरे मुख्य दरवाजे पर पहुँचा। तब तक राह के अनेक चौकीदार उसके साथ लग गए थे।

मुख्य द्वार पर पहुँचकर उसने द्वार-रक्षक को सुनाते हुए जोर से कहा, "बादशाह सलामत को खबर कर दो ईसा आया है। कहो कि ताजमहल में मल्का मुअज्जमा जिन्दा सूरत में तशरीफ लाई हैं। ओह, शहंशाह ने अगर एक पल की भी देर की, तो वह दीदार उन्हें जिन्दगी-भर हासिल नहीं होगा।"

किले में हलचल मच गई। खबर हूबहू एक-एक लफ्ज एक के बाद एक सन्देशवाहक से लौंडियों तक पहुँची। शहंशाह शाहजहाँ नमाज अदा करने के बाद वजीर सादुल्लाखाँ को कुछ आवश्यक सन्देश देने बैठे थे। उसी समय लौंडी ने खबर अर्ज की और शाहजहाँ एकदम आश्चर्यचकित-सा उछलकर खड़ा हो गया। एक बार उसने वजीर की तरफ देखा कि इसका क्या मतलब हो सकता है।

वजीर ने कहा, "मैंने तो पहले ही अर्ज किया था, आलीजाह, कि वह जादूगर संगतराश के नाम से मशहूर है। अब देर न कीजिए।"

अंगरक्षकों के एक बड़े दस्ते के साथ शाहजहाँ मुख्य द्वार के बाहर निकला और घोड़े पर चढ़ा। बेचैनी से इन्तजार करता हुआ ईसा बादशाह को देखते ही घोड़े का मुँह मोड़कर, बिना किसी तरह की ताजीम किए, तेजी से दौड़ा। पीछे शाहजहाँ और उसके अंगरक्षकों का दल था।

ताजमहल में सब-कुछ ज्यों-का-त्यों था। बादशाह सलामत को देखते ही प्रत्येक व्यक्ति आधा झुक जाता। ताजदरवाजा पार करके शाहजहाँ ने एक बार ताजमहल की इमारत को देखा और ईसा के पीछे-पीछे झपट चला। कलाकार ने अपने आदमियों से कुछ पूछा।

ताज के द्वार पर पहुँचकर ईसा ने कहा, "जहाँपनाह, सब लोगों को यहीं छोड़ दें और बिना आवाज के अकेले तशरीफ ले चलें।"

सब लोग पीछे छोड़ दिए गए। ईसा और शाहजहाँ सीढ़ियाँ चढ़कर जालीदार कमरों में पहुँचे—आहिस्ता-आहिस्ता, दबे पैरों; केवल जालियों से हवा टकराकर शब्द उत्पन्न कर रही थी। मगर उस शब्द में भी एक विचित्र गम्भीरता थी। बुढ़िया अब तक उसी अवस्था में ज्यों-की-त्यों खड़ी थी। आँखें उसी जाली की तरफ थीं। ईसा ने होंठों पर उँगली रखकर बुढ़िया की ओर इशारा किया। फिर फुसफुसाकर अत्यन्त धीमे स्वर में बोला : "जहाँपनाह, इस खातून को पहचानते है?"

शाहजहाँ ने भी उसी स्वर में कहा, "हाँ, यह तो बदरुन्निसा है। पर, या खुदा, यह कितनी बदल गई है!" फिर ईसा को लक्ष्य करके कहा, "पर, बानो कहाँ है? यहाँ तो दिखाई नहीं देती।"

ईसा ने कहा, "इस बुजुर्ग खातून से पूछिए, जहाँपनाह। यह मल्का मुअज्जमा से बातें कर रही थी।"

शाहजहाँ को हैरत हुई। उसने स्वर को तेज करके कहा :

"खानम, तुमने बानो को देखा है?"

बुढ़िया की ओर से इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं मिला। बादशाह ने आवाज को जरा और तेज करके फिर से प्रश्न को दोहराया, किन्तु प्रश्न जालियों से होकर बाहर निकल गया। उसने प्रश्नसूचक दृष्टि से ईसा की ओर देखा। ईसा ने फिर धीमे से कहा, "आगे बढ़कर पूछिये, जहाँपनाह।"

शाहजहाँ आगे बढ़ा और फिर वही सवाल किया। जवाब न पाकर उसने बुढ़िया का कन्धा पकड़कर हिलाने का इरादा किया। किन्तु हाथ लगाते ही, किसी अत्यन्त सूक्ष्म सन्तुलन पर स्थापित, कठोर काष्ठप्रतिमा की तरह वृद्धा का अचेत शरीर फर्श पर ढह पड़ा। फिर भी उसकी मुद्रा ज्यों-की-त्यों बनी रही, आँखें जैसी-की-तैसी खुली रहीं। झपटकर ईसा ने उसकी नब्ज पर हाथ रखा।

शाहजहाँ वेदनापूर्ण स्वर में चिल्ला पड़ा : "बानो, बानो! ईसा, कहाँ है बानो? तुमने हमसे वादा किया था कि बानो यहाँ मौजूद है।"

बुढ़िया की नब्ज छोड़कर ईसा धीरे-धीरे सीधा खड़ा हुआ। अत्यन्त शान्ति-

पूर्वक उसने गर्वीले कलाकार की भाँति शाहजहाँ की आँखों से आँखें मिलाईं और नपे-तुले शब्दों में बोला :

"जहाँपनाह, आपकी बानो ताज के हर पत्थर में, हर फूल में, हर कोने में जीवित है, मगर उसे वही देख सकता है जिसके मन में उसके प्रति पवित्र और अनवरत प्रेम की धारा बह रही हो; जिसके हृदय में वह धारा प्रवाहित थी उसने उसे देखा, बातें की; और जब इतने से भी जी न भरा, तो उसके साथ-साथ लोप हो गई। पिछले बीस बरसों में खून-खराबी, युद्ध, मार-काट और जय-पराजय के इतने तूफानों में आपका मन उलझा रहा कि काल ने अवसर पाकर उस पर से बानो की मुहब्बत को रगड़कर पोंछ डाला। इसीलिए न बानो अब आपको दिखाई दी, न आगे कभी देगी। यह आनेवाला संसार बताएगा कि यह ईसा का अपराध है या शहंशाह शाहजहाँ का।"

शाहजहाँ अवाक् था।

कहते हैं ईसा को बहुत अधिक पुरस्कार मिला। शायद वह इतना अधिक न हो कि दूसरा ताजमहल बन सके। शायद तुर्किस्तान पहुँचने तक वह जीवित ही न रहा हो। जो भी हो, मगर मुमताजमहल से सच्चा प्रेम करनेवाली उस सहेली का मकबरा ताज के दक्षिणी दरवाजे की दाईं तरफ, मुमताजाबाद की दिशा में, आज भी स्मारक के रूप में खड़ा है। वह ताज से अभिन्न है, ताज का अन्तिम नग है।

४

महाबलिपुरं

आरिगपूडि

●

आन्ध्रवासी श्री ए० रमेश चौधरी 'आरिगपूडि' तेलुगु-भाषी हैं। पेशे से पत्रकार और लेखक हैं। अंग्रेजी में वर्षों से पत्रकारिता कर रहे हैं। कई प्रमुख पत्रों के सम्वाददाता रहे हैं। हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में कुछ वर्ष पूर्व ही पदार्पण किया है किन्तु इस अल्पकाल में ही अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है। उपन्यास, कहानी, नाटक, एकांकी—सभी-कुछ लिखते हैं। एक दर्जन से भी अधिक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं जिनमें से कई विभिन्न सरकारों द्वारा पुरस्कृत भी हुई हैं।

आजकल दक्षिण-भारत-हिन्दी-प्रचार-सभा की प्रमुख मासिक पत्रिका 'दक्षिण भारत' और बच्चों की प्रिय मासिक पत्रिका 'चन्दामामा' के हिन्दी-संस्करण के सम्पादक हैं। राष्ट्रभाषा के दक्षिण भारतीय साहित्यकारों में आपका प्रमुख स्थान है।

रचनाएँ

'भूले-भटके','खरे-खोटे', 'दूर के ढोल', 'पतित-पावनी', 'अपवाद', 'अपनी करनी', 'आदरणीय', 'जीने की सजा', 'अपने पराये', 'धन्य भिक्षु', 'नेपथ्य', 'मुद्राहीन', आदि।

पूनम की चाँदनी वहाँ भयावनी है। समुद्र चिंघाड़ता-सा है। नारियल के पेड़ों में हवा हिचकियाँ भर रही है। पत्थर भी पसीने-पसीने हो रहे हैं।

रात्रि के अन्तिम क्षण। उद्विग्न वातावरण। पत्थर की कोख में इतिहास उन्निद्रा की करवटें लेता लगता है। मूक मूर्तियाँ बोलती-सी मालूम होती हैं—शिल्पी की प्रतीक्षा करती। महाबलिपुरं सुप्त है।

भाववर्मा बड़बड़ाता हुआ उठा—"देखो, रेखा, वहाँ उस पहाड़ पर कोई टुक-टुक कर रहा है? रथ-पथ पर अपना नाम खोद रहा है—वे ठट्ठा मारकर हँस रहे हैं। अट्टहास—परिहा···" अभी भाववर्मा कह ही रहा था कि बगल में सोई हुई उसकी पत्नी सहमी-सी उठी। भाववर्मा खिड़की से बाहर देखता चिल्ला रहा था—"अट्टहास, वे अपनी मूर्तियाँ बना रहे हैं—वे दोनों हैं प्रतिभा और अभ्यास। हाथ मिलाकर खिल-खिलाकर हँस रहे हैं। वे भागे जा रहे हैं, ह-ह-ह···वे चले गये ह-ह-ह···"

"वहाँ कोई नहीं है, आप सो जाइये।"

"ह-ह-ह···हाँ, कोई नहीं है—मैंने उनको मिटा दिया है···ह-ह-ह···यह क्या फिर अट्टहास···"

"नहीं, यह तो आपके हँसने की प्रतिध्वनि है," रेखा ने कहा।

"नहीं, नहीं, तू पगली है—देख, प्रतिभा और अभ्यास परिहास कर रहे हैं। वे फिर चले आ रहे हैं—छेनी और हथौड़ी लिए—देख, रथ-पथ पर अभ्यास और प्रतिभा को। कम्बख्त फिर आ रहे हैं।"

रेखा ने खिड़की बन्द कर दी—"आप सो जाइये। आराम कीजिये।" रेखा ने पति को लिटाते हुए कहा।

"नहीं-नहीं," भाववर्मा तकिये पर सिर रखे हाँफता-हाँफता, निश्चेष्ट-सा कुछ कहता जा रहा था।

"अभी सवेरा होने में देरी है—विश्राम कीजिये, कल महाराजा महेन्द्रवर्मन आ रहे हैं। दिन-भर काम रहेगा। अब सो जाइये।"

"सोना? खोलो खिड़की। वे लोग फिर आ रहे हैं—सुनती नहीं हो खुट-खुट? खोलो खिड़की। वे अपना नाम खोद रहे हैं।" भाववर्मा उन्मत्त की तरह चिल्ला रहा था।

"आपका भ्रम है। उनको तो मरे हुए अब अर्सा हो गया है। महाबलिपुरं के तो आप ही कलाकार हैं। कल महाराजा आपका सम्मान करेंगे। अब सो जाइये।"

रेखा समझाने लगी।

"और ये लोग अपना नाम खोदकर यह बताना चाहते हैं कि इन लोगों ने ही ये मूर्तियाँ गढ़ी हैं—ये उनके स्वप्न हैं—शायद वे ठीक हैं—नहीं, नहीं—रेखा, थोड़ा पानी दो। सिर चकरा रहा है।" पत्नी ने उसके गले में पानी डाल दिया। वह थोड़ी देर बिस्तर पर करवटें लेता रहा। अधमुँदी आँखें खिड़की की तरफ लगी हुई थीं। फिर यकायक वह चिल्लाने लगा :

"मुझ पर कोई पत्थर बरसा रहा है—समुद्र बढ़ा आ रहा है—खोलो खिड़की, अभ्यास···प्रतिभा···" उसने खिड़की खोलनी चाही, पर रेखा ने खोलने न दी। वह थककर फिर लेट गया। रेखा ने उसको कोई औषधि दी—और वह मृतसा फिर सो गया।

ऐसा लगता था कि उसका मन टुकड़े-टुकड़े हो गया हो। जान कहीं अन्दर थपेड़े खा रही हो। वह रह-रहकर बड़बड़ा उठता था।

पल्लव-वंश का राजा महेन्द्रवर्मन उसको देखने के लिए कांचीपुरं से आ रहे थे। महाबलिपुरं अभी बन रहा था। भाववर्मा उसका निर्माता समझा जाता था।

महाबलिपुरं में तोरण बाँधे जा रहे थे। मूर्तियों को सजाया जा रहा था। राजा के सम्मान के लिए हर तैयारियाँ हो रही थीं।

और भाववर्मा·····

* * *

भाववर्मा, महेन्द्रवर्मन का कोई दूर का सम्बन्धी था। पल्लव-वंशावली में यद्यपि उसका कोई विशेष स्थान न था—परन्तु वह अपनी कला और विद्वता के लिए राज्य-भर में प्रसिद्ध था। उसका सर्वत्र राजगुरु के रूप में सम्मान होता था।

सुनते हैं कांचीपुरं के भव्य मन्दिरों और अट्टालिकाओं के पीछे उसकी ही अनुपम प्रेरणा थी—पल्लव राजमहलों में भी उसी के स्वप्न साकार हुए थे। गगनचुम्बी मन्दिरों के कलश उसके कीर्ति-किरीट थे। स्थापत्य और शिल्प-कला में वह अपने समय का सबसे महान् कलाकार समझा जाता था।

रेखा उसकी पत्नी थी। छुटपन में ही विवाह हो गया था। आयु के साथ उसका सौन्दर्य भी खिलने लगा। एकहरा बदन। अत्यन्त रूपवती। शरीर के अंग, लगता था, किसी शिल्पी ने महीनों मेहनत कर गढ़े हों। वह स्वयं स्त्री-सौन्दर्य की परिभाषा थी, पर उसका सौन्दर्य निर्जीव-सा था। वह एक ढाँचा-सी लगती जो अभी प्राणों की प्रतीक्षा कर रही हो। वह एक चित्र के समान थी, जिसमें केवल रेखा मात्र हो, और धूप-छाँह का हाड़मांस न हो।

भाववर्मा दो-चार रेखा खींचकर अपने स्वप्न का मोटा-सा खाका बना देता, और कलाकार उस स्वप्न को भौतिक रूप दे देते। देखते-देखते बड़े-बड़े सौध, प्रासाद, दुर्ग और मन्दिर बन जाते। भाववर्मा को श्रेय मिलता, और कलाकार मूक मूर्तियों में अपना व्यक्तित्व छोड़ अस्तित्वहीन हो जाते।

पल्लव जैन थे, पर महेन्द्रवर्मन ने हिन्दू-धर्म ग्रहण किया। वह हिन्दू देवी-देवताओं का उपासक बन गया। हिन्दू-धर्म-ग्रन्थ उसके पूज्य ग्रन्थ बन गये। मूर्ति-पूजा का वह आदी हो गया। 'महाभारत' का एक-एक व्यक्ति उसके लिए पूज्य था—सारी-की-सारी महाभारत पूज्य थी। उसने उसको स्थायी स्थूल रूप देना चाहा—'महाबलिपुर' का धुँधला चित्र उसकी आँखों के सामने आया। उसने तुरन्त भाववर्मा को बुलाया—

"भाववर्मा! हम चाहते हैं कि महाभारत की प्रत्येक घटना पत्थरों पर गढ़ दी जाय ताकि प्रजा महाभारत की विशालता को जाने और उसके सन्देश को समझे।"

"हाँ, महाराज···पर···"

"हिचकने की कोई आवश्यकता नहीं है। तुम-जैसा व्यक्ति जो कांचीपुरं में महान् प्रासाद और मन्दिर बना सकता है—वह महाभारत को मूर्तिलिपि में भी लिख सकता है।"

"परन्तु···परन्तु···"

"भाववर्मा, यह तुम्हारे लिए एक महान् सुअवसर है। इसका पूरा लाभ उठाओ। ये मन्दिर और ये महल एक दिन धराशायी हो सकते हैं, पर धरा स्वयं धराशायी नहीं हो सकती। तुम प्रस्तर भूमि पर अपना महाभारत रचो जो तब तक रहे जब तक भूमि है। धन की फिक्र न करो, व्यय की चिन्ता मत करो, काम पर लग जाओ।"

"मगर···मगर···महाराज···"

"मैं समझता हूँ, भाववर्मा, तुम क्या कहने जा रहे हो? पल्लव-वंश के राज्यकाल में कलाकारों की कमी नहीं हो सकती। मैंने पिछले दिनों मन्दिर में अभ्यास और प्रतिभा नाम के एक नौजवान दम्पति को काम करते देखा था। उनके हाथ में हुनर है। वे पत्थर में भी जान डाल देते हैं। उनकी बनाई हुई रेखायें बोलती हैं—उनको ले जाओ। जितने मजदूर चाहो ले लो—कहो तो तुम्हारे रहने-खाने का इन्तजाम करने के लिए सेना भेज दूँ—अच्छा, अब तुम्हें जाने की अनुमति है।"

भाववर्मा को नया काम मिला था—कीर्ति के लिए एक नया क्षेत्र। पर वह प्रसन्न न था। उसके मन में ईर्ष्या दहक रही थी। वह न चाहता था कि उसके जीते-जी महाराज किसी और कलाकार की उसके समक्ष प्रशंसा करें। काचीपुरं के मन्दिर जगत्-प्रसिद्ध हैं तो इसलिए नहीं कि उनकी चिनाई अच्छी है, या उन पर प्रदर्शित शिल्प-कला आश्चर्यजनक है—परन्तु इसलिए कि वे भाववर्मा के भावों का भौतिक प्रतिनिधित्व करते हैं, यह भाववर्मा का विचार था।

भाववर्मा यदि अपनी कल्पना और कला के लिए प्रसिद्ध था तो वह अपने अभिमान के लिए बदनाम भी था। उसका स्वभाव चिड़चिड़ा और ईर्ष्यालु था। वह स्वयं तो चमकना ही चाहता था, पर यह भी चाहता था कि दूसरा कोई और न चमके। यदि उसकी बुद्धि लोकोत्तर चीजों की कल्पना करती थी, तो उसका अभिमान स्वार्थ के परे उसको अन्धा बना देता था। उसकी यह समझ में न आता था

कि कलाकारों को क्यों श्रेय दिया जाय, जब कि उन्हें काम करने का मौका वह स्वयं देता था।

कभी-कभी भाववर्मा-जैसे चतुर व्यक्तियों के लिए भी भावों का अभाव हो जाता। तब भाववर्मा दूसरों के भावों को अपनी कल्पना का परिधान पहनाता और अपनी प्रसिद्धि के सहारे उनको एक रूप दे देता। उसकी प्रसिद्धि की छाँह में कोई और कलाकार पनप नहीं पाता था, न भाववर्मा उन्हें पनपने ही देता था।

भाववर्मा स्वप्नद्रष्टा था, पर वह स्रष्टा न था। कला-प्रेरक था, पर स्वयं कलाकार न था। वह विचार था, आचरण न था, जब कि वह स्वयं सदा स्रष्टा और कलाकार होना चाहता था। उसने अपनी इस असफलता को ईर्ष्या और अभिमान की ओट में छुपा रखा था। लौकेषणा की अग्नि में वह अपने को ही इस तरह जलाये जा रहा था।

* * *

जब वह समुद्र के किनारे पहुँचा, जहाँ महाबलिपुरं का निर्माण होना था, वह हताश और निरुत्साह था। भले ही उसके सामने कोई उसकी प्रशंसा न करे, लेकिन दूसरों की प्रशंसा भी न करे। अभ्यास और प्रतिभा की प्रशंसा उसको अम्ल की तरह काट रही थी। पर वह उनको साथ लाये बिना भी न रह सका। राजाज्ञा थी, लाचारी थी।

तब तक भाववर्मा के भावों के सोते लगभग सूख-से गये थे। उसकी बुद्धि से इतने भाव उपजे कि उसकी बुद्धि की उपजाऊ शक्ति ही जाती रही। प्रसिद्धि इतनी थी कि जो-कुछ उपजता लोग उसको चिर-प्रतीक्षित वरदान की तरह ले लेते। पर अब भाववर्मा के मन में राजा के शब्द गूँजने लगे—'ये प्रासाद और ये मन्दिर धराशायी हो सकते हैं—कोई ऐसी चीज बनाओ जो भूमि के समान दृढ़ और अमर हो।' उसमें बनाने की अभिलाषा थी, पर क्षमता क्षीण हो चुकी थी। वह यह मन-ही-मन जानता था।

बहुत-कुछ सोचने-विचारने के बाद, उसने अभ्यास और प्रतिभा की सहायता ली। वे अभी नौजवान थे। रात-दिन अभ्यास मूर्तियाँ गढ़-गढ़कर अपनी कला को परिपक्व करता था। उसकी पत्नी उसको नित्य नये-नये भाव सुझाती, अपने प्रेम से उसका जीवन आनन्दमय और सार्थक बनाती।

जब वे शुरू-शुरू में उस प्रान्त में आये तो उन्हें लगा कि हर पत्थर कोई मूर्ति या मन्दिर हो—प्रतिभा को उनमें नये-नये रूप दिखाई देते—उन्हें गढ़ने के लिए अभ्यास की अँगुलियाँ खुजलाने लगतीं। उनके मन में नये-नये भाव, नयी-नयी कल्पनाएँ तूफानी समुद्र की तरह गरजने लगीं, वे मतवाले-से इधर-उधर फिरने लगे।

जहाँ कहीं पत्थर देखते—दोनों बैठ जाते। अभ्यास अपनी छेनी और हथौड़ा उठाता, पत्थर को मूर्ति के रूप में गढ़ने लगता। एक पत्थर पर ऊब जाता तो दूसरे पत्थर पर काम करने लगता। न खाने की फिक्र, न सोने की। न गरमी का

डर, न सरदी की परवाह। दिन-रात हथौड़े ले खुट-खुट करते रहते।

तीन वर्ष बीत गये। जहाँ देखो वहीं गढ़े हुए पत्थर थे—कोई आधा गढ़ा हुआ तो कोई पूरा। काम में न कोई क्रम था, न नियम। वहाँ मूर्तियाँ जरूर बन रही थी, पर महाभारत की कहानी नहीं लिखी जा रही थी।

भाववर्मा स्वयं कुछ कर नहीं पा रहा था। वह अपने ही विचारों में इतना उलझा हुआ था कि महाभारत के बारे में कोई विचार आते ही न थे। वह विवश था। पर समय बीतता जाता था। मजदूरों के लिए भी आवश्यक काम न था। उसने अभ्यास और प्रतिभा को बुलवाकर कहा—

"मैं तुम्हारा काम देखता रहता हूँ, बहुत अच्छा है। कई चीजें तो सचमुच तुमने खूब गढ़ी हैं—पर मैं कहना चाहता था कि उनमें कोई परस्पर सम्बन्ध नही है—तुम्हें मालूम ही है यहाँ हम महाभारत की घटनाओं का पत्थरों पर चित्रण करने आये हैं—तुम्हारी बनाई हुई चीजे अच्छी मूर्तियाँ तो हैं परन्तु उनका महाभारत से कोई सम्बन्ध नहीं है; इसलिए मैं चाहता हूँ कि तुम कोई योजना बनाओ, जिसके अनुसार काम चलता जाय।"

"हम तो सोच रहे थे कि आप योजना बना रहे हैं।"

भाववर्मा ताना ताड़ गया। उसको क्रोध भी आया, पर उसने मुसकराते हुए कहा—"महाराज तुम्हारे काम की बहुत प्रशंसा करते थे। मैं चाहता हूँ कि तुम ही योजना तैयार करो। तीन वर्ष हो गये है—अब काम बाकायदा शुरू हो जाना चाहिए।"

अभ्यास और प्रतिभा में न केवल पति-पत्नी का ही सम्बन्ध था, उनका काम में भी साझा था। प्रतिभा योजना बनाने में बहुत ही निपुण थी। उसने दस-पन्द्रह दिन मे एक योजना तैयार कर दी। काम जोर-शोर से शुरू हो गया।

समुद्र के किनारे अभ्यास कई और कलाकारों के साथ पंच पाण्डवों के रथ बनाने लगा। द्रौपदी के रथ का निर्माण तो स्वयं प्रतिभा की निगरानी में होता। अभ्यास भी उसमें खास दिलचस्पी लेता था।

जब तक काम रहता, वे दोनों खूब काम करते, फिर समुद्र के किनारे अठखेलियाँ करते घूमने जाते, गाते-बजाते, मौज उड़ाते। उनके साथ और नौजवान भी आनन्द मनाते। वे दोनों साथ के काम करने वालों में बहुत लोकप्रिय हो गये थे। उनका प्रेम आदर्श प्रेम समझा जाता था। दूसरे भी उनकी नकल करते थे। उनके बारे में कहानियाँ कहते-सुनाते।

महाबलिपुरं तब तक सुनसान ही था। सिवाय मजदूरों के वहाँ कोई रहता भी न था। एक ओर विशाल समुद्र और दूसरी ओर पहाड़ियों की पंक्ति—दक्षिण में जंगल और उत्तर में समुद्र की रेती। आने-जाने वाले भी कम थे। अभ्यास और प्रतिभा की कला अरण्य पुष्प की तरह थी, जिसे न कोई देखता, न पूछता। पर भाववर्मा कुछ और सोच रहा था। उसके हाथ में अब प्रतिभा का बनाया हुआ भावी महाबलिपुरं

का विस्तृत चित्र आ चुका था। वह अभ्यास और प्रतिभा के अभाव में भी महाबलिपुरं तैयार कर सकता था।

रथों पर काम पूरा हो गया। अभ्यास और प्रतिभा एक ऐसा मन्दिर बनाना चाहते थे, जिसके प्राकार पर महान् समुद्र भी साष्टांग किया करे। वे ऐसी जगह गये जहाँ एक पहाड़ी जीभ की तरह समुद्र के अन्दर गई हुई थी। ठीक उस पहाड़ी के अन्त में वे एक मन्दिर बनाने लगे, जिसको बौद्ध धर्मावलम्बी लोगों ने पगोड़ा कहा।

वर्षों की मेहनत से वह मन्दिर भी तैयार हो गया—छोटा-सा मन्दिर—चौकोर—जो आकाश को चुभाकर अपना अस्तित्व नहीं दिखाता था—दूर से ऐसा लगता था जैसे पत्थर हाथ जोड़कर नमस्कार का संकेत कर रहे हों। मन्दिर जैसे अपने आप मे पूर्ण था, वैसे ही उसके पत्थर भी थे। अभ्यास और प्रतिभा का परिश्रम कुछ अंश तक सफल हो गया था, यद्यपि थोड़ा काम अभी रहता था। परन्तु वे पूरी तरह थक चुके थे।

वे तब विश्राम के लिए कुछ दिनों तक कांचीपुरं में रहे। भाववर्मा भी उनके पीछे-पीछे अपनी पत्नी के साथ गया, कहीं ऐसा न हो कि अभ्यास और प्रतिभा सारे कार्य का श्रेय अपने आप ले लें। पर दो-चार बार महेन्द्रवर्मन ने स्वयं अभ्यास और प्रतिभा को बुलाकर बातचीत की, उनकी प्रशंसा की।

भाववर्मा यह जान और भी जलने लगा।

* * *

जब अभ्यास और प्रतिभा फिर महाबलिपुरं मे काम करने गये, तो भाववर्मा भी उनके साथ हो गया। उन्हे बुलाकर उसने कहा—"अब समुद्र के किनारे तो काम पूरा हो चुका है। मेरा विचार है कि कल तुम इस ऊँची पहाड़ी पर काम करो—महाराज की भी यही आज्ञा है।"

"महाराज की ? परन्तु अभी तो मन्दिर मे काम पूरा नहीं हुआ है ? मन्दिर में भगवान् की मूर्ति की स्थापना भी करनी है। शरीर जरूर बना है, पर आत्मा अभी रखनी है।"

"खैर, महाराज भी चाहते है कि तुम यह काम करो···"

"पर वह काम अधूरा छोड़कर कैसे यहाँ चले आये ?"

"चले आओ, यह मेरी आज्ञा है।" अभ्यास और प्रतिभा उसकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकते थे, पर वे ताड़ गये थे कि जरूर दाल में कुछ काला है। वे भाववर्मा को भली-भाँति जानते थे। वे कभी उसके प्रशंसक थे, पर जब उनको उसके नीचे काम करना पड़ा तो उनको उसकी नीयत मालूम हो गयी थी। वे जान गये थे कि वह प्रसिद्धि के लिये कुछ भी कर सकता है। जब किसी को काम में आनन्द नहीं मिलता तो वह प्रसिद्धि में मजा लेने लगता है। अभ्यास और प्रतिभा अब भी काम में मग्न हो आनन्द पाते थे। प्रसिद्धि की उन्हें चिन्ता न थी।

वे अगले दिन से पहाड़ी पर काम करने लगे। पहाड़ी दीवार-सी थी। उसी

दीवार पर अभ्यास और प्रतिभा बड़े-बड़े हाथी गढ़ने लगे। वे चाहते थे कि जल्दी वह काम खतम हो और वे फिर से मन्दिर के काम में लग जायें, इसलिए वे रात-दिन काम में लगे रहते।

* * *

चाँदनी खिली हुई थी—अभ्यास और प्रतिभा अपने काम में मस्त थे। भाववर्मा अपने दो-चार विश्वस्त सेवकों के साथ पहाड़ के पिछवाड़े में से आया। ईर्ष्या के मारे उसने ऊपर से अभ्यास और प्रतिभा पर एक बड़ा पत्थर लुढ़का दिया। अभ्यास और प्रतिभा वहीं गिर पड़े। वे कराहने लगे—

"ओ पापी! हमें तेरी तरह प्रसिद्धि की फिक्र नहीं है। महाबलिपुरं का श्रेय तुझे नहीं मिलेगा—यह उस मन्दिर की तरह शून्य रहेगा जिसमें कभी पूजा नहीं होती—देखनेवाले हर पत्थर में हमारा नाम खुदा हुआ पायेंगे।"

भाववर्मा ने सेवकों की मदद से पाँच-दस और बड़े-बड़े पत्थर उन पर लुढ़का दिये। अभ्यास और प्रतिभा वहीं चकनाचूर हो गये। बाद में भाववर्मा ने उन बेहथियार सेवकों को भी अपनी तलवार का शिकार बनाया।

प्रतिभा के दिये हुए खाके के अनुसार काम यथापूर्व जारी रहा। उनके बनाये हुए मन्दिर की तरह छः और मन्दिर बनाये गये। लोगों को महाबलिपुरं देखने के लिए निमन्त्रित किया जाने लगा। भाववर्मा की कीर्ति फैलने लगी।

पर अकेले में कभी-कभी वह पागल-सा हो जाता। चाँदनी को देखकर वह अपने को कमरे में बन्द कर लेता। वह उस हत्यारे की तरह था—जो पश्चात्ताप तो करता, पर पश्चात्ताप को छुपाने की कोशिश करता। उसकी बुरी हालत थी। चाँदनी में वह अभ्यास और प्रतिभा को अपना नाम खोदते देखता।

कुछ दिनों बाद महाबलिपुरं में काम बन्द हो गया। भाववर्मा उस अवस्था में काम नहीं करवा पाता था। महेन्द्रवर्मन भी जितना काम हो चुका था उससे ही सन्तुष्ट होने का प्रयत्न कर रहे थे।

* * *

जब महाराजा महेन्द्रवर्मन महाबलिपुरं का उद्घाटन करने आये तब भी भाववर्मा कुछ बड़बड़ा रहा था। महेन्द्रवर्मन ने उसकी बड़बड़ाहट को वार्धक्य की निशानी समझी। भाववर्मा का धूमधाम से सम्मान किया गया। अनेक पारितोषिक दिये गये। भूमि दी गयी। जिस शिला पर महाराजा महेन्द्रवर्मन का नाम लिखा गया था उसी पर भाववर्मा का नाम भी खोदा गया। तब तक अभ्यास और प्रतिभा अपनी मूक मूर्तियों में मिल चुके थे, उनका किसी ने नाम भी न लिया।

दिन-भर उत्सव मनाये गये। नाच-गाने हुए। पूजा-पाठ हुआ।

शाम को भाववर्मा के साथ महाराजा मन्दिरों को देखने निकले। अँधेरा हो चुका था, पर एक तरफ चन्द्रमा भी निकल रहा था। मन्दिर तक पहुँचते-पहुँचते समुद्र की लहरों पर चाँदनी खेल रही थी—और लहरें चाँदनी को पकड़ने की कोशिश

कर रही थीं।

भाववर्मा के साथ उनकी पत्नी रेखा भी थी। वह अपने पति की हालत जानती थी, वह अब भी बड़बड़ा रहा था।

महाराजा ने दो मन्दिरों का निरीक्षण किया कि भूमि जोर से हिली। तेज हवा चलने लगी। समुद्र उठने लगा। उनके देखते-देखते सामने के चारों मन्दिर लहरों ने निगल लिये। महाराज किनारे की ओर भागे। भाववर्मा भी भागा—पर भागते-भागते वह एक गिरते मन्दिर के नीचे गिर-पिसकर मर गया।

महेन्द्रवर्मन ने महाबलिपुरं का उद्घाटन तो कर दिया, पर इस दुर्घटना को अपशकुन जान, वह महाबलिपुरं में कभी रहने नहीं गये। न वह कोई बड़ी नगरी ही बन पायी। रेखा ने अपने वैधव्य के दिन कांचीपुरं में महेन्द्रवर्मन के हर्म्य में काटे।

* * *

अब भी जब कभी महाबलिपुरं में तूफान आता है और पहाड़ियों पर पत्थर लुढ़कने लगते हैं तो लोग कहते हैं कि अभ्यास और प्रतिभा खुट-खुट कर रहे हैं। वे उनको कलाकार के रूप में नहीं जानते, परन्तु पीढ़ियों से वे उनको प्रेमी-प्रेयसी के रूप में याद करते आ रहे हैं।

६

राष्ट्रद्रोही का धन

गोविन्दवल्लभ पंत

●

श्री गोविन्दवल्लभ पंत का जन्म रानीखेत, जिला अलमोड़ा में हुआ था। १९२० में असहयोग आन्दोलन में सैण्ट्रल हिन्दू कालिज, काशी से पढ़ना-लिखना छोड़कर मेरठ की 'व्याकुल भारत नाटक कम्पनी' में नाटककार नियुक्त हो गए। कम्पनी के टूट जाने पर पहाड़ चले गए और ताड़ीखेत के गांधी-आश्रम से कुछ वर्षों तक संयुक्त रहे। इसके बाद कई वर्ष तक लेखनी के ही श्रम को जीवन और जीविका का लक्ष्य बनाया। बीच-बीच में सिनेमा और नाटक कम्पनियों में भी रहे। बनारस, लखनऊ और बम्बई की प्रेसों में भी कुछ समय तक पत्रकार के रूप में कार्य किया। आजकल संगीत-नाटक-अकादमी से सम्बद्ध हैं। हिंदी-साहित्य-क्षेत्र में आपका अग्रगण्य स्थान है।

रचनाएँ

'नूरजहाँ', 'जल-समाधि', 'पर्णा', 'सुजाता', 'विष-कन्या', 'मदारी', 'चक्रकांत', 'मुक्ति के बंधन', 'वरमाला', 'राजमुकुट', 'अमिताभ', 'प्रगति की राह', 'मैत्रेय', 'फॉरगेट् मी नॉट', 'तारों के सपने' आदि।

अनेक मन्त्रियों और मित्रों का आग्रह रखने के लिए अन्त में शिवाजी ने आगरा जाकर सम्राट् औरंगजेब से भेंट करनी निश्चित कर ली। मार्ग-व्यय के लिए उन्हें दक्षिण के शाही कोष से रुपया मिला था, पर सम्राट् की अभ्यर्थना और भेंट के लिए भी तो यथायोग्य रत्नाभूषण और नकद अशर्फियों की जरूरत थी।

रुपया जुटाने के लिए एक ने बीजापुर के सेठ जाधव से रुपया छीन लेने की युक्ति बनाई। राष्ट्रद्रोह के अनेक आक्षेप थे उसके ऊपर। कहा जाता था उसने बीजापुर के सुलतान को शिवाजी के पिता शाहजी को कैद कराने में मदद दी थी।

शिवाजी के अनेक सिपाहियों ने जाकर उसका घर घेर लिया। कुछ लोगों का कहना है, एक सरदार की जाधव के साथ कुछ आपसी रंजिश थी, जिसके फलस्वरूप राजनैतिक रंग देकर उसे लूट लिया गया।

लूट की अशर्फियाँ जब शिवाजी के सामने रखी गईं तो वह बोले—"यह राष्ट्र-द्रोही की संपत्ति है, यह एक विदेशी सम्राट् को भेंट में नहीं दी जायगी। इसे किसी पवित्र दान में व्यय कर पवित्र किया जायगा।"

जब शिवाजी सदल-बल और सरदारों के साथ आगरा को चलने लगे तो मालूम नहीं कैसी स्थिति आ पड़े, इस दूरदर्शिता के लिए वह धनराशि उनके साथ रख ली गई।

शिवाजी ने आगरा जाकर सम्राट् से भेंट की। पर जैसा सोचा गया था, वह फल नहीं निकला। पंचहजारियों के बीच में आसन पाकर जो उनका अपमान हुआ, उससे उनकी तेजस्विता भड़क उठी। उसके लिए कड़े पहरे से उनका मकान घेर लिया गया, वह नजरबंद हो गये। वहाँ उन्हें हर तरह खाने-पीने, सुख-आराम की सुविधा थी, पर उनकी सार वस्तु—स्वतन्त्रता अपहृत हो गई! उनका राष्ट्र-स्वप्न जहाँ-का-तहाँ रह गया।

शिवाजी का पुत्र शंभाजी भी उनके साथ था। उसके लिए सम्राट् ने अन्तःपुर तक उन्मुक्त कर दिया था कि मराठों के उस नेता के मन में समझौते के लिए उदार द्वार खुले रहें। औरंगजेब कूटनीतिज्ञ था, शिवाजी क्या कुछ कम थे?

वह उस राष्ट्रद्रोही का धन सिरहाने रखकर सोचते, इससे द्वार पर के कुछ प्रहरी खरीद लिए जा सकते हैं। लेकिन फौलाद खाँ जो उनका अधीक्षक था, उसकी आँखों में धूल झोंक देना सहज न था।

शिवाजी बीमार हो गये, नहीं-उन्होंने बीमारी का आवाहन किया। उन्होंने खाना-पीना छोड़ दिया। रात-दिन की चिन्ता उन्हें खाने लगी। वह पीले पड़ गये। उनके गाल पिचक गए, आँखें धँस गईं। कोई कदम चलने की शक्ति न रही।

शाही हकीम ने उनकी परीक्षा कर औरंगजेब को खबर दी कि बीमार की हालत नाजुक है और उसे कोई दवा खानी मंजूर नहीं। वह अन्त समय में कुछ दान-धर्म करना चाहता है। यह आज्ञा सहर्ष दे दी गई और शिवाजी प्रतिदिन कुलियों के कन्धों पर फल-फूल, मेवे-मिष्ठान्नों के बोझ बाहर भेजने लगे।

इस प्रकार कई दिन बीत गये। शिवाजी के बन्धु हीराजी ने शंभाजी के पास आकर पूछा—"महाराज, कैसा है स्वास्थ्य ?"

"पहले यह बताओ, सेनापतियों के साथ मेरी सेना रायगढ़ को वापस गई या नहीं ?"

"चली गई, महाराज।"

"बादशाह या उनके किसी मन्त्री ने कोई आपत्ति तो नहीं की ?"

"नहीं, आपको इस तरह यहाँ अकेले और असहाय कर देने से वे सब खुश हैं।"—हीराजी ने उत्तर दिया और अपने साथ लाई हुई एक लाठी उनके निकट रख दी।

शिवाजी बोले—"बना लाए तुम यह लाठी ?"

"हाँ महाराज, उस राष्ट्रद्रोही के धन की बाकी अशर्फियाँ और हीरे इसमें भर दिये गये हैं। बहुत भारी हो गई यह।"

"चौबीसों घंटे मेरे ऊपर गिद्ध-दृष्टि रखनेवाले फौलादखाँ ने तो इसकी जाँच नहीं की ?"

"नहीं महाराज ! वह आज बीमार है, चारपाई पर मुँह ढाँके पड़ा है।"

शिवाजी के मुखमण्डल पर प्रसन्नता की लहर दौड़ गई। वह अपनी शय्या पर उठ बैठे—"फौलादखाँ बीमार हो गया तो फिर मुझे अच्छा हो जाना चाहिए।"

इसी समय मिठाइयों की टोकरियाँ लिए कुली आ पहुँचे और उनके साथ दान का संकल्प करानेवाले पण्डितजी भी जो शिवाजी के साथ आये हुए सरदारों में से ही एक थे।

शिवाजी ने कहा—"हीराजी, तुम कहते थे अब मिठाइयों की टोकरियों को कोई संशय से नहीं देखता ?"

"नहीं महाराज !"

"हीराजी, लो तुम मेरे हाथ के इस सोने के कड़े को पहन लो। मुँह ढाँककर मेरी शय्या पर सो जाओ। केवल यह हाथ मेरी तरह बाहर निकाले रहो कि प्रहरियों को मेरा धोखा होता रहे। मैं अच्छा हो गया," शिवाजी शय्या छोड़कर बाहर आने लगे।

हीराजी ने रोक लिया उन्हें—"कुछ खा लीजिए, महाराज।"

शिवाजी ने बात मान ली। हीराजी शिवाजी का कड़ा पहनकर उनकी शय्या पर हाथ बाहर निकालकर सो गये और वे दोनों पिता-पुत्र दो मिठाइयों की टोकरियों में बँध गये। लाठी शिवाजी ने सँभालकर रख ली।

पण्डितजी ने संकल्प पढ़ा जिसका मुख्य भाव था—"आज के दिन शुभ तिथि-

मुहूर्त्त में शिवाजी का राष्ट्र की सेवा में विनियोग किया गया।" शय्या पर के हाथ में लिया हुआ जल भूमि पर छोड़ दिया गया।

कुलियों ने आकर दोनों टोकरियाँ डण्डों से लटकाकर कन्धों पर रख लीं। पण्डितजी उनके साथ-साथ नियुक्त स्थान को चले।

उनके बाहर निकलते ही सावधानी से हीराजी भी शय्या से उठ खड़े हुए और सोने का कड़ा उतारकर बाहर को चले, बाहर प्रहरियों में हँसी-मजाक चल रही थी।

हीराजी ने हाथ जोड़कर उनसे विनय की—"भाई, कल रात-भर महाराज शिवाजी को नींद नहीं आई है। इस समय जरा आँखें लगी हैं। दया कर धीरे-धीरे बोलो।"

प्रहरियों ने छेद की राह से कैदी को देखा। हीराजी बड़ी युक्ति से शय्या पर जिस नकली शिवाजी की रचना कर ढक गए थे, उस पर उनका कोई सन्देह नहीं बना। वे फिर पहले की तरह अपने मनोविनोद में व्यस्त हो गये।

हीराजी तेजी से आगे को बढ़ गए। दक्षिण की सड़क पर एक टूटे हुए शिव-मन्दिर में सबका मिलन निश्चित हुआ था। हीराजी भी एक और साथी को लेकर वहीं जा पहुँचे। उन्होंने देखा, कुली मजूरी देकर विदा कर दिये गये थे। टोकरियाँ तोड़कर धूनी में जल रही थीं। पिता-पुत्र और पण्डितजी तीनों गेरुवे वस्त्र पहन सारे शरीर में भभूत रमाकर पहचान से परे हो गये थे। हीराजी और तीसरे सरदार ने भी कपड़े बदल साधुओं का वेश धारण किया।

दक्षिण का मार्ग छोड़कर यह साधुओं का दल चिमटे बजाता हुआ और अलख जगाता मथुरा की ओर चला। पकड़े जाने के भय से उन्होंने दक्षिण का मार्ग छोड़ दिया। उनके कपड़ों, जूतों और कमण्डलों में अशर्फियाँ और जवाहरात छिपे हुए थे। शिवाजी के हाथ में जाधव की तिजोरी से लूटे हुए धन से भरी लाठी थी और बहुत-से बहुमूल्य रत्न उनके अंग-प्रत्यंग में छिपे थे।

मथुरा पहुँचकर उन्होंने शंभाजी को वहीं एक मित्र के यहाँ छोड़ जाना निश्चित किया। वह केवल नौ वर्ष का बालक ही तो था। मार्ग के वेग-भरे श्रम से वह बहुत थक गया था, इसके अतिरिक्त उसका साथ सहज ही उनके अन्वेषकों के संशय को उभार देनेवाला था। शंभाजी की देख-रेख और भरण-पोषण के व्यय-स्वरूप शिवाजी ने अशर्फियों से भरी लाठी अपने मित्र को दे देनी चाही, पर उन्होंने स्वीकार नहीं की।

वह बोले—"महाराज, अभी आपको कठिन मार्ग से होकर जाना है। न जाने कैसी आवश्यकताएँ आकर सामने खड़ी हो जाएँ।"

शिवाजी ने उस राष्ट्रद्रोही के धन का मोह अपने हाथों और हृदय से दूर नहीं किया। अपने तीनों सरदारों के साथ उन्होंने मथुरा में दाढ़ी-मूँछ मुँड़ा दीं। शंभाजी को उचित उपदेश देकर उन लोगों ने प्रयाग को प्रस्थान किया।

मुगलों की राजधानी में जब शाम को शिवाजी के उड़ जाने का भेद खुला तो

सब हक्का-बक्का रह गए। फौलादखाँ ने सम्राट् की सेवा में निवेदन किया—"जहाँपनाह, हमारी चौकसी मे कुछ भी कसर न थी। जिस तरह हकीम साहब को उसने बीमारी का धोखा दे दिया ऐसे ही वह चींटी या मक्खी का रूप रखकर सिपाहियों की आँखों में धूल डालकर चल दिया। सभी लोग कहते हैं, वह जादू जानता है।"

उसी समय चारों दिशाओं को घुड़सवार दौड़ाए गये। दक्षिण के मार्ग पर अधिक सम्भार दिया गया पर और दिशाएँ भी अछूती न छोड़ी गईं। शिवाजी के दल को लगभग एक दिन की अग्रता मिल गई थी, पर शाही सधे हुए घुड़सवारों के आगे उनकी पैदल तेजी का क्या मुकाबला था?

वे प्रयाग पहुँचे भी न थे। रात को निकट के शिव-मन्दिर में विश्राम कर रहे थे कि एक घुड़सवार फौजदार ने कई सिपाहियों के साथ आकर उन्हें घेर लिया।

शिवाजी साहस के साथ बाहर निकल आये। उन्होंने बेधड़क पूछा—"क्या बात है? क्यों असमय साधुओं को छेड़ते हो?"

"आप सम्राट् की कैद से भाग आए हैं।"

"हम साधू हैं, तुम्हें धोखा हो गया।"

"आप अपना कपड़ा अलग करें। आपके गले में जनेऊ और आपकी इष्टदेवी भवानी की मूर्त्ति है। साधू की ऐसी कोई मान्यता नहीं। आप मुझसे नहीं छिप सकते, आप शिवाजी हैं। मैंने पहचान लिया।"

"और मैंने भी तो, तू मेरी फौज में सिपाही था। तूने बरसों मेरा नमक खाया है।"

फौजदार ने बड़ी विनम्रता से हाथ जोड़कर कहा—"लेकिन महाराज, अब दूसरे का नमक खा रहा हूँ। उसके प्रति कर्त्तव्य पूरा करना ही होगा।"

"अरे लोभ के कीड़े, तेरे कर्त्तव्य की भावना को मैं पहचानता हूँ। थोड़े-से अधिक सोने-चाँदी के टुकड़ों पर तूने एक विदेशी के हाथ में अपनी सत्ता बेच दी!" शिवाजी के हाथ में वही अशर्फियों से भरी लाठी थी। उन्होंने एक बार उस लाठी को उस फौजदार के सिर पर बजाकर उस पर वे अशर्फियाँ बरसा देने की सोची, पर तुरन्त ही उन्होंने विचार किया—'नहीं, एक राष्ट्रद्रोही के धन से दूसरा राष्ट्रद्रोही नहीं खरीदा जायगा।'

फौजदार हाथ जोड़कर बोला—"आप मेरे साथ चलिए सम्राट् के पास। आप का एक बाल भी बांका न होने दिया जायगा।"

"अपना हाथ आगे बढ़ा, मैं थूकता हूँ उस पर!"—शिवाजी ने बलपूर्वक उसका हाथ पड़ककर उस पर थूक दिया।

दो प्रकाश के पुंज उसके हाथ में झलझलाने लगे। वह उन पर मुग्ध-जड़ होकर उन्हें देखता ही रह गया।

शिवाजी बोले—"ये एक लाख रुपए मूल्य के दो हीरे हैं। अगर तेरा कर्त्तव्य

इन पर भुन सकता है तो उसे भून ले और अगर तू मुझे पकड़कर आगरा ले जाना ही चाहता है तो ला मैं इन दोनों हीरों को निगलकर प्राण तज दूँगा और जीते-जी न पहुँचूँगा वहाँ। याद रख, मुझे पकड़ ले जाने का जो पारितोषिक तुझे वहाँ मिलेगा, उससे यह मूल्य कई गुना अधिक है, तुरंत ही निर्णय कर।"

फौजदार ने वे दोनों थूक में सने हुए हीरे सावधानी से सँभालकर रख लिए। उसने अपने साथियों के पास आकर कहा—"धोखा हो गया, वह शिवाजी नहीं हैं।"

शिवाजी को यह पक्का विश्वास था कि वह फौजदार उनके प्रति विश्वासघात कदापि नहीं करेगा, फिर भी उन्होंने उसी रात कूच कर देने में कल्याण समझा।

प्रयाग से काशी होते हुए वे लोग गया पहुँचे, वहाँ से अब उन्होंने स्वदेश की ओर अपनी राह मोड़ी। गोंडवाना होते हुए वे लोग गोदावरी नदी के निकट पहुँचे।

एक रात को मार्ग भूलकर भटक गए। दिन-भर के परिश्रम से वे चूर-चूर हो गए थे। उनके भोजन का सारा संग्रह चुक गया था। न कहीं पास में कोई गाँव या दूकान ही उन्हें मिली कि वे कुछ खाने-पीने को मोल ले सकें।

शिवाजी के हाथ में वह अशर्फियों की भरी लाठी अब बहुत भारी हो गई थी। रह-रहकर भूख की बेकली से उनके मन में यह विचार आता था कि उनके तीनों साथियों को भोजन देकर जो उनकी प्राण-रक्षा करता उसे वे राष्ट्रद्रोही की सारी सम्पत्ति समर्पित कर देते।

अँधेरे और मार्गहीन जंगल में जब वे भटक रहे थे अचानक उन्होंने दूर पर एक क्षीण प्रकाश देखकर कहा—"भगवान् का धन्यवाद है। हम अपनी परीक्षा में उत्तीर्ण हो गए। यह अशर्फियों की लाठी मैं उस दूर पर के क्षीण प्रकाश को समर्पित करता हूँ जिसने हमारी मुक्ति-मार्ग के इस सबसे अँधेरे पक्ष में आशा और विश्वास की चिनगारी जगाई है। मेरे साथियो, शक्ति-सचय करो, अब हमारे मार्ग की सारी कठिनाइयाँ हल हो चुकीं।"

शिवाजी के वे तीनों साथी क्षीणबल और हतबुद्धि होकर जब पेड़ के नीचे पड़े हुए थे; अपना पेट भरने की उन्हें कोई आशा न थी, प्रत्युत वे किन्हीं भूखे भेड़ियों के भोजन बन जायेंगे—ऐसा विश्वास जरूर था। ऐसी निश्चित स्थिति में पड़े हुए जब वे धीरे-धीरे मृत्यु के मुख में चले जा रहे थे, अचानक अपने नेता की अमृत-वाणी सुनकर वे सब-के-सब उठ खड़े हो गये।

तीनों साथियों ने एक दृष्टि कर उस ज्योति-स्फुलिंग को देखा। उस दीप्ति-कण से वे सब-के-सब नवीन प्राणों में जी उठे। नई स्फूर्ति और शक्ति से तुरन्त ही उस ओर दौड़ पड़े। वहाँ जाकर उन्होंने देखा, आँगन में तुलसी-मण्डप में एक क्षीण दीपक जल रहा था। उसके दिव्य प्रकाश में एक वृद्धा हाथ जोड़कर प्रार्थना कर रही थी।

शिवाजी ने बाहर से शृंखला झनझनाई। वृद्धा ने किवाड़ खोले। चार साधुओं को द्वार पर खड़ा देखकर उसने चारों की पद-धूलि माथे पर चढ़ाई और अपने को धन्य माना।

उसने उन चारों के हाथ-पैर धुलाकर उन्हें आसनों पर बिठाया और उसी समय उनके भोजन का प्रबन्ध किया। उसके दो लड़के और सयानी लड़की सभी उन अतिथियों के सत्कार में जुट गये।

शिवाजी ने अपने साथियों के साथ भोजन करने के उपरान्त कहा—"हे माता, तुम धन्य हो। तुमने हम चारों को नवीन प्राण दिये, नहीं तो हम असहाय उस जंगल में आज अवश्य ही किसी जंगली जानवर के ग्रास हो गये होते। तुम्हारा यह दीपक धन्य है जिसने हमें मार्ग दिखाया और तुम-जैसी दया-माया-भरी माता के दर्शन कराए।"

वृद्धा बोली—"क्या सेवा की मैंने, कुछ भी नहीं! करती, अगर शिवाजी के सैनिकों द्वारा हम लूट न लिए गये होते। वे हमारा सर्वस्व हरण कर ले गये। इसी शोक में मेरे पति चल बसे। गोपालन और खेती से हम यहाँ किसी प्रकार जीवन-यापन कर रहे हैं। लड़की सयानी हो गई और उसके विवाह की भारी चिन्ता है।"

शिवाजी ने चुपचाप हीराजी से कहा—"हीराजी, मैं समझता हूँ राष्ट्रद्रोही के धन का सबसे बड़ा उपयोग आज हमें मिला।" उन्होंने लाठी में सुरक्षित तमाम अशर्फियाँ निकालकर माता के चरणों में रख दीं।

हीराजी ने काँपती हुई वाणी में पूछा—"माँ, क्या तुम जाधवजी की पत्नी हो?"

वृद्धा की स्मृति का बाँध टूट पड़ा। छलछलाती हुई आँखों से उसने उत्तर दिया—"हाँ, मैं ही वह अभागिनी हूँ।"

और रायगढ़ पहुँचकर जब तक शिवाजी ने एक अच्छी धनराशि जाधवजी की विधवा और उनकी लड़की के विवाह के लिए नहीं भेजी, तब तक उनके प्राणों में शत-शत शूल बिंधते रहे।

६

दुखवा मैं कासे कहूँ मोरी सजनी

चतुरसेन शास्त्री

●

सर्वतोमुखी प्रतिभा के धनी आचार्य चतुरसेन शास्त्री का जन्म सन् १८९१ में हुआ। आपने अपने जीवन का आरंभ वैद्य के रूप में किया। वैद्यक करते-करते ही आपका झुकाव साहित्य-सृजन की ओर हुआ और हजारों रुपये मासिक की आय को ठुकराकर आप पूर्णरूपेण साहित्य-साधना में ही लग गए।

उपन्यास, कहानी, नाटक, गद्य-काव्य, धर्म, राजनीति, इतिहास, स्वास्थ्य और चिकित्सा—सभी विषयों पर आपने अपनी लौह-लेखनी चलाई। आचार्यजी की लिखने की गति बड़ी तीव्र थी और अपने जीवनकाल में आपने सौ से भी अधिक महत्त्वपूर्ण मौलिक कृतियों की सृष्टि की।

'पत्थर युग के दो बुत' लिखने के बाद हम उनकी नई कृति की प्रतीक्षा ही करते रहे कि २ फरवरी, १९६० को उन्होंने सदा के लिए मौन धारण कर लिया।

रचनाएँ

'सोना और खून', 'गोली', 'वैशाली की नगर-वधू', 'सोमनाथ', 'खग्रास', 'वयं-रक्षामः', 'अपराजिता', 'पग-ध्वनि', 'मेरी प्रिय कहानियाँ', 'आभा', 'बगुला के पंख', 'उदयास्त', 'पत्थर-युग के दो बुत' आदि।

गर्मी के दिन थे। बादशाह ने उसी फागुन में सलीमा से नई शादी की थी। सल्तनत के झंझटों से दूर रहकर नई दुलहिन के साथ प्रेम और आनन्द की कलोल करने वह सलीमा को लेकर कश्मीर के दौलतखाने में चले आये थे।

रात दूध में नहा रही थी। दूर के पहाड़ों की चोटियाँ, बर्फ से सफेद होकर चाँदनी में बहार दिखा रही थीं। आरामबाग के महलों के नीचे पहाड़ी नदी बल खाकर बह रही थी।

मोतीमहल के एक कमरे में शमादान जल रहा था, और उनकी खुली खिड़की के पास बैठी सलीमा रात का सौन्दर्य निहार रही थी। खुले हुए बाल उसकी फीरोजी रंग की ओढ़नी पर खेल रहे थे। चिकन के काम से सजी और मोतियों से गुथी हुई उस फीरोजी रंग की ओढ़नी पर, कसी हुई कमखाब की कुरती और पन्नों की कमर-पेटी पर अंगूर के बराबर बड़े मोतियों की माला झूम रही थी। सलीमा का रंग भी मोती के समान था। उसकी देह की गठन निराली थी। संगमरमर के समान पैरों में जरी के काम के जूते पड़े थे, जिन पर दो हीरे धक्-धक् चमक रहे थे।

कमरे में एक कीमती ईरानी कालीन का फर्श बिछा हुआ था, जो पैर रखते ही हाथ-भर नीचे धँस जाता था। सुगन्धित मसालों से बने शमादान जल रहे थे। कमरे में चार पूरे कद के आइने लगे थे। संगमरमर के आधारों पर, सोने-चाँदी के फूलदानों में, ताजे फूलों के गुलदस्ते रखे थे। दीवारों और दरवाजों पर चतुराई से गुथी हुई नागकेसर और चम्पे की मालाएँ झूल रही थीं, जिनकी सुगन्ध से कमरा महक रहा था। कमरे में अनगिनत बहुमूल्य कारीगरी की देश-विदेश की वस्तुएँ करीने से सजी हुई थीं।

बादशाह दो दिन से शिकार को गये थे। इतनी रात होने पर भी नहीं आये थे। सलीमा खिड़की में बैठी प्रतीक्षा कर रही थी। सलीमा ने उकताकर दस्तक दी। एक बाँदी दस्तबस्ता हाजिर हुई।

बाँदी सुन्दर और कमसीन थी। उसे पास बैठने का हुक्म देकर सलीमा ने कहा—

"साकी, तुझे बीन अच्छी लगती है या बाँसुरी?"

बाँदी ने नम्रता से कहा—"हुजूर जिसमें खुश हों।"

सलीमा ने कहा—"पर तू किसमें खुश है?"

बाँदी ने कम्पित स्वर में कहा—"सरकार! बाँदियों की खुशी ही क्या!"

सलीमा हँसते-हँसते लोट गई। बाँदी ने वंशी लेकर कहा—"क्या सुनाऊँ?"

बेगम ने कहा—"ठहरो, कमरा बहुत गरम मालूम देता है। इसके तमाम दरवाजे और खिड़कियाँ खोल दे। चिरागों को बुझा दे, चटखती चाँदनी का लुत्फ उठाने दे, और वे फूल-मालाएँ मेरे पास रख दे।"

बाँदी उठी। सलीमा बोली—"सुन पहले एक गिलास शरबत दे, बहुत प्यासी हूँ।"

बाँदी ने सोने के गिलास मे खुशबूदार शरबत बेगम के सामने ला धरा। बेगम ने कहा—"उफ्! यह तो बहुत गर्म है। क्या इसमें गुलाब नहीं दिया?"

बाँदी ने नम्रता से कहा—"दिया तो है सरकार!"

"अच्छा, इसमें थोड़ा-सा इस्तंबोल और मिला।"

साकी गिलास लेकर दूसरे कमरे में चली गई। इस्तंबोल मिलाया, और भी एक चीज मिलाई। फिर वह सुवासित मदिरा का पात्र बेगम के सामने ला धरा।

एक ही साँस में उसे पीकर बेगम ने कहा—"अच्छा, अब सुन। तूने कहा था कि तू मुझे प्यार करती है; सुना, कोई प्यार का ही गाना सुना।"

इतना कह और गिलास को गलीचे पर लुढ़काकर मदमाती सलीमा उस कोमल मखमली मसनद पर खुद भी लुढ़क गई, और रस-भरे नेत्रों से साकी की ओर देखने लगी। साकी ने वंशी का सुर मिलाकर गाना शुरू किया—

"दुखवा मैं कासे कहूँ मोरी सजनी—"

बहुत देर तक साकी की वंशी और कण्ठ-ध्वनि कमरे में घूम-घूमकर रोती रही। धीरे-धीरे साकी खुद भी रोने लगी। सलीमा मदिरा और यौवन के नशे में चूर होकर झूमने लगी।

गीत खतम करके साकी ने देखा, सलीमा बेसुध पड़ी है। शराब की तेजी से उसके गाल एकदम सुर्ख हो गये हैं, और तांबूल-राग-रंजित होंठ रह-रहकर फड़क रहे हैं। साँस की सुगन्ध से कमरा महक रहा है। जैसे मन्द पवन से कोमल पत्ती काँपने लगती है, उसी प्रकार सलीमा का वक्षःस्थल धीरे-धीरे काँप रहा है। प्रस्वेद की बूँदें ललाट पर दीपक के उज्ज्वल प्रकाश में मोतियों की तरह चमक रही हैं।

वंशी रखकर साकी क्षण-भर बेगम के पास आकर खड़ी हुई। उसका शरीर काँपा, आँखें जलने लगीं, कंठ सूख गया। वह घुटने के बल बैठकर बहुत धीरे-धीरे अपने आँचल से बेगम के मुख का पसीना पोंछने लगी। इसके बाद उसने झुककर बेगम का मुँह चूम लिया।

फिर ज्यों ही उसने अचानक आँख उठाकर देखा, खुद दीन-दुनिया के मालिक शाहजहाँ खड़े उसकी यह करतूत अचरज और क्रोध से देख रहे हैं।

साकी को साँप डस गया। वह हतबुद्धि की तरह बादशाह का मुँह ताकने लगी। बादशाह ने कहा—"तू कौन है? और यह क्या कर रही थी?"

साकी चुप खड़ी रही। बादशाह ने कहा—"जवाब दे!"

साकी ने धीमे स्वर में कहा—"जहाँपनाह! कनीज अगर कुछ जवाब न दे, तो?"

बादशाह सन्नाटे में आ गये—'बाँदी की इतनी हिम्मत?'

उन्होंने फिर कहा—"मेरी बात का जवाब नहीं ? अच्छा, तुझे नंगी करके कोड़े लगाये जायेंगे !"

साकी ने अकपित स्वर में कहा—"मैं मर्द हूँ !"

बादशाह की आँखों में सरसों फूल उठी। उन्होंने अग्निमय नेत्रों से सलीमा की ओर देखा। वह बेसुध पड़ी सो रही थी। उसी तरह उसका भरा यौवन खुला पड़ा था। उनके मुँह से निकला—'उफ्! फाहशा !' और तत्काल उनका हाथ तलवार की मूठ पर गया। फिर उन्होंने कहा—"दोजख के कुत्ते ! तेरी यह मजाल !"

फिर कठोर स्वर से पुकारा—"मादूम !"

एक भयंकर रूपवाली तातारी औरत बादशाह के सामने अदब से आ खड़ी हुई। बादशाह ने हुक्म दिया—"इस मर्दूद को तहखाने में डाल दे, ताकि बिना खाए-पिए मर जाय।"

मादूम ने अपने कर्कश हाथों में युवक का हाथ पकड़ा और ले चली। थोड़ी देर बाद दोनों एक लोहे के मजबूत दरवाजे के पास आ खड़े हुए। तातारी बाँदी ने चाभी निकाल दरवाजा खोला, और कैदी को भीतर ढकेल दिया। कोठरी की गच कैदी का बोझ ऊपर पड़ते ही काँपती हुई नीचे धसकने लगी !

* * *

प्रभात हुआ। सलीमा की बेहोशी दूर हुई। चौंककर उठ बैठी। बाल संवारे, ओढ़नी ठीक की, और चोली के बटन कसने को आईने के सामने जा खड़ी हुई। खिड़कियाँ बन्द थीं। सलीमा ने पुकारा—"साकी ! प्यारी साकी ! बड़ी गर्मी है, जरा खिड़की तो खोल दे। निगोड़ी नींद ने तो आज गजब ढा दिया ! शराब कुछ तेज थी।"

किसी ने सलीमा की बात न सुनी। सलीमा ने जरा जोर से पुकारा—"साकी !"

जवाब न पाकर सलीमा हैरान हुई। वह खुद खिड़की खोलने लगी। मगर खिड़कियाँ बाहर से बन्द थीं। सलीमा ने विस्मय से मन-ही-मन कहा—'क्या बात है ? लौंडियाँ सब क्या हुईं ?'

वह द्वार की तरफ चली। देखा, एक तातारी बाँदी नंगी तलवार लिए पहरे पर मुस्तैद खड़ी है। बेगम को देखते ही उसने सिर झुका लिया।

सलीमा ने क्रोध से कहा—"तुम लोग यहाँ क्यों हो ?"

"बादशाह के हुक्म से।"

"क्या बादशाह आ गये ?"

"जी हाँ।"

"मुझे इत्तिला क्यों नहीं की ?"

"हुक्म नहीं था।"

"बादशाह कहाँ हैं ?"

"जीनतमहल के दौलतखाने में।"

सलीमा के मन में अभिमान हुआ। उसने कहा—'ठीक है, खूबसूरती की हाट में

जिनका कारबार है, वे मुहब्बत को क्या समझेंगे ? तो अब जीनतमहल की किस्मत खुली !'

तातारी स्त्री चुपचाप खड़ी रही। सलीमा फिर बोली—"मेरी साकी कहाँ है ?"

"कैद में।"

"क्यों ?"

"जहाँपनाह का हुक्म ?"

"उसका कुसूर क्या था ?"

"मैं अर्ज नहीं कर सकती।"

"कैदखाने की चाभी मुझे दे, मैं अभी उसे छुड़ाती हूँ।"

"आपको अपने कमरे से बाहर जाने का हुक्म नहीं है।"

"तब क्या मैं भी कैद हूँ ?"

"जी हाँ।"

सलीमा की आँखों में आँसू भर आए। वह लौटकर मसनद पर गड़ गई, और फूट-फूटकर रोने लगी। कुछ ठहरकर उसने एक खत लिखा—

'हुजूर ! कूसूर माफ फर्मावें। दिन-भर थकी होने से ऐसी बेसुध हो गई कि हुजूर के इस्तकबाल में हाजिर न रह सकी। और मेरी उस लौंडी को भी जाँबख्शी की जाय। उसने हुजूर के दौलतखाने में लौट आने की इत्तिला मुझे वाजिबी तौर पर न देकर बेशक भारी कुसूर किया है। मगर वह नई, कमसिन, गरीब और दुखिया है।

—कनीज

सलीमा'

चिट्ठी बादशाह के पास भेज दी गई। बादशाह ने आगे होकर कहा—"क्या लाई है ?"

बाँदी ने दस्तबस्ता अर्ज की—"खुदावन्द ! सलीमा बीबी की अर्जी है।"

बादशाह ने गुस्से से होंठ चबाकर कहा—"उससे कह दे कि मर जाय !" इसके बाद खत में एक ठोकर मारकर उन्होंने उधर से मुँह फेर लिया।

बाँदी मलिका के पास लौट आई। बादशाह का जवाब सुनकर सलीमा धरती में बैठ गई। उसने बाँदी को बाहर जाने का हुक्म दिया, और दरवाजा बन्द करके फूट-फूटकर रोई। घण्टों बीत गये; दिन छिपने लगा। सलीमा ने कहा—'हाय ! बादशाहों की बेगम होना भी क्या बदनसीबी है ! इन्तजारी करते-करते आँखें फूट जाएँ, मिन्नतें करते-करते जबान घिस जाए, अदब करते-करते जिस्म टुकड़े-टुकड़े हो जाए, फिर भी इतनी-सी बात पर कि मैं जरा सो गई, उनके आने पर जग न सकी, इतनी सजा ! इतनी बेइज्जती ! तब मैं बेगम क्या हुई ? जीनत और बाँदियाँ सुनेंगी तो क्या कहेंगी ? इस बेइज्जती के बाद मुँह दिखाने-लायक कहाँ रही ? अब तो मरना ही ठीक है। अफसोस ! मैं किसी गरीब किसान की औरत क्यों न हुई !'

धीरे-धीरे स्त्रीत्व का तेज उसकी आत्मा में उदय हुआ। गर्व और दृढ़ प्रतिज्ञा के चिह्न उसके नेत्रों में छा गये। वह साँपिन की तरह चपेट खाकर उठ खड़ी हुई।

उसने एक और खत लिखा—

"दुनिया के मालिक ! आपकी बीवी और कनीज होने की वजह से मैं आपके हुक्म को मानकर मरती हूँ। इतनी बेइज्जती पाकर एक मलिका का मरना ही मुनासिब भी है। मगर इतने बड़े बादशाह को औरतों को इस कदर नाचीज तो न समझना चाहिए कि एक अदना-सी बेवकूफी की इतनी कड़ी सजा दी जाये। मेरा कुसूर सिर्फ इतना ही था कि मैं बेखबर सो गई थी। खैर, सिर्फ एक बार हुजूर को देखने की ख्वाहिश लेकर मरती हूँ। मैं उस पाक परवरदिगार के पास जाकर अर्ज करूँगी कि वह मेरे शौहर को सलामत रखे।

—सलीमा"

खत को इत्र से सुवासित करके ताजे फूलों के एक गुलदस्ते में इस तरह रख दिया कि जिससे किसी की उस पर फौरन ही नजर पड़ जाय। इसके बाद उसने जवाहरात की पेटी से एक बहुमूल्य अँगूठी निकाली, और कुछ देर तक आँखें गड़ा-गड़ाकर उसे देखती रही। फिर उसे चाट गई !

बादशाह शाम की हवाखोरी को नजर-बाग में टहल रहे थे। दो-तीन खोजे घबराए हुए आये, और चिट्ठी पेश करके अर्ज की—"हुजूर, गजब हो गया ! सलीमा बीवी ने जहर खा लिया है, और वह मर रही हैं !"

क्षण-भर में बादशाह ने खत पढ़ लिया। झपटे हुए सलीमा के महल में पहुँचे। प्यारी दुलहन सलीमा जमीन में पड़ी है। आँखें ललाट पर चढ़ गई हैं। रंग कोयले के समान हो गया है। बादशाह से न रहा गया। उन्होंने घबराकर कहा—"हकीम, हकीम को बुलाओ !" कई आदमी दौड़े।

बादशाह का शब्द सुनकर सलीमा ने उनकी तरफ देखा, और धीमे स्वर में कहा—"जहे-किस्मत !"

बादशाह ने नजदीक बैठकर कहा—"सलीमा ! बादशाह की बेगम होकर क्या तुम्हें यही लाजिम था ?"

सलीमा ने कष्ट से कहा—"हुजूर ! मेरा कुसूर बहुत मामूली था।"

बादशाह ने कड़े स्वर में कहा—"बदनसीब ! शाही जनानखाने में मर्द को वेष बदलकर रखना मामूली कुसूर समझती है ? कानों पर यकीन कभी न करता, मगर आँखों-देखी को भी झूठ मान लूँ ?"

तड़पकर सलीमा ने कहा—"क्या ?"

बादशाह डरकर पीछे हट गये। उन्होंने कहा—"सच कहो, इस वक्त तुम खुदा की राह पर हो, यह जवान कौन था ?"

सलीमा ने अचकचाकर पूछा—"कौन जवान ?"

बादशाह ने गुस्से से कहा—"जिसे तुमने साकी बनाकर पास रखा था।"

सलीमा ने घबराकर कहा—"है ! क्या वह मर्द है ?"

बादशाह—"तो क्या तुम सचमुच यह बात नहीं जानतीं ?"

सलीमा के मुँह से निकला—"या खुदा !"

फिर उसके नेत्रों से आँसू बहने लगे। वह सब मामला समझ गई। कुछ देर बाद बोली—"खाविंद ! तब तो कुछ शिकायत ही नहीं; इस कुसूर की तो यही सजा मुनासिब थी। मेरी बदगुमानी माफ फर्माई जाय। मैं अल्लाह के नाम पर पड़ी कहती हूँ, मुझे इस बात का कुछ भी पता नही है।"

बादशाह का गला भर आया। उन्होंने कहा—"तो प्यारी सलीमा ! तुम बेकुसूर ही चलीं ?" बादशाह रोने लगे।

सलीमा ने उनका हाथ पकड़कर अपनी छाती पर रखकर कहा—"मालिक मेरे ! जिसकी उम्मीद न थी, मरते वक्त वह मजा मिल गया। कहा-सुना माफ हो, और एक अर्ज लौंडी की मंजूर हो।"

बादशाह ने कहा—"जल्दी कहो, सलीमा !"

सलीमा ने साहस से कहा—"उस जवान को माफ कर देना।"

इसके बाद सलीमा की आँखों से आँसू बह चले, और थोड़ी ही देर में वह ठंडी हो गई !

बादशाह ने घुटनों के बल बैठकर उसका ललाट चूमा, और फिर बालक की तरह रोने लगे।

* * *

गजब के अँधेरे और सर्दी में युवक भूखा-प्यासा पड़ा था। एकाएक घोर चीत्कार करके किवाड़ खुले। प्रकाश के साथ ही एक गम्भीर शब्द तहखाने में भर गया—"बदनसीब नौजवान ! क्या होश-हवास में है ?"

युवक ने तीव्र स्वर में पूछा—"कौन ?"

जवाब मिला—"बादशाह।"

युवक ने कुछ भी अदब किये बिना कहा—"यह जगह बादशाहों के लायक नहीं है। क्यों तशरीफ लाये हैं ?"

"तुम्हारी कैफियत नहीं सुनी थी, उसे सुनने आया हूँ।"

कुछ देर चुप रहकर युवक ने कहा—"सिर्फ सलीमा को झूठी बदनामी से बचाने के लिए कैफियत देता हूँ, सुनिए : सलीमा जब बच्ची थी, मैं उसके बाप का नौकर था। तभी से मैं उसे प्यार करता था। सलीमा भी प्यार करती थी; पर वह बचपन का प्यार था। उम्र होने पर सलीमा पर्दे मे रहने लगी, और फिर वह शहंशाह की बेगम हुई। मगर मैं उसे भूल न सका। पाँच साल तक पागल की तरह भटकता रहा, अन्त में वेष बदलकर बाँदी की नौकरी कर ली। सिर्फ उसे देखते रहने और खिदमत करके दिन गुजारने का इरादा था। उस दिन उज्ज्वल चाँदनी, सुगन्धित पुष्प-राशि, शराब की उत्तेजना और एकान्त ने मुझे बेबस कर दिया। उसके बाद मैंने आँचल से उसके मुख का पसीना पोंछा, और मुँह चूम लिया। मैं इतना ही खतावार हूँ। सलीमा इसकी बाबत कुछ नहीं जानती।"

बादशाह कुछ देर चुपचाप खड़े रहे। इसके बाद वह बिना दरवाजा बन्द किये धीरे-धीरे चले गये।

* * *

सलीमा की मृत्यु को दस दिन बीत गये। बादशाह सलीमा के कमरे में ही दिन-रात रहते हैं। सामने, नदी के उस पार, पेड़ों के झुरमुट में सलीमा की सफेद कब्र बनी है। जिस खिड़की के पास सलीमा बैठी उस दिन रात को बादशाह की प्रतीक्षा कर रही थी, उसी खिड़की में, उसी चौकी पर बैठे हुए बादशाह उसी तरह सलीमा की कब्र दिन-रात देखा करते हैं। किसी को पास आने का हुक्म नहीं। जब आधी रात हो जाती है तो उस गम्भीर रात्रि के सन्नाटे में एक मर्मभेदिनी गीत-ध्वनि उठ खड़ी होती है। बादशाह साफ-साफ सुनते हैं, कोई करुण-कोमल स्वर में गा रहा है—

'दुखवा मैं कासे कहूँ मोरी सजनी !'

७

कल्याणी

चन्द्रकिरण सौनरेक्सा

श्रीमती चन्द्रकिरण सौनरेक्सा का जन्म सन् १९२० में पेशावर में हुआ। शिक्षा-दीक्षा अधिकतर घर पर ही हुई। विद्यार्थी-काल से ही लेखन की ओर झुकाव है। प्रथम रचना कलकत्ता से प्रकाशित होनेवाले बालोपयोगी पत्र 'विजय' में सन् १९३३ में छपी थी। तभी से निरन्तर लिख रही हैं। कहानी, रेखाचित्र, एकांकी—सभी-कुछ लिखती हैं। हिन्दी की प्रायः सभी उच्च-कोटि की पत्र-पत्रिकाओं में आपकी रचनाएँ प्रकाशित होती रहती हैं। आपके प्रथम कहानी-संग्रह पर ही आपको सेक्सरिया पुरस्कार प्राप्त हुआ था।

महिला लेखिकाओं में आपका विशिष्ट स्थान है। आजकल आकाशवाणी से सम्बद्ध हैं।

रचनाएँ

'आदमखोर', आदि।

राजकुमारी हँस पड़ी। कल्याणी ने धीरे से ओढ़नी का छोर माथे पर ले लिया। घनी अलकों में से शरमीली नववधू-सी झाँकती हुई पतली-सी सिन्दूर रेखा, अपनी हल्की-सी झलक दिखाकर फिर छिप गई। कल्याणी ने तब कंचुकी में से एक छोटी-सी चाँदी की डिब्बी निकाली और अँगूठे से दबाकर उसका मुख खोल दिया।

हाथीदाँत पर खुदा नन्हा-सा महीपति का चित्र था। उसे आदर और प्यार से माथे लगाकर वह धीमे भाव-विभोर स्वर में बोली—"राजकुमारी! आपने कभी किसी से प्रेम किया ही नहीं, अन्यथा ऐसा कभी नहीं कहतीं। प्रेम क्या जाति, कुल, मर्यादा या धर्म की सीमा से बाँधा जा सकता है! फिर वह प्रेम-सम्बन्ध जो पति-पत्नी के मधुर नाते का स्निग्ध रस चख चुका हो! महीपति मुसलमान हो गये या बादशाह के सेनापति हो गये तो इससे क्या! कल्याणी तो उनकी थी, उन्हीं की है; उन्हीं की रहेगी!"

"ऐसे प्रेम पर दो मुट्ठी राख!" राजकुमारी मानसी ने दर्प से उत्तर दिया—"मेरा पति ऐसा होता तो स्वयं छुरी से उसका हृदय विदीर्ण कर देती। मलेच्छ की पत्नी कहलाने की अपेक्षा, विधवा कहलाना कहीं अच्छा है। तुझे लाज नहीं आती, इस तसवीर को अब भी अपने हृदय से लगाये फिरती है! छीः!"

कल्याणी ने डिब्बी बन्द कर पुनः अपनी चोली में रख ली। दर्द-भरे स्वर में बोली—"कर्तव्य के नाते पिता पुत्र का बलिदान कर देता है। माता पुत्री को विष दे सकती है। पत्नी पति का शीश उतार सकती है पर प्रेम तो तब भी अक्षय रह सकता है, बहन! महीपति यदि मेवाड़ पर आक्रमण करने आयें तो उनके विरूद्ध सबसे पहले मेरी कटार उठेगी, चाहे बाद में मैं भी उसी दुधारी को चखकर उनके चरणों में क्यों न पहुँच जाऊँ! किन्तु मैं इतना अवश्य कहूँगी कि यदि प्रेम का स्थान घृणा ले लेगी तो उससे किसी का भला नहीं होगा। महीपति पुंश्चली माता के पुत्र हैं, वह अज्ञात कुलशील हैं, इसी एक कारण को लेकर मेरे पिता, और आपके पिता महाराणा ने उनका तिरस्कार किया, दरबार में उन्हें आसन तक नहीं दिया गया। उसी घृणा का कड़ुवा फल ही तो आज महाबत खाँ के रूप में पनपा है, राजकुमारी! जो सरदार, जो वीर क्षत्रिय राणा की भुजा बनकर बादशाह जहाँगीर के आक्रमण पर मेवाड़ की ढाल बनता, वही महीपति आज महाबत खाँ बनकर मेवाड़ के ऊपर मेघ-सा गरज रहा है। मैं तो उस समय बालिका थी, पिता की धमकी से डर गई। तेरह-चौदह वर्ष की आयु में पति की अपेक्षा पिता का मोह अधिक होता है अन्यथा उस लांछित परित्यक्त अभागे को कभी इस प्रकार अकेला न जाने देती।"

"अब चली जाओ !" राजकुमारी ने व्यंग्य से कहा—"एकदम सिपहसालार की बेगम कहलाओगी। कहो तो पिताजी से कह दूँ···"

कल्याणी का मन दुखी हो गया। वह स्वभाव में कुसुम-सी कोमल है। दया और प्रेम ही उसके मन-प्राणों का भोजन है। पशु, पक्षी, कीट, पतंग तक उसके स्नेह-भाजन थे। पर साथ ही वह मेवाडी युवती थी, स्वदेशाभिमान उसकी नसों में रक्त बनकर बह रहा था।

सिर तनिक ऊँचा करके उसने उत्तर दिया—"उनके पास जाने का मार्ग यदि स्वयं उन्होंने रुद्ध न कर दिया होता तो बहन ! विश्व की कोई शक्ति मुझे उनसे दूर रख सकती थी ? पर···अब तो हम और वह नदी के दो कूल हैं जो इस जन्म में कभी एक न होंगे। बात तो प्रेम की विलक्षणता को लेकर हो रही थी। उसी प्रसंग में मेरे मन का दुख उभर आया अन्यथा आपको ज्ञात भी न होता कि अभागी कल्याणी आज सात वर्षों के सुदीर्घ काल में उस मलेच्छ को सोते-जागते एक क्षण को भी भुला नहीं पाई है।"

"भई, हमने न कभी प्रेम किया न जाने !"—राजकुमारी ने प्रसंग समाप्त करने के लिये कहा—"छोड़ो भी इस बात को ! सुनाओ, तुम्हारे प्रेम-गीतों में और कोई नवीन कड़ी जुड़ी है ?"

"इधर कुछ नहीं लिखा, राजकुमारी ! मन बड़ा उद्विग्न-सा रहता है। स्वदेश के नाम पर क्षणिक उत्तेजना देकर हम क्षत्रिय अपने सीमित क्षेत्रों की रक्षा करने के लिये सहस्त्रों युवकों को युद्ध की अग्नि में झोंक देते हैं। मुगलों के आक्रमण से क्रमशः हम क्षीण होते जा रहे हैं। फिर भी सब मिलकर उनका सामना नहीं करते; जाति और वंश के निरर्थक अभिमान को ऊँचा करके हम बिखर गये हैं। क्या महीपति में किसी क्षत्रिय से कम शौर्य है ? आज वह हमारा, हमारे देश का कितना बड़ा शत्रु है। केवल घृणा की हमने उससे, वही घृणा आज महाबत खाँ बनकर···"

देशद्रोही यवन धर्मी महीपति का प्रसंग राजकुमारी को रुचिकर नहीं था। फिर इधर तो कुछ ऐसे समाचार भी आ रहे थे कि इस बार उसी के नेतृत्व में मुगल सेना मेवाड़ पर आक्रमण करने आ रही है। मेवाड़ी तलवार के जौहर को मेवाडी तलवार ही काट सकती है—जहाँगीर ने इस बार इसी की परीक्षा ली थी। राजकुमारी ने उकताकर कहा—"अरे बाबा ! अब इस पुराण को बन्द भी कर ! कल के मरे को कब तक रोयेगी ? सुना, कोई अच्छा-सा गीत सुना।"

कल्याणी तब कुछ होंठों में गुनगुनाने लगी।

* * *

गुलाबी रेशम के बड़े तम्बू में, हल्के गुलाबी और आसमानी रंग के अनेक झाड़-फानूस दीपों से जगमगा रहे थे। कसीदाकारी से सज्जित चाँदनी हाथीदाँत के पायों से बने मोहगनी पलंग पर बिछी थी। गाव-तकियों के सहारे लेटा मुगल सेनापति मन-ही-मन आक्रमण की रूपरेखा तैयार कर रहा था। अब से आठ दिन पूर्व

ही वह मुगल आधिपत्य स्वीकार कारने के लिए अन्तिम चेतावनी-पत्र दूत द्वारा भेज चुका था। आठ वर्ष पूर्व किया अपना अपमान उसे आज भी शूल-सा गड़ रहा था।

बाहर पर्दे के पास किसी ने दो बार जोर से ताली बजाई।

"कौन है? भीतर आओ!"—महाबत खाँ ने आज्ञा दी।

पर्दा उठा और सैनिक ढंग से नपे-तुले कदम रखता एक जवान भीतर आया। फौजी सलामी दे उसने जेब से एक मुहरबन्द लिफाफा निकाला। पास ही रखी अखरोट की चौकी पर से उसने चाँदी की तश्तरी उठाई और लिफाफे को उस पर रखकर बड़े अदब से महाबत खाँ के सम्मुख पेश किया।

महाबत खाँ ने लिफाफा बाएँ हाथ से खोला और एक साँस मे पत्र को पढ़ गया। भौंहों पर किंचित शिकन पड़ी, पर संयत स्वर में उसने पत्रवाहक से पूछा—"दिलावर खाँ, दरबार का क्या हाल-चाल है?"

कोर्निश बजा दिलावर ने उत्तर दिया—"बड़ा जोश-खरोश है, हुजूर, दरबार में। राणा तो कुछ दबे हुए-से लगते थे पर नौजवान सरदारों में बहुत दीदा-दिलेरी दिखाई पड़ी।"

"हूँ!" सिपहसालार ने गहरी हुँकार भरी—"अच्छा तुम जा सकते हो।"

आदाब बजा दूत चला गया।

महाबत खाँ ने पत्र को फिर पढ़ा। मन-ही-मन ऐंठकर रह गया।

अब भी राणा में यह अकड़ है? तो फिर देखें न महीपति का जौहर! जिस मेवाड ने मुझे अपमानित किया उसे खुदवाकर गधों का हल न चलवा दिया तो··· और होंठ चबाकर उसने फरमान निकाला—"चारों तरफ से हमला बोल दो। जो भी गाँव रास्ते में पड़े जलाकर खाक मे मिला दो। सिर्फ औरतों-बच्चों को छोड़कर सभी को मौत के घाट उतार दो।" फरमान पर मुहर लगाकर वह उठ खड़ा हुआ। उद्वेलित मन पर मुद्रा की गम्भीरता संजोये वह स्थिर डगों से तम्बू में चक्कर काटने लगा। बेचैनी से जैसे उसका अंग-अंग तड़का जा रहा था। प्रतिशोध का भयंकर अजगर उसे अपनी फुफकारों से जैसे भस्म किये देता था। देह के दाह को वह वारुणी की धारा से बुझाने लगा। प्याले पर प्याले ढलते रहे और इसी बीच में बेहोशी और नींद ने उसे आ दबोचा।

* * *

"मैं जाऊँगी!" कल्याणी ने दृढ़तापूर्वक कहा—"वह कभी इतने निष्ठुर न थे। और यदि वह मनुष्यता से इतने नीचे गिर गये है, तब भी अर्धांगिनी होने के नाते उन्हे सही राह दिखाना मेरा कर्तव्य हो जाता है।"

वृद्ध गोविन्दसिंह के सिर पर जैसे वज्र गिरा। उनकी पुत्री आज और अब भी अपने को उसी नीच मलेच्छ की पत्नी समझती है, जिसका नाम लेने से भी पातक लगता है। उनकी बेटी उसी नराधम के चरणों में दया-याचना करेगी? भले ही वह प्रार्थना मेवाड़ियों के लिए हो।

क्रोधावेश में वृद्ध राजपूत सरदार की कमर जैसे सीधी हो गई। उन्होंने तनकर कहा—"कल्याणी, तू विधवा है। तेरा पति अब कोई नहीं है। तू गोविन्दसिंह की पुत्री, मेवाड़ की क्षत्राणी, उस देशद्रोही मलेच्छ के पास जाएगी!" सरदार का गला रुँध गया।

"पिताजी!" कल्याणी ने सरदार का हाथ पकड़कर अनुनय की—"मुझे जाने दीजिये। मैं उनसे करुणा की भीख माँगने नहीं जा रही। मैं उन्हें बतलाऊँगी कि यवन होकर भी मनुष्य, मनुष्य ही रहता है, पशु नहीं हो जाता। निरीह ग्रामीणों का वध करना, उनकी झोंपड़ियों में आग लगाना, वीर की शोभा नहीं देता। पिताजी, आपने घृणा करके देश का एक रत्न खो दिया। देखना है कि प्रेम द्वारा मैं उसकी प्रतिहिंसा की ज्वाला बुझा सकती हूँ या नहीं!"

"प्रेम!" गोविन्दसिंह तड़प उठे—"दुष्टा, तू उससे प्रेम करेगी! तू भी म्लेच्छ बनेगी! इससे पूर्व ही मैं तेरा सिर धड़ से अलग कर दूँगा—" उत्तेजना से वृद्ध का रोम-रोम काँप उठा।

कल्याणी चुपचाप आँसू बहाती भीतर चली गई।

वह रात आँखों में कटी। गोविन्दसिंह राणा अमरसिंह के पास मंत्रणागृह में गये। राणा बहुत घबराये हुए थे। दो तिहाई सैना कट चुकी थी। मुगल फौज गाँव के गाँव जलाती, नारकीय विध्वंस करती, तूफान की तरह बढ़ती चली आ रही थी। लगता था इस बार वनों-पहाड़ियों में भी शरण लेना असम्भव हो जाएगा।

कल्याणी की छाती पर आज काँटे बिछे थे। उसी का पति तो मेवाड़ की मौत बनकर आया है। वह देशद्रोही की पत्नी है। मलेच्छ और देशद्रोही—उफ्!···वह कहाँ डूब मरे? फिर युद्ध का साधारण नियम तक भंग करने वाला, निरीह जनता पर अपने फौजी भेड़िये छोड़ देने वाले व्यक्ति को ही वह आज तक अपने मन की एकान्त साधना का अर्घ्य देती आई है? धिक्कार है उसे, उसके नारीत्व को! पर जो भी हो एक बार वह उससे जरूर मिलेगी। या तो वह उसे मेवाड़ से हटा देने में समर्थ होगी या वहीं उसी के चरणों में प्राण विसर्जित कर इस दारुण अपमान से छूट जायगी। कल्याणी का मन दृढ़ संकल्प से दीप्त हो उठा। रात की अँधियारी में वह शरीर पर दो वस्त्र धारण किये, एक कटार हाथ में लेकर दुर्ग से निकल पड़ी।

बाईस वर्ष की कल्याणी, पूनो की चाँदनी-सी खिलती सौन्दर्य-लता अपने प्रेम की साधना के बल पर अकेली जा रही थी। नहीं जानती थी कैसे वह महाबत खाँ के पास पहुँचेगी। उसे केवल अपने संकल्प का सहारा था। आत्म-विश्वास का भरोसा था।

* * *

'मारो! काटो! बचने न पाए!' की नृशंस ध्वनियों के भयावह कोलाहल से कान फटे जाते थे। चारों ओर आग-ही-आग दिखाई देती थी। आकाश धुएँ से काला हो रहा था। धरती पर कत्ले-आम मचा हुआ था। कल्याणी आग और धुएँ को लक्ष्य करके चलती-चलती उधर ही पहुँच गई।

"पकड़ो ! पकड़ो ! मारो ! देखो वह कौन है ?" चिल्लाकर दो-तीन मुगल सैनिक उस पर टूट पड़े।

"अरे ! कम्बख्त औरत है ! यह यहाँ कहाँ रह गई ?"

"क्यों री, तेरे घरवाले तुझे छोड़कर भाग गये ?"

"भाग भी जाने दे, यार ! हमें कहाँ मिलती ऐसी हसीन···"

और भी दस-पाँच सैनिक जुट गये। संयमित नारीत्व से दीप्त उस सुगठित युवती को वे सब भूखे भेड़िये निगल जाने को तैयार थे।

परन्तु निर्भय कल्याणी संयत स्वर में बोली—"तुम मर्द हो ? सिपाही हो ? तुम्हारा काम तो सीना खोलकर युद्ध में लड़ना है। ये चोर, डाकुओं के-से काम करके तुम अपने सैनिकोचित गौरव को क्यों कलंकित करते हो, भाई ! किसने तुम्हें ऐसे नारकीय कर्म करने की आज्ञा दी है, वीरो ?"

"हमारे सिपहसालार का हुक्म है", एक सैनिक बोला—"सरकश मेवाड़ी और किसी तरह काबू में नहीं आयेंगे।"

"छी ! छी ! भाई ! निहत्थे लोगों के घर जलाकर, हत्या करके उन्हें काबू किया जाता है ? क्या बहादुर ऐसे ही होते हैं ?"

कल्याणी का वाक्य पूरा भी न हुआ था कि एक जवान ने उसे अपनी बाहों में उठा लिया। "हाय, मेरी जान ! ये अदायें !" किन्तु दूसरे ही क्षण उसकी वर्दी खून से तर हो गई।

कल्याणी ने स्वयं अपने कटारी मार ली थी।

"या अल्लाह !" सिपाही चिल्लाया।

"मुझे अपने सिपहसालार तक पहुँचा दो।" कराहकर कल्याणी ने कहा—"मुझे एक बहुत जरूरी खबर देनी है, भाई। मैं वचन देती हूँ, शपथ खाती हूँ, तुम्हारी शिकायत उनसे बिलकुल न करूँगी। भगवान् एकलिंग के नाम पर तुम मुझे उनके पास तक पहुँचा दो।"

रक्त बह रहा था और कल्याणी हाथ जोड़े करुणा की प्रतिमूर्ति बनी हुई थी। सैनिकों ने उसे उठाया और जल्दी-जल्दी ले चले।

* * *

अवाक् महाबत खाँ ने कहा—"तुम ?" और उसका मुँह खुला-का-खुला ही रह गया। तेरह वर्ष की अधखिली कली की बालिका आज दलदार गुलाब-सी उसके सम्मुख मसली हुई पड़ी थी। मुख पर अत्यन्त रक्तस्राव के कारण पिलाई छाने लगी थी।

महाबत खाँ प्रयास करके सँभला। उसके हाथ आप ही आप कल्याणी के मस्तक का स्पर्श करने लगे थे। फिर अस्पष्ट स्वर फूटा—"तुम ! तुम्हें यह क्या हो गया ?"

उसे सिपाहियों की उपस्थिति का ध्यान आ गया। एक इशारे में सब बाहर चले गये थे।

फिर बोला—"रानी···!"

P. G.

कल्याणी को जैसे बिजली छू गई। वह हिली—"रानी नहीं, मैं तो आज पथ की भिखारिणी हूँ।"

"किसने तुम्हारे ऊपर हाथ उठाया है? मैंने तो स्त्रियों पर हाथ न उठाने का सख्त हुक्म जारी किया हुआ है। कल्याणी! केवल तुम्हारी स्मृति के कारण ही तो—फिर भी···"

"नहीं, तुम मनुष्य नहीं रहे, मर्द भी नहीं रहे। तुमने स्वयं मेरी यह दशा की है। तुम सैनिक से हत्यारे बन गये हो। अपनी घृणा को तुमने ऐसा सर्वनाशी रूप दे दिया। हाय, मैं तुम्हारी पत्नी हूँ—हत्यारे की पत्नी, देशद्रोही की पत्नी···" और कल्याणी के नेत्रों से आँसुओं की नदी बह निकली।

महाबत का मन हिल गया, किन्तु पुराना अभिमान फन उठाये खड़ा था।

"कैसा देशद्रोही? मेरा तो कोई देश नहीं है, कल्याणी! मेरा तो कहीं कोई नहीं है। राणा ने, गोविन्दसिंह ने—समस्त मेवाड़ ने मुझसे घृणा की। मैं कौन हूँ—केवल उनकी घृणा का मूर्त रूप? और तुमने भी तो मुझे छोड़ दिया, कल्याणी?"

"उसी का तो प्रायश्चित करने आई हूँ आज। अब कहीं नहीं जाऊँगी। तब छोटी थी, इतनी बुद्धि नहीं थी। जब सुधि आई तब तुम इतने दूर पहुँच चुके थे कि इस जन्म मे तुम्हें नहीं पा सकती थी···पर क्या मेरे रक्त से भी पिता का अपराध नहीं चुकेगा? नाथ! क्रोध और प्रतिहिंसा से क्या मनुष्य एकदम पागल हो जाता है? तुमने अपनी वीरता को कलंकित कर दिया। क्या युद्ध के नियमों में निर्दोष ग्रामीणों की हत्या और घर जलाना भी शामिल है?"

महाबत चुप रहा। उसकी निर्ममता निरुत्तर थी।

"बोलो! बोलो स्वामी! क्या गरीबों की हत्या भी युद्ध का अग है? तुम इतने कठोर, इतने निष्ठुर कैसे हो गये?" कल्याणी अवसन्न हो रही थी। वक्ष पर रखे दोनों हाथों के किनारों से रक्त चू रहा था। वह मूर्च्छित हो चली।

"कल्याणी!"—अकस्मात महाबत फूटकर रो पड़ा। कल्याणी के मस्तक पर अपना मुख रखकर वह बालकों की तरह फफककर रोने लगा।

कल्याणी कुछ क्षण उपरान्त सचेत हुई। निर्बल प्रयास से महाबत के मुख को दूर हटाकर धीमे स्वर में बोली—"स्वामी! मै अभी मरूँगी नहीं। पति के पाप और पुण्य में भी पत्नी समभागी होती है। इस जन्म में तुम्हारे समीप रहकर तुम्हारी सेवा कर सकूँ, ऐसा सुयोग तुमने स्वयं ही यवन-धर्म ग्रहण करके खो दिया। पर कहीं भी रहूँ मैं तो तुम्हारी ही हूँ। बोलो! मेवाड़ का घेरा आज ही उठाते हो। कुछ भी हो यह तुम्हारी मातृभूमि है। कभी-कभी निरुपाय माँ सन्तान को गोद से फेंक भी देती है तो क्या सन्तान उस माँ के हृदय मे अपनी तलवार घुसा दे? मेरा सिर छूकर सौगन्ध खाओ कि फिर कभी किसी युद्ध में हत्यारी घटनाएँ नहीं होंगी। बोलो, मेवाड़ की ओर फिर कभी नजर नहीं उठाओगे? राजस्थान-भर में केवल एक यही दीपक टिमटिमा रहा है, क्या इसे भी बुझा दोगे?"

महाबत मौन था।

"स्वामी !"—कल्याणी लड़खड़ाती हुई उठकर उसके पाँवों में गिर पड़ी।

"रानी !"—महाबत ने उसे उठाकर शैया पर लिटाते हुए कहा—"यही होगा। मैं स्वयं ही राणा के पास सम्मानजनक संधि का एक प्रस्ताव भेज दूँगा, पर···क्या तुम मेरे पास नहीं रहोगी···?"

"देवता ! मेवाड़ के इस ध्वंस का प्रायश्चित्त हम दोनों को ही करना है। तुम बस जरा मेरे घाव पर मरहमपट्टी करवा दो। इन दो-चार दिनों के अलभ्य क्षणों में ही मैं तुम्हारे सामीप्य से अपने को धन्य बना लूँगी···फिर···फिर तो मैं गाँव-गाँव में घूमने वाली चारणी बनूँगी, देश के दुखिया जनों की सेवा करूँगी। तभी तो अगले जन्म में तुम्हारे निकट रहने का वरदान पाऊँगी।"

तन-मन-प्राणों से दुखी महाबत ने तब अपने हाथों से आँखें ढँक लीं। दो क्षण बाद ताली बजाकर पुकारा—"क्यूम ! जर्राह को लेकर फौरन हाजिर हो !"

* * *

इतिहास बताता है कि महाबत खाँ महाराणा से सन्धि करके लौट गया; और चारणी कल्याणी के गीत आज भी मेवाड़ के घर-घर में गाये जाते हैं।

८

असतेन मृतः

जगदीशनारायण माथुर

●

श्री जगदीशनारायण माथुर का जन्म सन् १९३३ में हुआ था। सन् १९५५ में अलीगढ़ विश्वविद्यालय से भौतिक-शास्त्र में एम० एस-सी कर देहरादून के डी० ए० वी० कालिज में प्राध्यापक हो गये। अभी कुछ वर्ष से ही लिखना शुरू किया है, किन्तु इधर आप बड़ी तेजी से लिख रहे हैं। हिन्दी की सभी प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में आपकी रचनाएँ प्रकाशित होती रहती हैं।

आजकल आप तीन वर्ष के लिए रिएक्टर फिजिक्स में रिसर्च करने के लिये जर्मनी गए हुए हैं।

सुमाल्यनन्द अपने वंश का महाशक्तिशाली सम्राट् था, परन्तु वह शक्ति की पूरी सीमाएँ छू भी न पाया था कि मदिरा के प्याले से हार गया, और प्याले के समस्त अवगुण उसमें समा गये। अकारण लोगों के अपमान होते, और अकारण ही धन बँटता।

तभी एक दिन सम्राट् के सम्मुख एक देवी-प्रतिमा उपस्थित की गई, जिसकी रेखा-रेखा, एक-एक सिलवट बोलने, हिलने को बेचैन थी, जिसकी सुन्दरता पत्थर की सीमित रेखाओं में सिमटती न थी।

सम्राट् ने आश्चर्य से प्रश्न किया, "यह पत्थर ही है न?"

प्रहरी ने प्रतिमा को छूकर पहले अपने को सन्तुष्ट करने के बाद कहा, "जी, महाराजाधिराज।"

अपलक राजवैद्य को उधर निहारते देख सम्राट् ने व्यंग्य किया, "राजवैद्य, क्या इसमें प्राण-प्रतिष्ठा कर सकते हो?"

झेंपकर बहुत-सी दृष्टियाँ मूर्ति की ओर से घूम गईं। सारा दरबार बेचैन था उन उँगलियों को देखने के लिए, उस रूपराशि को निहारने के लिए, जिसकी छैनी ने पत्थर में प्राण डाले थे।

तभी सम्राट् ने आज्ञा दी, "शिल्पी को उपस्थित किया जाये।"

"जो आज्ञा।"

"महाराजाधिराज की जय हो, शिल्पी द्वार पर है।"

"आने दो।"

"महाराजाधिराज की जय हो।"

"शिल्पी, यह मूर्ति हमें बहुत पसन्द है, तुम कुछ भी क्यों न माँगो, निराश न होगे।"

"शिल्पी के लिए यही क्या कम है कि मूर्ति सम्राट् को पसन्द आई। शिल्पी इसका कुछ मूल्य नहीं चाहता है, केवल एक विनय है, इस मूर्ति को आपके शयनागार में विशेष स्थान प्राप्त हो। धृष्टता क्षमा हो, सम्राट् स्वयं प्रातः इसकी चरणरज लिया करें। यह राजदेवी है। यह एक सम्राट् की तरह सच और झूठ का निर्णय कर सकती है।"

आश्चर्य से सम्राट् की आँखें कानों के पोरों को छू गईं, "कैसे?"

"देवी की मूर्ति के सामने यदि असल अपराधी लाया जाए तो मरकर गिर जायगा।"

"शिल्पी, क्या हम इसकी परीक्षा ले सकते हैं ?"

"सोना अग्नि-परीक्षा से डरता नहीं।"

सम्राट् ने आज्ञा दी, "कल वाले दोनों अपराधी उपस्थित किये जाएँ।"

"जो आज्ञा।" प्रतिहारी कक्ष की लम्बाई में चलते-चलते खो गया।

"शिल्पी, तुम इधर के रहने वाले प्रतीत नहीं होते।"

"जहाँ गंगा की चाल धीमी पड़ जाती है, जहाँ पहुँचते-पहुँचते पत्थर घूमते-घूमते बिलकुल गोल हो जाते हैं, उसी काशी का मैं रहने वाला हूँ, वहीं मेरी एक मूर्ति और चित्रशाला है। यह मूर्ति मैंने अपने गुरु की आज्ञा से एक विशेष पत्थर में से काटी थी, उन्हीं के प्रताप से इसमें इतनी क्षमता आई। दुःख है कि वह इस समय इस संसार में नहीं, उन्हीं की आज्ञा से मैं इसे आपकी सेवा में लाया हूँ।"

* * *

"अपराधियो···"

शिल्पी ने बात बीच में काटी, "सम्राट्, इनमें से एक को आज्ञा दीजिये कि वह अपनी उँगली काटकर मूर्ति पर चढ़ाये और चरण-रज ले। अगर वह निर्दोष है तो बच जायेगा, नहीं तो देवी के शाप का भागी बनेगा।"

अपराधियों को आज्ञा हुई, अपराधी ने जैसे ही उँगली काटकर चढ़ाई और चरण-रज ली, वैसे ही पृथ्वी पर गिर गया। दो-तीन करवट ली और फिर सब-कुछ शान्त हो गया।

सम्राट् आश्चर्य से चीख पड़े, "बहुत सुन्दर, शिल्पी, बहुत सुन्दर! मैं इस मूर्ति को अपने प्राणों से भी अधिक मानूँगा। पर कुछ भेंट स्वीकार···"

"शिल्पी इस मूर्ति के लिए कुछ भी स्वीकार नहीं कर सकता परन्तु यदि···"

सम्राट् बोले, "माँगो शिल्पी, माँगो, कुछ भी क्यों न हो, परन्तु···यदि···पर —रुक क्यों गये ?"

"मुझे आपकी प्रतिदिन चरण-रज लेने का सौभाग्य मिले।"

"केवल ! कोषाध्यक्ष, शिल्पी को एक लाख स्वर्ण मुद्राएँ भेंट में दो। शिल्पी, तुम्हें कौन-सा पद चाहिये ?"

मुसकराकर शिल्पी बोला, "शिल्पी को सेनानायक पद नहीं चाहिये।"

सम्राट नन्द हँस पड़े, "बहुत सुन्दर, रूप-रेखा से तो तुम चित्रकार के स्थान पर सेनापति अधिक जँचते हो, तुम्हें राज्य-शिल्पी बनाया गया। तुम्हारी आज्ञा का उल्लंघन करने की शक्ति स्वयं सम्राट् तक में न होगी।"

शिल्पी नतमस्तक था।

मन्त्री की तेज दृष्टि शिल्पी के वस्त्रों को भेद कर उसका हृदय देखना चाहती थी, प्रश्न हुआ, "तुम मूर्ति गढ़ने के अतिरिक्त भी कुछ जानते हो ?"

सधा हुआ उत्तर मिला, "शिल्पी केवल मूर्ति गढ़ना ही नहीं थोड़ा प्रकाश छाया का भी ध्यान रखता है और इस प्रासाद को चित्रों-मूर्तियों से आलोकित करना चाहता है।"

सम्राट् मुसकराये, "मन्त्री के कहे का बुरा न मानना, सम्राट् नन्द के यहाँ धन की कमी न समझना। मेरे प्रासाद को ऐसा सजा दो कि लोग प्रातः उठकर सूर्य देखने के स्थान पर नन्द के प्रासाद को देखने आया करें।"

"आरम्भ तो दीर्घकाय कुरूप लौह फाटक से ही करूँ, क्योंकि उसे सुन्दर रूप की आवश्यकता सबसे अधिक है।"

"तुम्हारी इच्छा पर छोड़ा।"

* * *

फूल सूँघते समय तक्षक की कौन सोचता है ?

* * *

घूमती पगडण्डियाँ घूमते-घूमते अपना जीवन एक दुर्ग पर समाप्त करेंगी, यह उन्हें देखकर कोई भाँप भी नहीं सकता। तभी दुर्ग के सबसे ऊपरी भाग पर कोई हँसा, हँसता रहा, "चन्द्रगुप्त देखो, क्षितिज पर उगती वह आकृति राजरत्न के अतिरिक्त कोई नहीं।"

तेजस्वी नवयुवक ने उस मनुष्य से वह पत्थर ले लिया, उसके पार देखता हुआ बोला, "लगता तो मुझे भी राजरत्न-सा ही है।"

पहले वक्ता ने बात बढ़ाई, "राजरत्न आज तक कभी असफल नहीं लौटा। पर अबकी बार कार्य कुछ बड़ा था, टेढ़ा था, विकट था, पर जो कुछ भी हो मुझे विश्वास है राजरत्न उससे छोटा न पड़ेगा।"

तभी हाँफता हुआ घोड़ा उस कक्ष के नीचे आकर अगले दो पैरों को आकाश की ओर उठाये घूम गया।

पहले वक्ता ने नीचे घूमते घोड़े को सम्बोधित करके कहा, "मैं पहले से जानता था। चाणक्य का शिष्य और असफलता, दोनों दो क्षितिज हैं जो कभी मिल नहीं सकते।"

प्रजा को जिज्ञासा थी, राज-कर्मचारियों को चिन्ता थी, गढ़ते और रँगते बड़े लौह फाटक के चित्रकार को सुखद भविष्य की आशा थी, क्योंकि कई दिनों से उन्हें सम्राट् के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त न हुआ था, अपने निज कक्ष से बाहर भी न निकले थे। दास-दासियों में एक चुप्पी थी।

बेचाँद की रात थी, धीमी झिमी थी। चित्रकार चित्रकारी में लीन था, तभी दूर पर प्रकाश चमका, तभी चित्रकार को उस नये पत्थर की आवश्यकता पड़ी जो बाहर पड़ा था।

जागते ऊँघ रहे थे और ऊँघते सो चुके थे। प्रहरी ने छोटी खिड़की से चित्रकार को बाहर निकाल दिया, पर जल्दी ही उसकी नींद पूरी तरह टूट गई, क्योंकि चित्रकार लौटते समय इतना बड़ा पत्थर लाया था कि उसे दस-बारह आदमी उठाये थे, प्रहरी ने दीपशिखा नवागन्तुकों के मुँह पर फेंकी और घृणा से मुँह फेर लिया। इतना कुरूप श्रमिक !

कुरूप श्रमिक मुसकराया, "राजा से प्रहरी तक सब मेरे लिए यही भावना रखते हैं।"

कुछ देर तक कुरूप श्रमिक और चित्रकार में बहस-सी चलती रही। दोनों अपने स्थान पर स्थिर थे। चित्रकार ने प्रश्न किया, "क्या यह कार्य मैं नहीं कर सकता? कम-से-कम आपको तो मैं यह कष्ट कभी भी नही उठाने दे सकता।"

"नहीं, तुम अँधेरे में इतना छिप नही सकते।" और कुछ शब्द धीमे से पर कठोर निकले। और चित्रकार आँखों की बरौनियाँ रंग की तूलिका की तरह नप गया।

एक काली छाया अँधेरा समेटती, उजेले से बचती, दीवार में समाई-सी सम्राट् सुमाल्यनन्द के कक्ष के नीचे आई, उसकी फेंकी कमन्द ने सम्राट् की सबसे ऊपरी खिड़की को छुआ, रस्सी खींचकर देखी, गोह अच्छी तरह से चिपक चुकी थी, प्रहरी के निर्दिष्ट सीमा छूकर लौटने तक छाया ऊपर पहुँच चुकी थी। ऊपर पहुँचते ही छाया ने चकमक रगड़ा, दूर लोह फाटक पर चित्रकार की दृष्टि ने इशारा पा लिया, उसने पास रखे एक बड़े दीप को आग छुआई, दूर अँधेरे मे कुछ हलचल बढ़ गई; और जिसको इस सबसे नींद टूटनी चाहिये थी, वह सोता रहा।

रात का तीसरा प्रहर था। सम्राट् नन्द के कक्ष मे थोड़ी हलचल थी, चेहरे पर चिन्ता की छाया थी। धीरे से दासी बाहर आई, परदे की सिलवटों में काली छाया छिप गई, दासी ने बाहर से द्वार बन्द कर दिया और सिलवटों में छिपी काली छाया अन्दर रह गई।

नन्द ने कराहते हुए करवट बदली, "पानी···पा···नी···"

सुराही को पकड़े उँगलियाँ देखते ही वह चौंक गया, "कौन हो तुम?"

"सम्राट् नन्द ने मुझे पहचाना नहीं?"

"पहचाना! और फिर से मेरा एक बार हँसने को मन करता है। मेरे स्वप्न भी अजीब हैं, किसी सुन्दरी के स्थान पर तुम्हें खींच लाये, यदि स्वप्नों पर भी बन्धन सम्भव होता तो तुम्हें फिर से एक बार शिखा पकड़वाकर स्वप्न से भी बाहर निकलवा देता।"

यही कुरूप पुरुष चाणक्य था। इतनी सीमाहीन कुरूपता में, इतना असीमित मस्तिष्क समा सकता है, यह जल्दी समझ मे आने वाली बात न थी, यही समझने में सुमाल्य ने भी भूल की।

चाणक्य ने कहा, "पानी पी लो, सम्राट्, जिससे तुम्हारा स्वप्न टूट जाए।"

सहारे से पानी पीते-पीते अचानक नन्द के हाथ से प्याला छूट गया, आश्चर्य से पूछा, "पर तुम यहाँ कैसे? मुझसे क्या चाहते हो?"

"पुराना हिसाब था, चुकाने चला आया।"

"किसी को विष देकर हिसाब नहीं चुकाया जाता।"

"विश्वास रखो तुम्हें विष नहीं दिया गया।"

"मुझे मदिरा में विष पिला दिया गया ऐसा राजवैद्य का विचार है।"

"मैं शपथ लेता हूँ कि तुम्हें किसी दासी ने विष नहीं दिया और फिर प्रत्येक खाद्य-पदार्थ की इतनी परीक्षा के बाद यह सम्भव ही कहाँ है !"

"पर यह शोर कैसा है ?"

"यह चन्द्रगुप्त की सेना की विजय और तुम्हारी सेना का क्रन्दन है।"

"मूर्ख ब्राह्मण ! यह असम्भव है क्योंकि दुर्ग का लोह-फाटक सौ गज-मस्तकों की चोट से भी नहीं टूट सकता। फिर क्या सम्राट् नन्द की अथाह सेना-सागर एक चिनगारी को भी बुझाने की सामर्थ्य नहीं रखती !"

"मूर्ख कौन है ! क्या लोह-फाटक टूट नहीं तो खुल भी नहीं सकता ?"

"परन्तु ऐसा करने की सामर्थ्य किसमें है ?"

" 'असतेन मृतः' का प्रताप चाहिये, कुछ भी असम्भव नहीं।"

"क्या तुम 'असतेन मृतः' के विषय में भी जानते हो ?"

चाणक्य हँसा, प्रतिध्वनि बड़ी देर तक गूँजती रही, "मैं 'असतेन मृतः' का सृष्टा हूँ।"

"ओह, सेवक···सेवक ?"

"कोई नहीं है, केवल मैं हूँ और तुम्हारी ध्वनियों की प्रतिध्वनियाँ हैं, क्योंकि जो अपने थे वे सम्राट् को इस दुख में छोड़कर भाग गये। जो पराये थे वे दुर्ग पर छा चुके हैं।"

"यह विश्वासघात किसने किया ?"

"जानना ही चाहते हो, दुर्ग के फाटक पर रँगते-गढ़ते तुम्हारे चित्रकार और मेरे सेनानायक राजरत्न ने !"

"तो यह षड्यन्त्र था !" नन्द एक ओर को लुढ़क गया। उसका मुँह खुल गया, आँखें बिखर गईं और हाथ-पैर सख्त पड़ गये। चाणक्य का उत्तर उस तक पहुँच न सका।

* * *

दुर्ग का झण्डा उतार दिया गया। सम्राट् नन्द से सब असन्तुष्ट थे, पर मृत्यु पर सुख मनाना हमारी परम्परा कभी भी नहीं रही। प्रजा में उत्तेजना थी यह जानकर कि सम्राट् को विष दिया गया। तभी नगाड़े पर चोट पड़ी, तुरही चीख उठी और सारी प्रजा सभामण्डप में समा गई, सबमें क्रोध था, रोष था—इस बात पर कि चन्द्रगुप्त ने सम्राट् को विष क्यों दिया ?

चाणक्य ऊँचे मंच पर आया। धीरे-धीरे सुई गिरने वाला सन्नाटा छा गया। भीगे स्वर में चाणक्य बोला, "जैसा कि आप सबको विदित है कि परम भट्टारक सुमाल्यानन्द का स्वास्थ्य बहुत समय से ठीक नहीं चल रहा था, और आज प्रातः उनकी दशा बिगड़ गई और वह भगवान् के प्यारे हो गये। उनकी इस दुःखद मृत्यु पर बड़ा शोक है···"

पर जो ध्वनि अभी तक चना-मटर-सी थी, अब बढ़ चली थी। चाणक्य इस

ध्वनि की उत्पत्ति को पहले ही जानता था, बोला, "मुझे लगता है आप कुछ कहना चाह रहे हैं।"

सम्राट को चन्द्रगुप्त ने दासी के द्वारा विष दिलवाया, उनके कहे का सार यह था।

चाणक्य के मुँह पर सदाविराजित मुसकान हृदय में सिमट गई, क्रोध से बोला, "यह बिलकुल झूठ है! यह देवी 'असतेन मृतः' का शाप है, उनमें प्राण लेने और देने की क्षमता है। वह सदा अपराधी और पापी को पहचान जाती हैं और उसे प्राणदण्ड देती हैं। आप तो स्वयं उनके न्याय के विषय में बहुत-कुछ सुन चुके होंगे। उन्होंने ही सम्राट् नन्द को मृत्युदण्ड दिया है। चन्द्रगुप्त पर यह दोषारोपण मत करिये, वह सर्वशक्तिमान है, वह तो सम्राट् के निजी कक्ष में सदा विराजित रही। उनकी उपस्थिति में किसमें सामर्थ्य है कि सम्राट् को विष दे सके।"

सभामण्डप में एक सन्नाटा छा गया। तभी एक आगे बैठा सभासद उठ खड़ा हुआ और प्रजा को सम्बोधित करते हुए बोला, "अगर यह सच है कि चन्द्रगुप्त निर्दोष है तो उसकी भी देवी 'असतेन मृतः' द्वारा परीक्षा हो। यदि उसने सम्राट् को विष नहीं दिया तो देवी के शाप का भागी नहीं बनेगा; और हमें उसे सम्राट् मान लेने में कोई आपत्ति न होगी।"

चाणक्य उछल पड़ा, यही बात कहलाने के लिए ही तो वह इतनी देर से प्रयत्न कर रहा था, घुमा-फिराकर देवी और दण्ड देने की क्षमता के विषय में चर्चा चला रहा था। मुसकराकर बोला, "मैं स्वयं भी यही चाहता हूँ। जो हाथ जीवन में कभी भी किसी के खून से रंग चुके हों, वे शासन की बागडोर कभी भी नहीं सँभाल सकते, पर मैं भी एक बात चाहता हूँ, जो मनुष्य यह विश्वासपूर्वक जानता हो कि सम्राट् नन्द की हत्या में चन्द्रगुप्त का हाथ है, उसको भी देवी के सामने आना पड़े।"

बात सबको उचित लगी और एक लम्बा-चौड़ा मनुष्य बाहर निकल आया। वह सम्राट् का सेनापति था और सोते समय धोखे से कैद हो गया था।

मूर्ति लाई गई, उसकी भव्य रूपरेखा से सब प्रभावित हुए। सेनापति ने एक वीर योद्धा की तरह उँगली चढ़ाई और चरण-रज लेकर उठना ही चाहता था कि गिर गया, फिर कभी न उठा। चन्द्रगुप्त का एक विरोधी समाप्त हो गया।

अब चन्द्रगुप्त की बारी थी। प्रजा एक बार को तो काँप गई। चन्द्रगुप्त ने अपनी उँगली देवी पर चढ़ाई, चरण-रज ली, दण्डवत की और उठ खड़ा हुआ।

प्रजा हर्षध्वनि कर उठी, "सम्राट् चन्द्रगुप्त की जय हो!"

चन्द्रगुप्त ने प्रजा को नमस्कार किया, चाणक्य मुसकरा दिया।

* * *

सीमित-सा निजी कक्ष था। तीन मनुष्य थे—चाणक्य, चन्द्रगुप्त और राजरत्न।

मुसकराकर चाणक्य ने राजरत्न से कहा, "शिल्पी, मूर्ति हमें बहुत पसन्द है। तुम कुछ भी क्यों न माँगो, निराश न होगे।"

राजरत्न ने यही उत्तर दिया, "शिल्पी के लिए यही क्या कम है कि मूर्ति···"

तभी द्वार पर हलकी दस्तक पड़ी।

"आ सकते हो।"

भारी द्वार को ठेलकर प्रतिहारी अन्दर आया, बोला, "प्रजा यह चाहती है कि देवी 'असतेन मृतः' की मूर्ति जिनमें प्राण लेने और देने की क्षमता है, उनके बीच स्थापित कर दी जाय।"

राजरत्न और चन्द्रगुप्त चिन्तित हो गये, "अब क्या होगा?" पर सदा खेलने-वाली मुसकान चाणक्य के अधरों से विदा न ले पाई। चन्द्रगुप्त इनकार करने का कोई कारण सोच ही रहा था कि चाणक्य बोला, "प्रजा की कोई बात हमने आज तक टाली नहीं, कह देना देवी 'असतेन मृतः' उनकी है और उनके बीच स्थापित कर दी जायेगी।"

प्रतिहारी के जाते ही चन्द्रगुप्त ने समस्या रखी, "अब क्या होगा?"

चाणक्य के मुँह की मुसकराहट और भी खिल उठी, "राजरत्न, आधा काम तो पूर्ण सफलता से पूर्ण हुआ, शेष भी तुम्हारी ही सामर्थ्य का है। देवी 'असतेन मृतः' को स्वयं ले जाकर स्नान कराओ और इतना कि उन पर पुता सारी संखिया और नागविष धुल जाय और यह महान् शक्तिशाली देवी केवल पत्थर रह जाये, परन्तु सावधान! नन्द न बन जाना।"

पाटलीपुत्र के राजप्रासादों से भी यदि किसी ने ऊँचा सिर उठाने का प्रयत्न किया है तो वह 'असतेन मृतः' का यही मन्दिर है जो अपना सिर ऊँचा उठाये, न-जाने आकाश में किसे खोजा करता है। परन्तु लोगों को कहते सुना है कि अब देवी ने शाप देना और प्राण लेना कम कर दिया है, कभी वर्षों में एक बार कोई उनके शाप का भागीदार बनता है।

९

चम्पा के फूल

परदेशी

●

श्री परदेशी का जन्म सन् १९२३ में हुआ था। बचपन से ही कविता में रुचि रही। चौदह वर्ष की आयु में 'चित्तौड़' नामक खण्ड-काव्य लिखा। इसके बाद कविताओं के दो संग्रह और प्रकाशित हुए। फिर कथा-साहित्य की ओर आकर्षण बढ़ा।

सन् १९४२ के राष्ट्रीय आन्दोलन-काल में 'ज्योति' मासिक-पत्रिका का प्रकाशन किया। इसके बाद कई वर्षों तक प्रेस-मैनेजर रहे, पब्लिसिटी विभाग देखा, संपादक रहे, प्रकाशकों का साथ दिया। आजकल लेखन ही प्रमुख कर्मयज्ञ है। हिन्दी, अंग्रेजी के अतिरिक्त गुजराती, मराठी, उर्दू, संस्कृत, बंगला का भी खूब ज्ञान है।

रचनाएँ

'परदेशी के गीत', 'चित्तौड़', 'जयहिन्द', 'चम्पा के फूल', 'तृष्णा और तृप्ति', 'चट्टानें', 'औरत, रात और रोटी', 'भगवान् बुद्ध की आत्मकथा', 'बड़ी मछली, छोटी मछली', आदि।

मालवा की ग्रीष्मकालीन राजधानी दशपुर सन्ध्या की स्वर्ण-किरणों से आलोकित हो रही थी। राजदुर्ग की उत्तुंग दीवारें अपने सिर पर सुनहला मुकुट धारण किये प्रतीत होती थीं। प्रांगण के विशाल वटवृक्ष की श्रेणियों पर पीत किरणों के नृत्य का अन्तिम पद-परिचालन हो रहा था। दुर्ग के उत्तर में शोणवती का जल अनन्त की नीलिमा को अपने अंतःस्तल पर लहरा रहा था। पश्चिम के प्रशस्त पथों पर दोनों ओर फूल खिल रहे थे और आसन्न विवाहित कुमारियाँ सन्ध्या-पूजा के लिए पुष्प-चयन कर रही थीं। उनकी केसरिया ओढ़नियाँ, अधरंगे लहँगे और हरी कंचुकियाँ नये रंगों का मिश्रण पा रही थीं। उनके मधुराधरों पर नैहर की स्वच्छन्द निर्द्वन्द्व मुसकान और सगति नूपुरों में घर लौटती किरणावलियों का गान था। चेहरे पर अबीर का ओज, कटि में किंकिणियों का रास और सरोज-पदों में पायल का संगीत बिखर रहा था। उनके चरण-चिह्नों से कुंकुम जन्म ले रहा था और उनके आगे मलय समीर की सोलह-सहस्र रानियाँ शुचिता का वातावरण बरसाती थीं। उन्हें देख केतकी की कलियों के कपोल आरक्त हो उठे, और लाजवती किरणों ने घूँघट खींच लिए। जिधर वे जातीं वसन्त और चाँदनी के रसामृत की गन्ध और आभा भर जाती।

श्यामला मालव-मही की काली मिट्टी, सूर्यकरों से प्रतापिता तड़क गई थी। अब साँझ के झुटपुटे ने उसकी तड़कन में अपनी वेदना की काली रेखा भर दी थी। राजदुर्ग के पूर्वी भाग में हूणराज आलीजाह के मकबरे का स्वर्ण-कलश चमचमा रहा था। वहाँ धूप-दीप की गन्ध उठ रही थी, और चमेली-फूलों की मालाओं से कब्र का हरा वस्त्र ढँका पड़ा था।

सम्राट् प्रेमवर्द्धन मृगया से लौटे। रूपज्योति सम्राज्ञी नीलम चन्द्राकार गवाक्ष में खड़ी उनकी बाट जोह रही थी। दूर आरोहियों के अश्वों की उड़ाई पीली-मटमैली धूल हवा में भर गई थी। आसपास सशस्त्र प्रहरी और रक्षक थे। मध्य में महा-मालव-पति सम्राट् प्रेमवर्द्धन, पीछे जनगणों के सामन्त और राजकवि थे। मुक्ता और हीरक-हारों से सन्ध्या के हलके धुँधलके में जगमग प्रकाश हो रहा था। अस्ताचलगामी दिनकर की सप्तरंगी-किरणों से सामन्तों की मुकुट-मणियों से बहुरंगी रश्मियाँ उठ रही थीं।

सम्राज्ञी ने बाह्य कक्ष में सम्राट् का स्वागत कर आरती उतारी। सहस्र ब्राह्मणों को सहस्र मुद्रायें और सहस्र गौओं का दान किया गया। प्रासाद के प्रांगण में सन्तुष्ट विप्र गणों का आशीर्वाद, नगर के कुटीरों से उठते धूम्र-बादल-सा उठ रहा था।

सम्राट् और सम्राज्ञी ने अपने कक्ष में प्रवेश किया, और राजकवि ने संस्कृत

के सरल शब्दों में प्रशस्ति-पाठ किया। सामन्तों ने सतत् दुधारी तलवारें झुकाकर अभिवादन किया और सब अपने गहे-नीड़ों को लौट चले—जहाँ शृंगारिता विहग-बालाएँ इन पंछियों की प्रतीक्षा में व्याकुल थीं।

* * *

जब आकाश के आँगन में चलता चाँद तारिकाओं के समीप आकर अनायास रुक गया तब सम्राट् अपनी हृदय-सम्राज्ञी से मिले।

"तुम तनिक खिन्न प्रतीत होती हो, नीलम।"

"सम्राट् की धारणा यथार्थ है।"

"क्या कारण है?"

"कुछ नहीं।"

"क्या तुम्हें किसी ने अप्रसन्न किया है? क्या तुम्हारी आज्ञा का उल्लंघन कर कोई अब भी जीवित है? तुम्हारे लिये सात-सागरों की रत्न-राशि और सप्त-द्वीपों का स्वर्ण प्रस्तुत है। क्या राज-कोष के मणि-काचन और हीर-मुक्ता तुम्हारी कामना पूर्ण करने में समर्थ नहीं?"

"अपराध क्षमा हो, नहीं।"

"नहीं! सम्राट् दिशाजीत प्रेमवर्द्धन का राजकोष हूण-कन्या की अभीप्सित अभिलाषा के लिए अपर्याप्त है—यह मैं आज पहली बार सुन रहा हूँ। आश्चर्य है!" कहकर सम्राट् अधीर हो गये।

"मैं··मैं निःसन्तान हूँ।"

"·····"

सम्राट् कुछ न बोले।

"सम्राट्, सेविका को मणि-रत्नों की नहीं, उनको धारण करने वाले कुल-रत्न की कामना है। उसे चाँद के दीप नहीं चाहिएँ, वह गृहदीप का मुख देखने को तरस रही है। सप्त-समुद्रों और सप्त-द्वीपों की लक्ष्मियाँ उसकी सेवा और पाद-प्रक्षालन के लिए उसे नहीं चाहिएँ। उसे अपने गोदी के लाल की मधुर किलकारियाँ और पदाघात चाहिएँ। मालव का राजकोष वह नहीं दे सकता।"

गम्भीर और अवसन्न मुख-मुद्रा लिए सम्राट् चले गये।

* * *

सम्राट् प्रेमवर्द्धन और सम्राज्ञी नीलम राज-सभा में स्वर्ण-सिंहासन पर आसीन थे। अर्ध-मुकुलित उरोज-कमलों पर रेशम की दो-दो अंगुल पट्टियाँ बाँधे दामिनी-सी दासियाँ चँवर डुला रही थीं। सैनिक, सामन्त, महासामन्त और परम वीर दक्ष-मुद्रा में खड़े थे। राजकवि अपनी अभिनव-रचनाओं का पाठ कर रहे थे, जिसमें लवंग की लजीली लता मधुकर से मान कर रही थी और चाँद की परियाँ कुमुदों के हृदय में रस भर रही थीं।

तभी, सभा-भवन के दक्षिण द्वार से एक, निन्यानवे वर्षीया वृद्धा प्रविष्ट हुई।

उसका विकराल रौद्र रूप देख, प्रहरी उसे रोक न सके। वह सम्राट् के सम्मुख 'अ···आ···लक्ख !' का तीक्ष्णतम उद्घोष कर खड़ी रह गई। साम्राज्ञी उसे देखकर बेसुध हो गईं। तब, पाटल-पंखुरियों-सी उनकी पलकें हिमजल से सिक्त हुईं। उन्हें सुध आई और सम्राट् ने निवेदन किया कि डरो नहीं, यह वृद्धा प्रसिद्ध-भीषिका वनस्पतिका है, जिसकी एक जड़ी से सावन की अलमस्त नदियों की नव-यौवना बाढ़, पहाड़ी झरनों-ज्यों ढल जाती है।

सम्राज्ञी ने साहस कर वृद्धा की ओर देखा—वृद्धा अपने पोपले मुँह से मुसकरा दी, जिसमें फिर से नए दाँत उग रहे थे। उसके केश सन की तरह श्वेत थे। गले में लाल, नीली, पीली और काली मणियों के कण्ठहार पड़े थे। भेड़-बकरियाँ की मुण्ड-मालाएँ भी थीं। गलहार बने छोटे-छोटे साँपों की जीभें लपलपा रही थीं। हरी मिर्च और नींबू काले धागे से पिरोये पड़े थे। उसके कपाल पर अधजली चिताओं की भस्म का तिलक था। हाथ में किसी मृत शिशु की एक पसली थी, जिस पर नील कमल की नन्ही कलियों का गजरा बँधा था।

भीषिका वनस्पतिका को अभिवादन कर सम्राट् अपना आसन ग्रहण कर चुके थे। महामन्त्री से अपने मसान जगाने को बीस-कोड़ी अजा-दल पाकर भीषिका सन्तुष्ट हुई और उसने सम्राट् को पुत्रवान् होने की आशीष दी।

सम्राज्ञी ने सिर झुका लिया।

श्वेत-केशी महामन्त्री आगे बढ़े और उन्होंने भीषिका के चरणों में चम्पा के सुगन्धित सुमन चढ़ाकर निवेदन किया—"महामाता सम्राज्ञी की भी यही कामना है। राज-कोष मुद्रा-विहीन रह सकता है किन्तु सम्राज्ञी पुत्र-विहीन नहीं रह सकती।"

"कामना पूर्ण होगी। दुर्ग के पश्चिमी परकोटे में सप्त भैरव का वास है। वे बाल ब्रह्मचारी हैं। जिस दिन उनका ब्रह्मचर्य भंग होगा सम्राज्ञी गर्भवती होंगी।"

सभा सन्नाटे से सुन रही थी। ऐसा प्रतीत होता था, शवों और प्रेतों की इस योगिनी की वदन-दीप्ति के सम्मुख राज-परिवार के हीरक-मणियों की कान्ति तेजहीन है!

"युवराज जन्मेगा पर एक साधना हो—सप्त भैरवों के लिए सप्त कुमारिकाओं की बलि! जिन्हें सोलह-शृंगार करा, पुष्प-मालाएँ ले वहाँ ले जाना होगा। राज-पुरोहित सप्तपदी का पाठ करेंगे और विश्वकर्मा परकोटे में इन कुमारी वधुओं को जीवित चुन देंगे। नवे मास मालव-युवराज का जन्म होगा।"

वह भीषण अट्टहास कर उठी, जैसे भादों के मेघ-भरे अँधियारे नैऋत्य में बिजली गिरी हो।

फिर 'अलक्ख' का घोर निनाद गूँजा और भीषिका वनस्पतिका खड़ाऊँ खट-खटाती प्रस्थान कर गई। बड़ी देर तक राजपरिवार और सभासदों के कानों में उसकी वाणी और खड़ाऊँ की खड़-खड़ गूँजती रही, मानो वह उनके हृदयों पर पैर धरती चली हो!

* * *

गोधूलि आकर चली गई। उसने दिनकर की मनुहार नहीं मानी। नागरिक अपने नित्य कार्यों से निवृत्त हुए ही थे कि उद्घोषक का उद्घोष प्रांगण में घहराने लगा। चारों दिशाओं से प्रजाजन आ जुड़े। उत्सुक और उच्छृंखल बालक उपस्थित समुदाय में प्रविष्ट हुए। उद्घोषक ने तीन बार घण्टा बजाया। नगाड़े पर चोट हुई—धनाक्-धनाक् धिन्-धिन्, धनाक् धिन्-धिन्!

"धरती राजा की, धर्म ब्राह्मण का, सेवा शूद्र की और न्याय पंच-परमेश्वर का! एक लक्ष स्वर्ण-मुद्रा पर एक कुमारिका चाहिए, जो देना चाहें नगर-रक्षक के समक्ष उपस्थित हों।"

पन्द्रह दिन बीत गये। रातें पन्द्रह बार सोकर जगीं। दिवस पन्द्रह बार जग कर सो गये। नगर-रक्षक प्रतीक्षा ही करता रह गया। उसे विश्वास था कि विशाल-नगरी के लुब्ध मानवों में से सात तो ऐसे प्रकट होंगे ही जो अपनी पुत्रियों को कुमारिका यज्ञ में प्रदान कर यज्ञ और वैभव प्राप्त करेंगे। तब नगर-रक्षक ने निराश हो महामात्य को सूचना दी।

श्वेतकेशी महामात्य सोच-विचार में पड़ गया। किसी पिता की कुमारी पुत्री को प्राप्त कर लेना सहज नहीं है। विवाह अथवा अपहरण द्वारा ही वह मिल सकती है। विवाह तो उनका भैरवों से होगा और अपहरण यज्ञ में विघ्न और कलंकप्रद सिद्ध होगा।

राजमन्त्री ने सम्राट् से अपनी कठिनाई निवेदन की—"देव, लोभ बलवान् है। स्वर्ण-मुद्रा के लालच से शूद्र ही अपनी कन्याएँ दे सकते हैं वे भी नहीं दे रहे है और यों भी उनकी बलि यज्ञ को अपावन कर देगी। मेरी विनम्र सम्मति में श्रीमन्तों और कौलीन्यों की निस्पर्शा, अक्षत कुमारियाँ लाई जाएँ। उनका रक्त-प्रवाह परम्परागत है, पवित्र है। उर्जस्वी और उष्ण है। ब्रह्मचारी भैरव उनके भोग से सन्तुष्ट होंगे। अतएव, श्रीमन्त नागरिकों की कुमारियों को लाने की व्यवस्था की जाए।"

"ऐसा ही हो!" सम्राट् के मन में पुत्र की नहीं, नीलमणि को प्रसन्न रखने की कामना थी।

* * *

उस दिन गोधूलि-वेला में सात अश्वारोही राजाज्ञा पालन करने चले। सप्त अभिजात्य नागरिकों के सात द्वारों पर सात अश्व रुके।

पहला अश्वारोही-नगर-श्रेष्ठि मेरुपति के द्वार आया। मालव-भूमि पर चैत्र की उन्मादिनी चाँदनी-सी उनकी कन्या चन्द्रावती, यौवन के सत्रह कमल खिला चुकी थी। वह पुष्प-हारों से तुलती। मानिक की प्याली में मानसरोवर का जल-पान करती।

मेरुपति की ड्योढ़ी पर सम्राट् के अश्वारोही के आगमन का समाचार जब फैला तो परिवार में कोलाहल मच गया। श्रेष्ठिजी हानि-लाभ की शल्य-क्रिया से मुक्ति माँग, अन्तःपुर में गये। अपनी समस्या का समाधान चाहा!

मेरुपति की अर्द्धांगिनी उनसे दस गुना मोटी थी। उसके मन में श्रेष्ठि की बुद्धि पर करुणा उपजी और बोली—"जाइए, अश्वारोही को मेरे पास भेजिए।"

अश्वारोही ने अन्तःपुर में प्रवेश किया और अपनी लघु पुस्तिका में लिखा—'कुमारी चन्द्रावती से भेंट की। आठ मास से गर्भवती हैं। श्री १००१ परम पूज्य··· का अनुदान उसे मिला है।'

वह लौट चला।

द्वितीय द्वार पर महाबलाधिपति महाराज वीरसिंह की कन्या, अठारह वर्षीया, मृगावती की माँग हुई। सैनिक, महाबलाधिपति को नत-मस्तक अभिवादन कर एक ओर पाषाण-स्तम्भवत् स्थिर हो गया। उसे इस माँग पर अनेक प्रकार से समझाने का प्रयत्न किया गया, पर वह आदेश-पालनार्थ अचल रहा।

घड़ी-भर पश्चात् उसके समीप एक युवक आया। उसे एक ओर ले जाकर कुछ कहा। सैनिक ने युवक की बात पर विश्वास कर अपनी बही में लिखा—'राजदूत···ने शपथपूर्वक कहा, उनका गत् दो वर्ष से कुमारी मृगावती से सम्बन्ध है। अतः उन्हें कुमारी मानना शरीर-शास्त्र और चरक महाराज के प्रति अपराध होगा।'

तीसरे क्षेत्र में अश्वारोही ने महासामन्त शूरसेन की बारहवीं कन्या चतुर्दश वर्षीया कुमारी हेमावती के लिए भी उन्हीं यवन-राजदूत का विवरण लिपिबद्ध किया।

चतुर्थ भवन के स्वामी महान्यायाधीश की कन्या के लिए जब सैनिक पहुँचा तो पड़ोसियों से ज्ञात हुआ कि कुमारी लीलावती पोड़शी होते हुए भी अभी अबोध है। नये गेहूँ की लहराती फसल-सी उसकी जवानी है। अगरूधूमायित कंचन-कक्ष मे नील कमलों की सेज पर वह शयन करती है। पीपल के पीत पल्लव पर रखी जुही की दो कलियाँ हैं उसका भोजन···

उसे देखते ही अश्वारोही की सुध जाती रही—सागर की प्रशान्त नील लहरियों पर जैसे द्वितीया का शशि उदित हुआ हो। उसकी रेशमी पलकों में सावन के मेघ बन्दी थे। हिम-शीतल दृष्टि में सुप्त झंझा का आयोजन था। मन्द पदगति में त्रैलोक्य-विजय का अटल निश्चय था। बेसुध अश्वारोही को सेवकों ने एक ओर सुला दिया।

पंचम द्वार राजकवि पण्डित प्रमोद का था। उनकी बारह वर्षीय कन्या पद्मावती आम्रवन की एकाकिनी कोकिला-सी थी। इस बाल वय में ही उसने साहित्य और ललित कला मे अद्भुत साफल्य-लाभ किया था। उसके द्वारा रचित शृंगार और रति के छन्द उसकी सखियों को कण्ठस्थ थे। योग्य युवा को रस का वरदान देने वह उतावली थी। विजन-वन-सरिता-तट की रिक्त कुम्भा नवेली पनिहारिन-सा उसका आकर्षण था।

कवि प्रमोद का स्वभाव परम प्रमादी था। अश्वारोही का आशय जान वह भभक उठे, और उच्च स्वर से इस प्रकार गर्जन करने लगे—

"जिस मालव-कुमारी की छवि और सौंदर्य के गीत मैंने गाए हों, उसे दीवारों में जीवित चुने जाना मैं कैसे सहन कर सकता हूँ! अश्वारोही जाओ, अपने सम्राट् से

कहो कि राजकवि प्रमोद आज से विद्रोही है। जिस मालव-कन्या के परम पुनीत पयोधरों का वर्णन कर महाकवि कालिदास पियूषवर्षिणी लेखनी के विधाता बने, उसे सम्राट् पाषाणों में चुनवा देंगे ? अश्वारोही, जाकर अपने सम्राट् से कहो कि महाकवि प्रमोद राजद्रोह के दण्ड का अधिकारी है। वह अपनी पद्मा का गला घोट देगा, किन्तु उसे सामन्तों की जड़ता का शिकार न होने देगा।"

अश्वारोही ने फिर उधर न देखा।

छठे अश्वारोही को महा आचार्य ज्ञान-भोज ने निजी कक्ष में निमन्त्रित किया। उनकी सगर्भा, वेदान्त-विशारदा पत्नी ने पूछा—

"पुत्री प्रेमवती क्या दीवार में चुनी जाने के लिए मेरी कोख में नौ मास रही ! अरे मूढ़, यह निरी किशोरी है। नन्दन-वन में पथभूली मृग-कन्या-सी है। दोनों बेर अपने पालित शुक पंछी की चचु द्राक्ष के दो दाने ग्रहण करती है।"

अश्वारोही उच्छृङ्खल था। टोककर बोला—"मैं स्वयंवर के लिए नहीं आया, श्रीमतीजी, मैं राजाज्ञा-अनुसार प्रेमावती को लेकर ही जाऊँगा।"

वेदान्त-विशारदा ने अपने उष्ण अधरों पर बंकिम मुसकान को थामकर कहा—"ठीक है।" और एक झटके में द्वार-पट हटा दिया। उदास दासी के समीप छिन्न पड़ी लतिका-सी प्रेमावती तड़प रही थी। लाल कनेर-से उसके उभय ओष्ठ कृष्णवर्ण हो गये थे। दाँतों से अधरोष्ठ दबा था। वह पैर पटक-पटककर बाल नोच रही थी।

—कुमारी प्रेमावती आसन्न-प्रसवा थी।

स्वर्ण-मुद्राएँ पाकर, जब सैनिक चल दिया तो एक चर ने उसे सूचना दी कि यह आचार्यवर के एक क्रीतदास द्वारा गर्भवती हुई है।

जब छहों असफल अश्वारोहियों की दुर्गति सातवें ने सुनी तो वह स्तब्ध रह गया। उसके उद्धत् सैनिक-भाव ने अँगड़ाई ली।

और कुछ सोचता-सोचता म्लान मन-वदन वह रत्नाकर जौहरी के सातवें द्वार जा उतरा।

यौवन-पराग पर तेरह भ्रमर लुभाती, जौहरी की कन्या मुक्तावती शाला से लौट रही थी।

अश्वारोही ने इधर-उधर देखा और निमेष-मात्र में मुक्ता उसके अंक में छटपटा रही थी। अवाक् अश्व उड़ा जा रहा था।

"क्या यही राजाज्ञा है ?" मुक्ता ने सैनिक के और अपने बीच हाथों से अन्तर सुरक्षित रखते हुए पूछा।

वह क्षुधित पाषाण मौन रहा।

नवयुवती का मुख सैनिक की ओर था। जब वह कुछ न बोला तो, वह उसका मुख देखती रह गई। बीस वर्ष का वह तेजस्वी तरुण था। उसके उष्ण, क्षात्र श्वासोच्छ्वास मे विद्युत-तेज था। कुमारी अविचलित न रह सकी। बोली—

"तो मुझे अपने ही डेरे ले चलो। मेरी मौत से तुम्हें क्या मिल जाएगा ?"—

और तरुण सैनिक को तरुणा का तप्त स्पर्श जेठ के मध्याह्न-सा लगा।

'हूँ' कहकर उसने चौराहे पर अश्व को पड़ोसी राज्य की सीमा में मोड़ दिया।

जब एक भी अश्वारोही कृत्कार्य न हुआ तो सम्राट् क्षुब्ध हो उठे। सप्त-सैनिकों के साथ स्वयं नगर-रक्षक को राजाज्ञा का तुरन्त पालन करने भेजा गया।

नगर-रक्षक नास्तिक था। नागरिकों और नागरियों के रहस्य उसके लिए सुलभ थे। उसने अपने अनुचरों से कहा—"वहाँ की कुमारियों में कौमार्य का नाम भी शेष नहीं है। चलो, नगर के बाहर।"

नगर-प्रकोष्ठ के अन्तराल से दूर विशाल प्रांगण था। वहाँ दीनों, दलितों, शोषितों और श्रमजीवियों के आवास थे। उनकी मुख-मुद्राएँ सरल, किन्तु काल की क्रूर रेखाओं से पूर्ण थीं।

जब अन्य सैनिकों द्वारा प्रांगण के समस्त मार्ग अवरुद्ध हो गये तो अपने सप्त सहकारियों के संग नगर-रक्षक ने श्रमिक बैजू के आवास में प्रवेश किया। बैजू और उसका गीत-निमग्न परिवार फूलों के गजरे बना रहा था। सैनिकों को देखकर वे सहम गये। वे जान गये कि ये पाप और शाप की कोई दुर्गन्ध लेकर आये हैं और अनाचार का चक्र उनकी दृष्टि को चकराने लगा। संकेत पाकर एक सैनिक बैजू की कन्या को पकड़ ले चला। लड़की की माता बिलखती हुई पीछे दौड़ी। एक सैनिक ने पदाघात से उसे धराशायी कर अट्टहास किया!

इसी प्रकार इस समाज की पाँच और कुमारियाँ एकत्र की गईं जिनमें स्वर्णकार, चर्मकार, रजक, शूलवाहक और शवदाहक की कन्याएँ थीं। उनके निर्बोध वदन पर भूख की अमिट छाप अंकित थी, परन्तु उनके जीर्ण वसनों की चरम दरिद्रता में स्वास्थ्य का वैभव झलक रहा था। उनमें चारित्र्य और मनोबल था, किन्तु नर-पशुओं के इस सशस्त्र समुदाय में वे अबला थीं।

सातवीं बारी कुम्भकार की थी। उसकी कुटिया के निकट आपाक से धुआँ उठ रहा था। साठ वर्षीय वृद्ध कुम्भकार नए घट का निर्माण कर रहा था। साथ ही वह अपनी युवती पुत्री को, घट के समान इस क्षण-भंगुर जीवन का रहस्य समझा रहा था।

उसकी चौबीस वर्षीय कन्या के प्रसन्न मुख पर अमित तेज था। यद्यपि उसकी जर्जरित साड़ी और कंचुकी समाज की बाह्य मर्यादा और कथित परम्पराओं को प्रश्रय देने में असमर्थ थीं, उसकी देह में एक ज्वार था, जो नख से शिखा तक लहराकर, अब उसके उरोजों में थमा था। इसी से तो, कंचुकी में उसका कंचन ढला, उन्मुक्त वक्षस्थल अचल स्थिर था!

नगर-रक्षक स्तम्भित रह गया। सचमुच, यह कुमारी है! अनस्पर्शी है। भैरवों के इस नैवेद्य को चुरा लेने का उसका मन हो आया। पर संस्कारों से मिला धर्म-भीरु स्वभाव और कर्त्तव्य की शृंखलाएँ उसे बाध्य कर रही थीं।

फिर भी, एक प्रश्न उसे काट रहा था—क्या महा-भैरव की आशीष, तारुण्य के इस वरदान को भी लाँघ जाएगी ?

"कुम्भकार ?"

बधिर वृद्ध ने कुछ न सुना। कुमारी ने उसे हिलाकर जब सैनिकों की ओर आकृष्ट कराया, तो वह राजद्वारियों को देखता रह गया।

"तुम्हारी कुमारी को ले जाते हैं ?"

कोषपाल उसके सम्मुख स्वर्णमुद्रा की थैली खोल रहा था।

एक सैनिक कुमारी की ओर बढ़ा। नगर-रक्षक ने उसे रोक दिया। कुम्भकार की उस कला-कृति को वह स्वयं छूना चाहता था कि जिसकी देह की एक-एक रेखा तने हुए तार की तरह तीक्ष्ण और नुकीली थी।

"मैं न जाऊँगी।"

—कहकर उसने नगर-रक्षक से हाथ छुड़ा लिया।

"नगर-रक्षक ! भक्षक न बनो !" कुम्भकार ने उठते हुए अपनी क्षीण वाणी में कहा।

दो सैनिकों ने कुमारी के हाथ कसकर पकड़ लिए। एक ने उसके पैर थाम लिए।

व्याध की कारा में बन्दी हिरनी-सी त्रस्त और ध्वस्त वह बिलखती रही !

नगर-रक्षक ने उसे अपने अश्व पर बलात् बिठा लिया।

'शूद्रों' के आवासों में कुहराम मचा था। घोड़ों की टापों से उड़े रजकणों से सारी बस्ती धूलमयी हो रही थी। बच्चे रो रहे थे, स्त्रियाँ पछाड़ें खा रही थीं और श्वान भौंक रहे थे।

बिखरी हुई स्वर्ण-मुद्राएँ चिनगारियों-सी चमक रही थीं। कुम्भकार के आँसू उन्हें गला देना चाहते थे।

पशुदल के सामने वृद्ध मानव विवस-असहाय था। यह न्याय पर स्वर्ण की पीत दैत्य की विजय थी।

* * *

अक्षय तृतीया की शहनाइयाँ बज उठीं। नगर-निवासियों को सूचना दी गई कि सात कुमारियों से सप्त भैरवों का विवाह होगा।

नगर-प्रकोष्ठ के तट-निकट बहती नदी के किनारे दर्शक एकत्र हो गये। राज-पुरोहित थे। सामन्त थे। जन-नायक और गणाभिभावक थे। नेता और दार्शनिक थे। पण्डित और पुण्यात्मा थे। कवि और गायक थे। सिंहासन पर सम्राट् और वासना की देवी थी।

विवाह के वस्त्रों-आभूषणों से अलंकृता सातों कुमारियाँ वर-मालाएँ लिये खड़ी थीं। उनकी पलकों पर आषाढ़ी मेघ थमे थे। मन में एक शून्य लहरा रहा था। उस

दिन से उन्होंने न कुछ खाया था, न कुछ पीया था। रह-रहकर वे सिसकती थीं किन्तु उनके आस-पास वाद्य-यन्त्रों का ऐसा घनघोर-नाद घहरा रहा था कि उनकी सिसकियाँ, सागर-गर्जन में लहर की पुकार-समान तिरोहित थीं।

राज्य-भर में घोषणा कर दी गई थी कि कुमारियाँ, भैरवों का स्वयं ही वरण कर रही हैं। निराहार-व्रता हैं। उनका आत्म-बलिदान अपूर्व है, अनुकरणीय है। इन सप्त-देवियों ने देश और समाज का मस्तक उन्नत किया है·····

सुमन-सज्जित वेदी के चारों ओर वस्त्र तानकर आवरण-ओट कर दी गई। ढोल और नगाड़े भीम-चीत्कार करने लगे। पुरोहित-समाज सप्तपदी द्वारा आर्यों का गौरव गा रहा था। विश्वकर्मा अपने कर्म में तल्लीन था। सप्त कन्याएँ हाथ-पैर और नाभि तक प्रकोष्ठ में बन्द हो चुकी थीं। उनके मुख पर एक निर्विकार, निर्लेप, निष्कम्प भावना थी, जो कभी नहीं मरती, कभी नहीं मिटती। नयन अपलक और स्थिर थे। उन सप्त तारिकाओं में चौदह उरोजों की नोक तक पहुँचकर, विश्वकर्मा के कठोर हाथ काँपने लगे। संसृति और संस्कृति को जीवन-दान देने वाले सुधाधरों का वह संहारक बन रहा था। मृत्यु का कवच पहने यमदूत-सा विश्वकर्मा भी जीवन-उष्मा से परे न था। वह कुमारियों के मरण से नहीं, जीवन से भयभीत हो रहा था। ईंट—ईंट पर ईंट !! और प्रत्येक ईंट पर कुमारियों में नया-जीवन लहराते वह देख रहा था ! जिस समाज और न्याय की रक्षा के पावन-प्रतीक युवराज के लिए, यह बलिदान हो रहा था, उस समाज और व्यवस्था की रचना नहीं, विनाश अपने हाथों होता, विश्वकर्मा देख रहा था।

वेदी-मण्डित झाला ढँक गया !
रेशमी अलकें ढँक गयीं !
वेणी के फूल ढँक गये !

अन्तिम ईंट चुनी गयी और कुमारियों के सप्तदीपों का निर्वाण हो गया।

पसीने से भीगा, थरथराता विश्वकर्मा नीचे उतर आया। पुरोहितों ने अन्तिम शब्दों का पाठ किया। शहनाइयाँ जोर-जोर से बज उठीं। ढोल बजने लगा—नृत्य का आयोजन हो रहा था।

सामन्तों ने, आमात्यों ने और न्याय-उन्नायकों ने विश्वकर्मा की ओर देखा। वह कुछ न बोला, पर उसकी जलती आँखें उन्हें कह रही थीं—'आज नहीं, तो सहस्र वर्ष पश्चात्, ये कुमारियाँ अवश्य सप्त-क्रान्तियाँ बन जायेंगी, और सप्तसागरों में तूफान आयेगा। सप्तलोकों में इनके वर्ग का शासन होगा और तुम भी शायद दीवारों में चुने जाओगे। तुम्हारा अन्त आयेगा। तुम्हारा प्रत्येक कदम अपना मृत्यु-द्वार खोल रहा है। अन्याय स्वयं अपना विनाशक है।'

* * *

दुर्ग की समस्त दीवारें धराशायित हैं। वही एक दीवार उत्तुंग, एकाकिनी

खड़ी है। उसमें सप्त कुमारियों की सप्त साँसें बन्द हैं। जिसकी नींव में जीवन का तारुण्य प्रज्वलित हो, वह दीवार कैसे गिर सकती है ? जहाँ सप्त-क्रान्तियाँ हों वहाँ अन्धकार कैसे रह सकता है ?

पास ही चम्पा के सात छोटे पेड़ हैं, पीत-पुष्पों से भरे-भरे। वहाँ पूजा-थाल लिये स्नानवती स्वर्ण-सुहागनें आज भी जाती हैं। प्रश्न कर, उत्तर पाती हैं, पर उसकी भाषा को वे समझ नहीं सकतीं। शायद उनमें वह पवित्रता न हो। वह तेज और विद्रोह न हो !

पर, चम्पा के फूल आज भी मुसकराते हैं।

१०

राजमहिषी का न्याय

प्रह्लादनारायण मित्तल

श्री प्रह्लादनारायण मित्तल का जन्म सन् १९२१ में आगरा में हुआ था। अभी पढ़ ही रहे थे कि पिता का साया सिर से उठ गया जिस कारण जीविका-उपार्जन में लग जाना पड़ा। जीविका-उपार्जन के साथ-साथ अध्ययन भी जारी रहा, और बी० ए० पास किया।

बचपन से ही लेखन में रुचि है। प्रथम रचना 'प्रायश्चित्त' थी, जो सन् १९३६ में 'अतुल' उपनाम से प्रकाशित हुई थी। तब से कई दर्जन कहानियाँ और एकांकी लिख चुके हैं।

हिन्दी की सभी प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में आपकी रचनाएँ प्रकाशित होती रहती हैं।

"सपादलक्ष नरेश ! अब आप बन्दी हैं !"

"गुर्जरराज ! सैन्यबल साम्राज्यों की जय-पराजय का निर्णायक अवश्य है, वीरों का नहीं ! सपादलक्ष के सीमित साधन और शक्ति-स्रोत पर विजय प्राप्त करने के लिए गुर्जर की सिंधुवाहिनी उमड़कर उसके पाँव तले आयी—क्या यह पाटन-नरेश के लिए गौरव की बात है ?

सिद्धराज जयसिंह ने वक्र दृष्टि से देखा—"साधनों और शक्ति की लड़ाई तो आदिकाल से चली आ रही है, इन्हीं के निर्णय पर साम्राज्यों का निर्माण और विनाश होता है, फिर पराजय स्वीकार न करने का मिथ्याभिमान क्यों ?"

अर्णोराज ने मुसकराकर कहा—"पशुबल, जनबल पर विजय प्राप्त कर सका, इसका अहंकार पाटन-नरेश विस्मृत नहीं कर पा रहे हैं। सपादलक्ष की सेना विजित हुई। क्या इसीलिए अर्णोराज भी पराजय स्वीकार कर लें ? यदि यही अभिलाषा है, तो गुर्जरराज परस्पर द्वन्द-युद्ध कर शक्ति-परीक्षा कर लें।"

सिद्धराज जयसिंह ने होंठ काट लिए।

* * *

राजमाता मीनलदे अपने प्रकोष्ठ में व्यग्र भाव में जयसिंह के आगमन की प्रतीक्षा कर रही थीं।

आगे जयसिंह और पीछे-पीछे अर्णोराज ने राजमाता के प्रकोष्ठ में प्रवेश किया। सिद्धराज जयसिंह ने प्रणत हो कहा—"राजमहिषी के आशीर्वाद से आज्ञा-पालन में कष्ट नहीं हुआ। सपादलक्ष की यह धरोहर माता के सम्मुख प्रस्तुत है।"

अर्णोराज ने शीश झुकाकर कहा—"प्रणाम स्वीकार हो, दर्शन कर अनुगृहीत हुआ, किन्तु इस सौभाग्य का संयोग जुटाने के लिए गुर्जरराज को सपादलक्ष की भूमि पर यमुना और सरस्वती की अजस्र धारा बहा देनी पड़ी, यह उल्लेखनीय है।"

राजमाता मीनलदे ने दाहिना हाथ उठाकर कहा—"चिरंजीव हो।"

सिद्धराज—"माँ ! राजकुल का शील और उसकी मर्यादा का यदि लोप हो जाय, तो राजा और प्रजा का अन्तर जानना सम्भाव्य नहीं है—सपादलक्ष में यह कमी बेतरह खटकी।"

राजमाता ने प्रश्न-भाव से पुत्र और अर्णोराज की ओर देखा। अर्णोराज ने जैसे सिद्धराज के अपूर्ण वाक्य को पूरा करते हुए कहा—"और राजा, राजा की मर्यादा भूल जाये—उसके और अपने शील की उपेक्षा कर दे, यह भी तो राजकुल के शील और उसकी मर्यादा पर कलंक ही है।"

राजमाता भर्त्सना के स्वर में बोलीं—"छिः कैसा अनर्थ है ! जयसिंह ! यह पाटन की राजसभा नहीं है; घर में शत्रु भी अतिथि है !"

जयसिंह ने सिर झुका लिया।

"और वत्स ! तुम्हारे पूर्वजों से वैरभाव होते हुए भी तुम्हारे प्रति कलुषभाव मेरे मन में नहीं है, राजधर्म कठोर और अन्धा होता है—वह उदारता और क्षमाशीलता की पगडण्डी पर चलने का अभ्यस्त नहीं; किन्तु मैं चाहती हूँ कि तुम दोनों बन्धुभाव ही अब ग्रहण करो और राष्ट्र की एकता में अपनी शक्ति और पुरुषार्थ की कीलें ठोक दो !"

उसी दिन राजबाला को साथ लिए कांचनदे ने जब मन्दिर में प्रवेश किया, दहलीज पर पाँव रखते ही देखा—मूर्ति-भवन में स्तुति में मग्न, कोई ध्यानावस्था में वहाँ बैठा था, चौड़ा विशाल वक्ष, पीत मांसल भुज-पेशियाँ, विस्तृत ललाट, श्रवण-पुटों में राजसी कुण्डल और मुख पर आत्म-विश्वास का ऐसा सजग भाव था, जैसे उसमें दिनकर का तेज और निशापति की मधुर कल्पना वास कर रही हो ! कांचनदे मन्दिर की चौखट पकड़े, दहलीज के पास, उस मुखाकृति पर एक दृष्टि जमाये ठगी-सी खड़ी रह गयी। राजबाला उसे देखकर मुसकराती रही।

कांचनदे की समाधि भंग करने के हेतु राजबाला ने धीरे से कहा—"राजकुमारी, देव-दर्शन करो ! देव-प्रतिमा से विमुख होकर मनुष्यों में खो जाना देवता का अपमान करना है।"

राजकुमारी कांचनदे जैसे स्वप्नलोक से उतरकर पृथ्वी पर आ गयी हो।

राजबाला ने व्यंग्य से कहा—"क्यों राजकुमारी, पत्थरों की मूर्तियों में जीवन कब से आ गया ?"

कांचनदे लज्जा से आरक्त हो उठी, राजबाला से पूछा—"राजोद्यान में यह अपरिचित युवक कौन आ गया है ?"

राजबाला—"अहा ! कैसी भोली हैं राजकुमारी—जैसे कुछ जानती ही न हों ?"

तभी वह पुरुष मन्दिर से निकलकर उसके सामने आ गया, दृष्टि-विनिमय होते ही राजकुमारी की पलकें लज्जा का भार सहन न कर सकीं। वह भी इस देव-सुन्दरी को देखकर ठगा-सा खड़ा रहा।

राजबाला ने कृत्रिम रोषभाव प्रदर्शित करते हुए अर्णोराज से प्रश्नों की झड़ी लगा दी—"कौन हो, जी तुम ? जानते नहीं, यह हमारी राजकुमारी कांचनदे का उद्यान है ?"

पुरुष ने दोनों हाथ जोड़कर कहा—"राजकुमारी का परिचय प्राप्त कर कृतार्थ हुआ; अहोभाग्य !"

राजबाला ने व्यंग्य किया—"देखती हूँ, तुम अ-शीलवान भी हो ! अभी द्वार-रक्षकों को संकेत कर तुम्हें बन्दी बनाना पड़ेगा।"

पुरुष ने मुसकराकर कहा—"बन्दी को कोई क्या बन्दी बनायेगा ? अकिंचन

का नाम अर्णोराज है।"

राजबाला ने कहा—"कोई 'राज' हो···"

कांचनदे ने राजबाला को टोककर कहा—"अच्छा, हुआ; अपनी वाणी पर पत्थर रख!" फिर अर्णोराज से दृष्टि मिलाकर कहा—"महाराज, कुशल तो है? कोई कष्ट···"

अर्णोराज मुसकराया—"राजकुमारी की सहानुभूति प्राप्त कर कृतज्ञ हुआ, परन्तु बन्दी का कुशल-क्षेम क्या? रात का बन्दी प्रातः भागा नहीं—यही उसका कुशल क्षेम है, राजकुमारी!"

राजकुमारी कांचनदे का मन द्रवित हो गया। कुछ उत्तर न बन पड़ा। अपनी व्यथा छिपाने के हेतु वह बिना अभिवादन किये वहाँ से आगे बढ़ गयी।

राजबाला ने चलते-चलते अर्णोराज से कहा—"महाराज, देव-दर्शन को यहाँ इस समय कृपया नित्य आया करें। हमारी राजकुमारी को महाराज का कुशल-क्षेम जानने की सुविधा हो जायगी!"

अर्णोराज मुसकरा दिये।

* * *

उसी शाम को राजमहिषी ने कांचनदे को सम्बोधित करते हुए कहा—"दे! तुम्हारे उद्यान में जयसिंह ने सपादलक्ष नरेश को बन्दी बनाकर रखा है। शत्रु के सम्मुख तुम्हारा पड़ना राजमर्यादा के अनुकूल न होगा, अतः शत्रु के दण्ड का निर्णय होने तक तुम्हारे प्रातः-सायं भ्रमण का प्रबन्ध मेरे उद्यान में हुआ है।"

कांचनदे अत्यन्त विस्मित भाव से बोली—"ऐं?"

राजमहिषी के मुख पर एक रहस्यमयी मुसकान की किरण चमक गयी, जिसे उन्होंने यत्नपूर्वक दबा दिया।

फिर उन्होंने पूछा—"तेरी क्या सम्मति है, राज?"

राजबाला ने गम्भीर भाव से कहा—"यही उचित है! मैं स्वयं आपसे यही निवेदन करना चाहती थी।"

राजमाता ने पुनः पूछा—"और, तुम्हारा क्या मत है, मुंजाल मेहता?"

मुंजाल मेहता गम्भीर हो गये—"राजकुल की प्रतिष्ठा के अनुरूप ही राजमाता का निर्णय है, इस विषय में मेरा अथवा कांचनदे बेटी का मत-वैभिन्य नहीं हो सकता। क्यों, बेटी कांचना?"

कांचनदे गम्भीर भाव से बोली—"ठीक है, काकाजी! अभी मैं ठहरूँ, माँ?"

मीनलदे—"नहीं, तुम जाओ बेटी। मुझे अर्णोराज की दण्ड-व्यवस्था के निर्णय के लिए मुंजाल मेहता से कुछ आवश्यक विचार-विमर्श करना है। एकान्त आवश्यक है।"

कांचनदे जैसे निर्विकार भाव से उठकर चल दी। पीछे-पीछे राजबाला भी थी।

कांचनदे और राजबाला को प्रकोष्ठ से बाहर गया देखकर मुंजाल मेहता ने किंचित् मुसकराकर कहा—"अब मुझे भी आज्ञा हो, राजमहिषी।"

मीनलदे ने प्रधान सचिव की मुसकराहट में योग देते हुए कहा—"हाँ, जाओ और शीघ्र ही मुझे परिणाम से सूचित करो।"

मुंजाल मेहता—"जो आज्ञा।"

* * *

अर्णोराज कल्पनाओं के सागर में डूब-उतरा रहा था। कांचन ने उसके विजयी मानस पर मानवीय पराजय की एक शाश्वत रेखा खींच दी थी—वह पराजय, जिसमें बार-बार पराजित होने में ही विजयोल्लास मिलता है।

इसी समय कांचनदे ने भयाकुल स्वर में पूछा—"तब क्या होगा, महाराज?"

अर्णोराज मुसकराये—"कोई नया तो नहीं, राजकुमारी, वही जो सदैव होता रहा है, अब भी होगा!"

विजित को सदैव विजेता के अहंकार की अग्नि में स्वयं को झोंक देना पड़ा है! शक्ति का प्रादुर्भाव निर्बलों की रक्षा का नहीं, सशक्त के गर्व और अहंकार की शोभा बढ़ाने का निमित्त बन गया है! वह श्रम वृथा है, कुमारी, जो शोषण-रक्त से रंजित न हो। वह पुरुषार्थ भी वृथा है जो अबलाओं और असहायों की रुदनमयी चीत्कारों से गुंथा न हो! वह राजवैभव भी क्या, जो अपने पार्श्ववर्त्ती छोटे-से स्वतन्त्र और आत्मसम्मान के पोषक राज्य को अपने चरणों में झुकाने का गर्व ग्रहण न कर सके। कीर्ति का बखान स्वयं की प्रशस्ति और निज के अहंकार-साधन की साधना में ही तो सिद्धराज का भविष्य बड़ा उज्ज्वल प्रतीत होता है।"

कांचनदे का भय द्विगुणित हुआ। बोली—"परन्तु महाराज के प्रति राजमहिषी का दृष्टिकोण उदार जान पड़ता है।"

अर्णोराज मुसकराये—"पाटन में उदारता की कमी नहीं जान पड़ती, राजकुमारी! सिद्धराज ने उदारतावश ही सपादलक्ष के निरीह और जीवन-यापन के संघर्ष में त्रस्त नागरिकों का रक्त बहाया? मुझे बन्दी बनाने का यश अर्जित किया? क्या उदारता का उपसंहार राजमाता के करकमलों द्वारा होगा?"

कांचनदे ने विस्मय से अर्णोराज की ओर देखकर कहा—"महाराज!"

"हाँ! राजकुमारी!" अर्णोराज पुनः हँसे—"सपादलक्ष और पाटन का जनसाधारण उदारता के इस महासंकल्प के प्रति भले ही दुर्विनीत हो जाये, परन्तु राजकुल में जन्म लेकर इस अभिजातवर्गीय भावना का मैं अनादर नहीं करूँगा! राजकुमारी जी! राजनीति शान्ति नहीं, युद्ध की समर्थक है; मित्रता नहीं दासत्व की पोषक है! इस उदारता में शत्रु को शरण है, किन्तु प्रतिद्वन्दी को अभय नहीं! अर्णोराज मृत्यु-वरण सहज ही कर सकेगा, किन्तु दासत्व···? छिः!"

कांचनदे को कुछ कहने का अवसर न देकर राजबाला ने प्रवेश कर कहा—"काकाजी मुंजाल मेहता इस ओर ही आ रहे हैं, महाराज से कुछ परामर्श करने के हेतु! राजकुमारी का क्या आदेश है? उन्हें मार्ग में ही रोक लूँ अभी?"—राजबाला के मुख और नेत्रों में हास्य नृत्य कर उठा।

कांचनदे ने शीघ्रता से उठकर कहा—"तब महाराज से आज्ञा चाहती हूँ।"

तभी मुंजाल मेहता ने प्रवेश कर कहा—"प्रणत होता हूँ। महाराज सपादलक्ष नरेश का क्या निर्णय रहा?"

अर्णोराज ने गम्भीर, किन्तु दृढ़ भाव से उत्तर दिया—"वीरों के निश्चय बार-बार नहीं बदलते, सचिव-श्रेष्ठ! गुर्जरराज की मित्रता का स्वागत करने के लिए सपादलक्ष सदैव प्रस्तुत है, परन्तु करद होना हमारी मर्यादा और प्रतिष्ठा के विपरीत है!"

मुंजाल मेहता—"गुर्जरराज नहीं, गुर्जरराज-महिषी कहिए, महामान्य!"

अर्णोराज मुसकराये—"बन्धन चाहे रेशमी रज्जु का हो, अथवा स्वर्ण-शृंखला का; बन्दी की दृष्टि में उसका क्या अन्तर?"

मुंजाल मेहता—"परन्तु अपने निर्णय पर विद्वज्जन बार-बार विचार करते हैं, महाराज!"

अर्णोराज—"उसकी आवश्यकता भी तो हो, सचिव-श्रेष्ठ! अपने निर्णय के औचित्य में मुझे लेशमात्र भी शंका नहीं है!"

मुंजाल मेहता की भ्रू-भंगिमा तनिक कुटिल हुई। व्यंग्यभाव से फिर उसने कहा—"तब तो सिद्धराज जयसिंह को सपादलक्ष की सेवा में उपस्थित होकर क्षमाप्रार्थी होना उचित है और महाराज को···"

अर्णोराज का मुखमण्डल असहनीय क्रोध से तमतमा गया। उन्होंने क्रोधपूर्ण स्वर में कहा—"सचिव! सपादलक्ष में ऐसे उद्दण्डतापूर्ण अपमानजनक व्यवहार करने का दण्ड मृत्यु है! बन्दी नरेश के प्रति किस प्रकार का सौजन्य बरता जाये, गुर्जरराज तुम्हें इसकी शिक्षा देने में उदासीन दीखते हैं!"

मुंजाल मेहता लज्जित हुए, क्षमाप्रार्थी होकर कहा—"दुर्विनीत होने के लिए अत्यन्त लज्जित हूँ, महाराज। कृपया क्षमा करें! परन्तु राजनीति कठोर धर्मनीति की पोषक है—विजित और विजेता की स्थिति में महान् अन्तर है। करद होना आपको स्वीकार नहीं? खेद होता है! तब फिर क्या उपाय है? राजनीति और हठ! राजमहिषी को कठोर राजदण्ड की व्यवस्था करते हुए महान् सन्ताप होगा।"

अर्णोराज की मुखमुद्रा की कठोरता कुछ कम हुई, उन्होंने कहा—"राजमहिषी की अनुकम्पा के लिए मैं अभारी हूँ! परन्तु परतन्त्रता से सनी मुक्ति! इसकी कल्पना ही पापपूर्ण है।"

मुंजाल मेहता ने विनीत स्वर में कहा—"क्षमा चाहता हूँ, महाराज! परन्तु राजपुरुषों का जीवन निर्मूल नहीं कि उसकी महत्ता सहज ही अस्वीकार की जा सके! वर्ग-परम्परा, सशक्त का अशक्त पर प्रभुत्व और जनहित के कल्याण के लिए अपने निज की अवहेलना भी कैसे सम्भव है, महाराज?"

अर्णोराज तनिक हँसे—"ठीक कहते हो, सचिव! नहीं है सम्भव—अर्णोराज के लिए भी नहीं; सिद्धराज के लिए भी नहीं, राजमहिषी के लिए भी नहीं!"

"तब महाराज," मुंजाल मेहता ने एक पाँसा फेंका—"सपादलक्ष के विशाल

जनहित में यदि कुछ त्याग करना आवश्यक हो, तो क्यों न उस शुभ कार्य को शीघ्र सम्पन्न कर लिया जाये ?"

अर्णोराज के गम्भीर मुख पर एक भाव आया—"सपादलक्ष के विशाल जनहित में ?" प्रकट में बोले—"किन्तु सचिव, शुभ कर्म सम्पन्न होने में किसी का भी अहं क्यों बाधक बने ? अर्णोराज जन्मा, उससे बहुत पूर्व इस वसुन्धरा में गति आ चुकी थी, और जब वह जायेगा तो इस सनातन गति का क्रम ऐसा ही अक्षुण्ण छोड़ जायगा—उसे यश के सिरमौर की लालसा नहीं है, पदधूलि बन सके यही उसका सौभाग्य है। किन्तु, सपादलक्ष के जनहित की कामना केवल तुम्हारी ही है, अथवा सिद्धराज और राज-महिषी की भी ?"

"समस्त पाटन की ही, प्रभु।"

"हाँ, पाटन के जनसाधारण की बात सही है ! जन, जन के अहित की कल्पना नहीं कर सकता—वह विशिष्ट जनों का लक्ष्य है। उसका मापदण्ड अहंकार और लिप्सा नहीं है, वह जीवन-यापन की समान सुविधाओं के भाव से ही चिन्तन करता है। राजपुरुष का जीवन अमूल्य हो सकता है, सचिव, परन्तु क्या पाटन-नरेश की दृष्टि में जन का कोई मूल्य नहीं ?"

मुंजाल मेहता—"ऐसा तो नहीं, महाराज ! जन ही तो शक्ति का स्रोत है; जीवन की गति, उसकी प्रेरणा !"

अर्णोराज पुनः हँसे—"तो सपादलक्ष के ही जनहित से सिद्धराज का क्या प्रयोजन है ? क्यों न वह जनमात्र का हो ?"

"महाराज को पाटन नरेश की सद्भावना में संशय की गन्ध आती है ?"

अर्णोराज—"कहूँ कि हाँ, तो ? क्या जनहित की भावना से ही पाटन की राज्य-विस्तार की क्षुधा जाग उठी है आज ? पाटन के चारों ओर शत-शत नर-नारियों का करुण-क्रन्दन, दुधमुँहे शिशुओं का विलाप, क्षत-विक्षतों का पीड़ामय स्वर भी क्या गुर्जरराज जयसिंह की जनहित की कामना का स्वस्तिगान करता प्रतीत होता है, पाटन-सचिव को ?"

मुंजाल मेहता ने तर्क किया—"राज्य-विस्तार की भावना शासक के पुरुषार्थ की प्रतीक है, महाराज।"

अर्णोराज जोर से हँसे—"और, पुरुषार्थ का यह परीक्षण सदैव अपने से निर्बल और अशक्त पर ही किया जाता है !"

मुंजाल मेहता अप्रतिभ हुए—"किन्तु पार्श्व की अव्यवस्था और अशांति अपने लिए भी तो अकल्याणकारी हो सकती है, महाराज !"

अर्णोराज का मुख लाल हो गया—"अव्यवस्था और अशान्ति का उत्तर-दायित्व लेने में हम में कितने अतत्पर हैं, सचिव ? परन्तु इतर जनों के अभाव और उनकी पीड़ा का भी अनुभव कभी हमें हुआ है ?"

मुंजाल मेहता निरुत्तर हो गये।

अर्णोराज ने पुनः कहा—"प्राप्ति की दौड़ में सिद्धराज सदैव अग्रणी रहे हैं—मैं उनका यह अधिकार हस्तगत नहीं करना चाहता। जनहित के लिए अर्णोराज न कर सके, सिद्धराज ही कुछ त्याग करें ! जनहित का विशाल क्षेत्र है उनके सम्मुख, शुभ कर्म में विलम्ब क्यों हो, अब ?"

मुंजाल मेहता ने प्रसंग बदल दिया—"महाराज से तर्क में विजय प्राप्त करना सहज नहीं है, किन्तु महाराज, राजमाता ने अन्य शोध भी किया है—करद न होइए तो गुर्जरराज का दान ही स्वीकार कर लीजिये ! राजमहिषी आपको मुक्ति दे देंगी।"

अर्णोराज जैसे अपमान की सौ-सौ बर्छियाँ खाकर तिलमिला उठे। अनजाने ही उनका अभ्यस्त हाथ अपनी कटि की ओर बढ़ गया।

मुंजाल मेहता मुसकराते रहे—"विवशता है, महाराज ! राजमहिषी ने आपके लिए इसी राजदण्ड की व्यवस्था की है कि आपको गुर्जरराज जयसिंह की पुत्री काचनदे का पाणिग्रहण करना ही पड़ेगा और···"

इसी समय राजमहिषी मीनलदे ने सिद्धराज जयसिंह के साथ प्रवेश करके मुंजाल मेहता के अपूर्ण वाक्य को पूर्ण करते हुए कहा—"और मैं अर्णोराज की किसी अस्वीकृति को मान्यता नहीं दूँगी, यही मेरी आज्ञा है।"

अर्णोराज ने विस्मय से अवाक् होकर राजमहिषी के सम्मान में शीश झुका दिया।

११

देवी चन्द्रगुप्त

भगवतशरण उपाध्याय

●

श्री भगवतशरण उपाध्याय का जन्म सन् १९१० में हुआ। आरम्भ से ही आप अध्यवसायी हैं, खूब पढ़ा है और विदेशों में घूमे हैं। काशी विश्वविद्यालय की शोध-पत्रिका के सम्पादक रह चुके हैं और बिड़ला कालिज, पिलानी में प्राध्यापक का कार्य भी किया है। अमेरिका और यूरोप के अनेक विश्वविद्यालयों में विजिटिंग प्रोफेसर और इन्स्टिट्यूट ऑफ एशियन स्टडीज, हैदराबाद के निर्देशक के पद पर भी कार्य किया है। आजकल नागरी-प्रचारिणी-सभा के हिन्दी विश्वकोष का सम्पादन कर रहे हैं। हिन्दी के इस विद्वान लेखक की भाषा में जादू है और शैली में सम्मोहन।

रचनाएँ

'साहित्य और कला', 'विश्व-साहित्य की रूपरेखा', 'कालिदास का भारत', 'कालिदास के सुभाषित', 'सांस्कृतिक निबन्ध', 'कुछ फीचर : कुछ एकांकी', 'सागर की लहरों पर', 'कलकत्ता से पीकिंग', 'सांस्कृतिक भारत', 'अंग्रेजी-साहित्य की रूपरेखा', आदि।

"मदिरे !"

"आई, महादेवी, आई !" मदिरा ने मधु-कलश ससंभ्रम रख दिया।

"तू लाक्षा-पात्र धर दे, मेनके। यह काम तेरे बस का नहीं।" विशाल दर्पण की ओर मुँह किये सम्राज्ञी ने दूसरी प्रसाधिका से कहा।

मदिरा लम्बे डग भरती तब तक उसके पास पहुँच चुकी थी।

"आज्ञा, देवि !" वह बोली।

"लाक्षा कुछ गाढ़ी है, मदिरे। देख न, होंठ कुछ अस्वाभाविक से हो गये।" स्वच्छ आदर्श में ध्रुवस्वामिनी का अमानवी प्रतिबिम्ब चमक रहा था।

होठों की रक्तिमा कपोलों की लालिमा से सर्वथा भिन्न थी, गहरी।

"सही, देवि, इसका रंग कुछ गहरा है, किन्तु, दोष मेनका का नहीं, लाक्षा-पात्र का है। इन्द्रनील के इस पात्र में लाक्षा का रंग जब तक प्रचुर गाढ़ नहीं होता तब तक वह दीख ही नहीं पड़ता।" मदिरा बोली।

"इसी कारण उदीच्य देशों में यह पात्र शुभ्र स्फटिक या मुक्ताभ मरकत का होता है।" महादेवी अब भी दर्पण में ही देख रही थी।

"ठीक, स्वामिनी, और इस मध्यदेश में मार्जार नेत्राभ वैदूर्य का ? परन्तु क्या देवी को ज्ञात है कि सिंहलियों के प्रसाधन में इन्द्रनील के लाक्षा-पात्र का ही प्रचलन क्यों है ?" मदिरा ने भवों को कुछ ऊपर खींचते हुए पूछा।

"जानती हूँ, मदिरे ! सिंहलियों के गहरे ताम्रवर्ण पर गहरी ही लाक्षा फबती है। क्यों, है न ?"

"सत्य, स्वामिनी। परन्तु इस ताम्रवर्ण की तो एक ही रही !"

ध्रुवदेवी और मदिरा एक साथ खिलखिला पड़ीं। अब तक नितान्त मूक दोनों प्रसाधिकाओं ने भी हँसी में योग दिया।

"और सिंहल-नरेश का नाम जानती हो ?" विद्रुम-पंक्तियाँ खोलती सम्राज्ञी ने मदिरा से पूछा।

"हा, हां, मेघवर्ण !" मदिरा ने कुछ ऊँचे स्वर में उत्तर दिया।

हँसी की फुहार फिर छूटी।

मदिरा ने सुवासित जल की बूँदें लाक्षा-पात्र में डाल दीं। लाक्षा ढीली हो गयी। शृंगार फलक पर रख उसमें वर्तिका डुबोकर उसने सम्राज्ञी को दिया। सम्राज्ञी ने वर्तिका धीरे-धीरे होंठों पर फिरा दी।

मदिरा ने कहा—"महादेवी, लालिमा तो और गहरी हो गयी।"

दौड़कर उसने जलपात्र उठा लिया।

"आज मुझे क्या हो गया है?" ध्रुवस्वामिनी बोली।

"आज महादेवी को साम्राज्य अर्पित होगा, चरणों में चतुःसमुद्रान्त फैली गुप्त-प्राचीरें लोटेंगी। उज्झितमान जल्दी न होना, देवि। फिर सिंहल और कामरूप, शक और मुरुण्डभूमि, शाही-शाहानुशाही सम्पदा, सभी बारी-बारी अर्पित होंगे।" मदिरा जैसे अपने आपसे बोलती जा रही थी। साथ ही उसका हाथ वर्णपात्र की शलाका को रंग में डुबोकर वेगपूर्वक उसे फेर रहा था।

"चुप भी रहेगी, मूर्ख!" ध्रुवस्वामिनी का कोमल सहास स्वर उसकी अभ्यर्थना में सुन पड़ा। होंठ धोकर रानी अब उन्हें मोरपंख से पोंछने लगी थी।

उसने लाक्षा वर्तिका से होंठों के उभार पर लगा ली। उनकी रक्तिमा अब असामान्य आकर्षक हो चली थी। रंग अंगरागचर्चित कोमल त्वचा पर खिल उठा। फेनक से धोये सम्राज्ञी के रंग में एक प्रकार की दीप्ति भर गयी थी। अरुण की बिखरती आभा से विलास-कक्ष आलोकित हो उठा था। उसके स्पर्श से महादेवी का बहिरंग खिल उठा।

"लोध्रचूर्ण झाँक रहा है, स्वामिनी!" चूर्ण-पात्र आगे बढ़ाते हुए मदिरा ने कहा।

"ला, उसे भी ला।" हँसती सम्राज्ञी बोली, "और मंजरी, क्या भक्ति के लिए वर्ण प्रस्तुत है?"

"और विशेषक-द्रव्य भी, महादेवी। कब से लिए खड़ी हूँ।" मंजरी आगे बढ़ आई।

"अच्छा-अच्छा, रुक। बारी-बारी से।" लोध्रचूर्ण रूई की वर्तिका से होंठों पर लगाते-लगाते ध्रुवस्वामिनी बोली।

फिर नरम कुर्च से इतस्ततः फैले लोध्रकणों को उसने पोंछ लिया। चूर्ण के स्पर्श से होंठों की रक्तिमा कुछ पाण्डुर हो गई। कर्पूरगौर वदन पर होंठों का लाल धनु स्पष्ट तन गया। बड़े उभरे नेत्रों की श्याम-श्वेत भूमि में रतनारे डोरे पड़े थे। उनकी पैनी मार रह-रहकर दायें-बायें कटाराकृति दोहरी रेखायें खींच देती। भारी कोये लम्बे पक्ष्मों से अर्धावृत थे। देवी ने स्निग्धांजन-भरी शलाका जब उन पर फेरी, उनमें जैसे श्यामल सिन्धु लहरा उठा। जब वे नेत्र तिरछे पड़ते, पलकों से लगता जैसे जुही के पीछे अलियों की लम्बी पंक्ति उड़ी जा रही हो।

फैले तुषार गौर भाल के बीच नासिकामूल के ऊपर ध्रुवस्वामिनी ने तिलक रचना की। केसर का नितान्त रक्तिम आर्द्रबिन्दु रच उसके चतुर्दिक उसने श्वेत चन्दन बिन्दुओं का मनोहर वृत्त रचा—भक्ति। कपोल अभी तक सूने थे। एक हाथ में वर्ण-पात्र, दूसरे में तूलिका लिए मंजरी आगे बढ़ी। स्वामिनी की ऊँची गात्रयष्टि कई स्थलों पर ठिगनी मंजरी की पहुँच के बाहर थी। वह देख मदिरा मुसकराई। ध्रुवस्वामिनी उसके संकेत को आंकती ऊँचे भद्रासन पर बैठ गयी। अपना उन्नत मस्तक और उठा

कुछ आगे बढ़ा दिया। मंजरी ने कालीयक मिश्रित द्रव्य की अरुण और श्वेत रेखायें गण्डस्थल से चिबुक तक दोनों ओर खींच दीं। दर्पण-स्वच्छ कपोल दो भागों में बँट गये। रेखाओं पर दोहरी रेखाओं के बीच उसने पत्र-लेखन किया। लता की क्षुद्र टहनियों पर क्षुद्रतर पत्र हिल चले। चिबुक की ढाल और कपोल-रेखाओं की सन्धि पर उसने अंजनश्याम शंखरूप तिल लिखा। पास की हिमधवल भूमि और चमक उठी। चौंककर कन्दर्प जागा।

"चल हट!" कह ध्रुवस्वामिनी फिर दर्पणाभिमुख हुई। कटिपर्यन्त उसकी समूची देह प्रसाधन की क्रीड़ाभूमि थी। उस पर बाख्त्री की शिल्पकारिका मदिरा और उज्जयिनी की प्रसाधिका मंजरी की कला अंकित थी।

अब केरली मेनका उसके श्रोणितटावलम्बी शिरोरुहों को वेणिबद्ध करने चली। सौवर्ण भद्रासन उसने स्वामिनी के समीप कर दिया। सम्राज्ञी बैठ गयी। कालागुरु धूपादि से सुखाये उसके पिंगल केशपुंज को मेनका ने अपने हाथों में ले लिया। फिर मुट्ठी-भर पुष्परज ले उसने केशों को मल दिया। मकरन्द सुरभि रह-रहकर कक्ष में उठने लगी। भित्ति-चित्र उसकी सुवास से मद उठे।

केरली ने केशपुंज तीन भागों में बाँट दिया। सामने की अलकों को मुकुलाकृत कर अनन्त संख्या में दो-तीन पंक्तियों में ललाट के ऊपर दोनों ओर कान तक उसने सजाया। उनमें जहाँ-तहाँ मन्दार कलिकायें डाल उसने नाग-गुंजलकों की भाँति घूघरों को लटकते छोड़ दिया। शेष नितम्बवर्ती केशों को अनेक वेणियों में बाँट उनमें नवकुरवक और मल्लिका-कुसुम पिरोये। चूड़ापाश में जूही की कलियाँ गूँथ वेणियों को एकत्र कर उसने बर्हिकलाप-सा सजाया और कबरी-छत्र की भारी ग्रन्थि कदम्ब-केतकी की माला से बाँधी। पीछे मयूरपिच्छ हिल उठा। सीमन्त की चमकती रेखा पर कदम्ब किसलयों की मुक्तामयी श्रेणी बना अलक-मुकुलों से पीछे चूड़ापाश तक की सारी भूमि पर मेनका ने मुक्ताजाल बिछा दिया। जाल के रत्न प्रातः प्रभा में चमक उठे।

केश-प्रसाधन समाप्त होते ही आलक्तक लिये मंजरी फिर पहुँची। स्वामिनी ने पैर बढ़ा दिया। सुन्दर रेखाओं से पद के छोर रंग गये। उनकी अरुणिमा धवल पृष्ठभूमि पर खिल उठी।

स्वामिनी दर्पण के सामने जा खड़ी हुई। मदिरा क्षौम दुकूल लिए आगे बढ़ी। धीरे-धीरे उसने झीने-पतले तन्वंशुक से सम्राज्ञी के वक्ष को ढक दिया, फिर उस पर पूर्ववसन्त के अनुकूल कंचुक डाला। उसकी निचली रेखा पर मोती की लड़ियाँ हिल रही थी। अधोवस्त्र उतार उसने नीलहंसचिह्नित लाल दुकूल धारण कराया। ध्रुव-स्वामिनी की तुषारकान्ति और भी दमक उठी।

विश्वमोहक नारी पर आभरण खिल उठे, कानों में उसने कनककमल पहने, उनके नीचे मणिकुण्डल हिले। उनकी आभा आदर्श-निर्मल कपोलों के पत्रलेख में हिल उठी। गले से हीरकलांछित ग्रैवेयक जा चिपका। धीरे-धीरे स्वामिनी ने सूत्र, एकावली और इन्द्रनील-सुमेरुधारी हारशेखर धारण किये। पार्श्व लम्बी हार यष्टियाँ एक दूसरे को

वक्ष पर काटने लगी। बहुवर्णिक वैजयन्तीमाल नीचे हिलने लगी। दक्षिण-बाहु पर तप्तकांचन का मकराकृत केयूर और बाईं भुजा में कार्तिकेयवाही मयूरांगद कस गये। प्रकोष्ठों पर वैदूर्यभूमि में जड़े नील मरकत से जगमगाते वज्रवलय फबने लगे। लाक्षारंजित पदों पर नूपुर झंकृत हो उठे। कर में लीलाकमल और मुख में ताम्बूल शोभित कर दर्पण पर एक दृष्टि डाल ध्रुवस्वामिनी पीछे की ओर मुड़ी। प्रसाधिकायें अपना श्रम सहस्र प्रकार मुखरित होते देख अघा गयी।

मदिरा ने श्वेताभ कलश से वैदूर्य चषक में लाल हाला ढाली। पानी से देवी के लाल नेत्र सालस अर्धविवृत हो चले। कन्दर्पदर्प से शिथिल वह तन्वी श्यामा क्षीण कटि पर दक्षिण कर टिका वाम को पार्श्वालम्बित कर क्षण-भर खड़ी हुई। फिर मध्य से तनिक झुकी श्रोणिभार से अलसगमना देवी लम्बी पलकों की काम्य आभा चतुर्दिक डालती लीलारविन्द घुमाती जैसे ही द्वार की ओर बढ़ी, देहली में किसी की छाया डोली।

सामने गुप्त साम्राज्य का यशस्वी युवराज, मगध की तरुणियों का काम्य स्वप्न, चन्द्रगुप्त खड़ा था। ध्रुवस्वामिनी उस कमनीय मूर्ति के सम्मुख मूक हो रही। उसका सम्मोहक रूप स्वयं याचक हो उठा। वह ठगी-सी खड़ी रही और चन्द्रगुप्त पार्श्व के भित्ति-चित्र-सा अंकित, निश्चल!

निद्रा पहले चन्द्रगुप्त की टूटी।

"देवी के प्रसाद के लिए उपस्थित हुआ हूँ, कल्याणि।" विनीत चन्द्रगुप्त बोला।

"अनुगृहीत हुई, चन्द्र। दिन में कैसे निकले?" ध्रुवस्वामिनी का प्रकृत स्वर लौट आया था।

"चन्द्र पृथ्वी का है, देवि! परिक्रमा के लिए आया।" अभिवादन करते चन्द्रगुप्त ने ध्रुवदेवी के कक्ष में प्रवेश किया।

मदिरा प्रसाधन की वस्तुओं को उठाने-रखने में व्यस्त थी। मेनका-मंजरी कमरे से बाहर निकल गयीं।

ध्रुवस्वामिनी एक ओर हटती हुई-सी आगे चली। पीछे युवराज का बलसीम शरीर मंत्रमुग्ध खिंचा-खिंचा-सा भद्रपीठों के समीप जा पहुँचा।

"सन्देश लेकर आये हो, युवराज?" ध्रुवस्वामिनी ने एक सौवर्ण भद्रपीठ की ओर संकेत करते, दूसरे पर स्वयं बैठते हुए पूछा।

"युवराज नहीं, भद्रे—चन्द्र! क्षणभर यह पदोचित संज्ञा विसारने दें।" युवराज ने ईषत्-मुसकानपूर्वक कहा। उसके उष्णीष के नीचे से घुँघराली काकली छूट पड़ी।

"तुम्हारा यह नारी-रूप बड़ा आकर्षक है, चन्द्र।" ध्रुवस्वामिनी ने चन्द्र के छूटे घुँघराले केशों की ओर संकेत करते हुए कहा, "परन्तु सुनो तो—यदि तुम्हें यहाँ 'युवराज' कहलाने से अरुचि है तो क्या दूसरों की अरुचि का विचार कर तुम पदविरहित संज्ञा से उनका सम्बोधन करोगे?"

चन्द्रगुप्त ध्रुवस्वामिनी के पूर्व वक्तव्य से कुछ झेंपकर अपने चौड़े वक्ष की ओर

देखने, अपनी गठी भुजाओं को कसने लगा था।

"नहीं, देवि, वह कुरुचिपूर्ण अविनीत होगा। यदि मैं ऐसा करना भी चाहूँ तो स्वयं मेरा अन्तर, मेरा विनय मुझे धिक्कारेगा।" उसने ध्रुवस्वामिनी की केवल दूसरी बात का उत्तर दिया।

मुसकान से खिले गोरे बदन पर हिलते मणिकुण्डलों की आभा छिटक रही थी।

"सन्देश तो कह दूँ, देवी!" चन्द्रगुप्त फिर बोला।

"बोलो, सुधाकर! करो सुधावर्षण!"

"छिटकाओ चाँदनी! पसारो कौमुदी!"

"हां, हां, पसारो कौमुदी, बोलो।"

"तो सुनो, देवि—आज का तुम्हारा मण्डन निष्फल हुआ।" चन्द्रगुप्त ध्रुवस्वामिनी को प्रिय सम्बोधन करते बोला।

अनवगुण्ठिता सुन्दरी पर अपनी बात का प्रभाव देखने के लिए वक्तव्य अधूरा छोड़ चन्द्रगुप्त ने अपने विशाल नयन फैला दिये। बात ने ध्रुवस्वामिनी पर गहरी चोट की। कलेजे पर साँप लोट गया।

"मेरा मण्डन निष्फल नहीं हुआ, चन्द्र—तुम जानते हो। यद्यपि हुआ ऐसा दैववशात् ही। परन्तु सन्देश—वह तो कहो।"

"सही, कल्याणि, उसे मैं फिर भूल चला था। इस भूलने का कारण भी तुम जानती हो। इस विस्मृति की दवा भी कुछ नहीं।" चन्द्रगुप्त ने नेत्र झुकाए कहा, फिर अनमना-सा वह चुप हो रहा।

"मण्डन की बात पर रुक रहना स्वादु है, चन्द्र!"

"है, देवि। क्या नहीं है?"

"इसका उत्तर मैं न दूँगी; और स्यात् उसे सुनने का तुम्हें साहस भी न हो!" ध्रुवस्वामिनी ने अधरदंशन किया।

चन्द्रगुप्त मर्माहत हो उठा।

"न दें, देवि! वह उत्तर न सुनने में ही कल्याण है। इसी में गुप्त-साम्राज्य का श्रेय है, गुप्तवंश का भी, सम्राज्ञी-युवराज का भी।"

"परन्तु उत्तर ध्वनित न करने से ही क्या उसका तात्पर्य अव्यक्त रह जाता है? सच ही क्या मैं मूक रहकर भी उसे सहस्र जिह्वाओं से नहीं कह जाती, और क्या बधिर बनकर भी तुम सौ-सौ कानों से उसे नहीं सुन लेते? सुन्दर प्रिय कुमार, भोले नहीं हो!"

चन्द्रगुप्त एकटक ध्रुवस्वामिनी के फरफराते होंठों को निहार रहा था।

"और तुमसे मैंने कितनी बार कहा—तुम्हारी भुजाओं में पर्याप्त बल है। साहस तुममें अनियन्त्रित है। यदि तुम शक्ति तोलना चाहो तो गुप्त-साम्राज्य की प्राचीरें तुम्हें रोक नहीं सकतीं। फिर यह भी जान लो कि गुप्त-साम्राज्य के बाहर भी आकाश की सीमाएँ सुदूर के अन्तरिक्ष से मिलती हैं। पृथ्वी विपुल है चन्द्र, और तुम्हारे

जीवन का प्रभात, मध्यान्ह, अपराह्न और संध्या से सुदूरपूर्व है। साहस करो। आर्य के मनोनीत हो। विनय की व्यवस्था उनके लिए है जो उसे हाथ में लेकर निबाह नहीं सकते। तुम समर्थ हो और समर्थ को दोष नहीं होता।" ध्रुवस्वामिनी की वाणी कक्ष की दीवारों से टकरा-टकराकर बिखर रही थीं।

"बात रह गई, महादेवि।"

"बात तो रह ही गई, चन्द्र।"

"और मैं मंत्रमुग्ध-सा तुम्हारी सुधाधारा पीता रहा।"

"विचारो, चन्द्र, मेरी बातों पर कुछ विचार करो और दुर्बल शृंखलाओं को शक्ति लगाकर तोड़ दो। आह, यदि आज तुम्हारी जगह मैं होती!"

"तब, कल्याणि, मैं अपने को सर्वथा तुम्हारे हाथों में छोड़ देता। यद्यपि तुम्हारा 'मैं' न होना उस स्थिति में अन्तर नहीं डालता। मैं फिर भी निरायास तुम्हारे ही ऊपर अवलम्बित हूँ।"

"फिर कह डालो, चन्द्र। तुम्हारा दौत्य कुछ मधुर अवसर साथ लाया होगा। बोलो।"

"देवि, सम्राट् आज संसद में विराज रहे हैं और संध्या तक प्रायः वह सावकाश न हो सकेंगे। मुझे खेद है, भद्रे।"

"चन्द्र, ध्रुवस्वामिनी खण्डिता न होगी, विश्वास करो। उसका उपकार ही किया तुमने यह सुसंवाद लाकर। परन्तु बात क्या है, कुछ कहोगे?"

"अभी नहीं, देवि। अभी कहना संदिग्ध है। जब सम्राट् मंत्रणागार से निकलें तभी कुछ कह सकूँगा। पर इतना अवश्य है कि वह इस समय किसी ऐसे निश्चय पर पहुँच रहे हैं, जिसका प्रभाव समस्त गुप्त-साम्राज्य और हमारे इस गुप्त-कुल पर पड़ेगा। कुछ आश्चर्य नहीं यदि हम दोनों भी उस निश्चय की परिधि में आ जायें। शक-शिविर से विशेष दूत आया है, विशेष संधि-संवाद के साथ।"

"तब निश्चित है कि पराजय अपनी हुई, युवराज।"

"निश्चय, देवि। यह तो मैं तभी समझ गया था जब सर्वथा अनुगामिनी सेना के साथ मेरे लौट आने की आज्ञा भूल से भेजी गयी। मेरे आने के पूर्व ही दैवपुत्रों और शाहीशाहानुशाहियों की सेना अन्त्य मुरुण्डों और उज्जयिनी के शकों से मथुरा के शक-स्कन्धावारों में मिल गयी थी। भविष्य धूमिल है, देवि।"

"समझी। परन्तु भविष्य नितान्त स्पष्ट है, युवराज! और देखो, समय रहते अब भी प्रयास करो।"

"अच्छा, देवि, अच्छा। तनिक रुक जाओ। देखो, संध्या तक सब रहस्य खुल जायगा।"

"संध्या तक सब रहस्य खुल जायगा। अच्छा, खुल जाने दो। और तब संध्योपरान्त रात्रि होगी, निश्चय चन्द्र चमकेगा। पर राहु से सावधान, निशानाथ!"

"चला, कल्याणि। शक्तिबोझिल शरीर पवन के आघात से आगा-पीछा

करता है। विचारूँगा। संभव है तुम्हारे आदेश में ही कल्याण हो।"

चन्द्रगुप्त चला गया। ध्रुवस्वामिनी देहली में आ खड़ी हुई और जब तक युवराज प्रमदवन के छोर पर आँखों से ओझल न हो गया वह चुपचाप उसका सिंह-गमन देखती रही।

* * *

"देवि !" सम्राट् ने संध्या की गोधूलि में आलोक शब्दों को स्वर से दबाते हुए ध्रुवस्वामिनी के प्रासाद में प्रवेश करते ही पुकारा।

ध्रुवस्वामिनी अन्यमनस्क थी, चिन्ता में निमग्न। परन्तु सम्राट् का स्वर सुनते ही सावधान हो वह बोली —"आज्ञा, देव !"

सम्राट् अब भी कृपाण-वेदिकाओं के पीछे था। ध्रुवस्वामिनी ने बढ़कर रामगुप्त का स्वागत किया।

"आज्ञा कुछ नहीं। अत्यन्त शीघ्रता की आवश्यकता है, और शक्ति की।" रामगुप्त ने कक्ष में प्रवेश करते हुए कहा।

ध्रुवस्वामिनी पर सम्राट् के शब्दों का कुछ प्रभाव न हुआ। वह उसकी 'शक्ति' से पूर्णतया अवगत थी।

"देव क्या रणक्षेत्र में जाएंगे ?" ध्रुवस्वामिनी ने व्यंग्यपूर्वक पूछा—"परन्तु 'समरशतविततविजयी' महाराज तो हाल ही मथुरा से पधारे हैं, फिर ऐसी जल्दी क्या है ? क्या शकों ने आत्मसमर्पण कर दिया ?"

"हँसी का समय नहीं है, देवि ! बैठ जाओ और मेरी बातें तनिक ध्यान से सुनो।" रामगुप्त ने कंचुकी और यवनी को संकेत से बाहर भेज दिया।

भद्रपीठ पर बैठते हुए, आसनासीन रामगुप्त की ओर झुककर ध्रुवस्वामिनी ने कहा—"आज्ञा, देव।"

"सुनो, देवि। मथुरा का समाचार अच्छा नहीं है। परन्तु हाँ, उसे कहने से पूर्व एक बात और कह लूँ···"

"उसे कहें न !" ध्रुवस्वामिनी ने बात काटते हुए कहा।

"अच्छा पहले वही की सुन लो। मथुरा मे जो दैवपुत्र, शाहीशाहानुशाहि शकमुरुण्डादि सघबद्ध एकत्र हुए थे सो उनकी शक्ति सर्वथा अजेय हो गयी थी न ? परन्तु, देखो ! वह दूसरी बात इससे कुछ कम महत्त्व की नहीं और तुमसे उसका विशेष सम्बन्ध है।" रामगुप्त कुछ गुनता-सा बोला।

ध्रुवस्वामिनी विकल हो गयी।

"फिर क्या हुआ मथुरा में ? वहां से दूत भी तो आया था ?" उसने जरा तेजी से रामगुप्त की ओर देखते हुए पूछा।

"हां, हां ! तुम तो बात ही रोके लेती हो। और मैं यहां कहने क्या आया ? हां, तो वहां उन म्लेच्छों ने आपस में तो सधि कर ली। दैवपुत्र, शाहीशाहानुशाहि, मुरुण्डादि उत्तर-पश्चिमी प्रान्तों को स्वीकार कर लौट गये। केवल शकाधिपति मथुरा में

हो जमा बैठा है। उसने···"

"क्या ? क्या ? क्या गुप्तवसुन्धरा खण्डित हो गई ? उत्तर-पश्चिमी भाग साम्राज्य से निकल गये ?" ध्रुवस्वामिनी ने अधीर हो फिर बात काटी।

"देखो, तुम फिर राजनीति उगलने लगीं। तुम्हें इन बातों से क्या काम ? तुम्हारे अन्तःपुर में तो कोई हिस्सा बटाने नहीं आता ? पर क्यों नहीं—वही तो काम की बात है। फिर भी कौन तुम्हे यह पाठ पढ़ाता है ?" कुछ सोचता हुआ रामगुप्त कहता गया—"इसी से मैं चाहता हूँ कि वह बात पहले कह लूँ। शास्त्रानुसार भी गृहशत्रु का प्रबन्ध पहले होना उचित है। सुनो, मथुरा की बात फिर होगी। पहले घर की सुनो।"

ध्रुवस्वामिनी रामगुप्त का स्वभाव जानती थी। कुछ बोली नहीं।

"यह चन्द्रगुप्त जो है, गृह-सर्प है, इससे सावधान रहो। तुम्हारे ऊपर भी, पता चलता है, उसका कुचक्र है और तुम जानती हो, प्रजा, सेना, अधिकतर मन्त्री उसी के पक्ष मे हैं। आर्य ने भी उसे ही युवराज चुना था। मुझे भी यह सब देख-सुनकर उसे युवराज बनाये रखना पड़ा, परन्तु वह गृहसर्प है, न भूलो। तुम्हे ज्ञात है किस चातुरी से मैं सम्राट् बन सका था और यदि मैंने कौटिल्य-नीति से उसे मथुरा के समरांगण से हटा न दिया होता तो वह निश्चय ही विजयी होकर मुझसे मगध का सिंहासन छीन लेता।"

"परन्तु अब तो देव ने शकों से सन्धि कर ली है।"

"हां, पर तुम्हें कैसे ज्ञात हुआ ? अभी तो मैंने दूत की बात कही भी नहीं।"

"कहना क्या अभी शेष ही रहा ? अच्छा, सन्धि की शर्तें क्या हैं ?"

"सन्धि की शर्तें कुछ कड़ी नहीं हैं।" रामगुप्त देवी के नेत्रपथ से अपने नेत्र हटा नीचे देखने लगा।

"परन्तु मुझे दुःख इस बात का है कि तुम्हारा साथ छूट जायगा।" वह फिर बोला।

ध्रुवस्वामिनी रामगुप्त की मुद्रा से भयभीत हो चली थी।

"सो कैसे ?" उसने पूछा।

"सन्धि की शर्तों के कारण।"

ध्रुवस्वामिनी का धैर्य विचलित होने लगा।

"शकराज मेरे मगधवर्ती प्रान्त लौटा देने को प्रस्तुत हैं यदि···" रामगुप्त में वाक्य पूरा करने की शक्ति न रही।

देवी भय से काँप उठी। उत्कंठा से पूछा—"यदि ?"

"यदि मैं तुम्हें उसे अर्पित कर दूँ।" रामगुप्त ने बात पूरी की।

देवी को जैसे काठ मार गया। आगे कुछ पूछने का उसे साहस न हुआ। वह जानती थी कि कापुरुष रामगुप्त कुछ भी कर सकता है। फिर भी सब-कुछ सुन लेने के लिए वह अपने कान खोल बैठी।

"और मैंने उस शर्त को स्वीकार कर लिया है।" रामगुप्त सहसा कह उठा जिसे सुनने की ध्रुवस्वामिनी प्रतिक्षण प्रतीक्षा कर रही थी।

"सुना, देवि ?" स्वर और भी अस्वाभाविक करते हुए सम्राट् ने पूछा।

"सुना। सुना लिच्छविदौहित्र आर्य समुद्रगुप्त के वंशावतंस सम्राट् रामगुप्त का यशोगान !" मर्माहत ध्रुवदेवी किसी प्रकार बोल सकी।

"और इस सम्बन्ध में मैं कोई प्रार्थना नहीं सुनना चाहता।" रामगुप्त बोला।

ध्रुवदेवी जीवित-मृत-सी हो रही थी। सहसा चिल्ला उठी—"नीच ! नराधम ! नृशंस !"

रामगुप्त ध्रुवदेवी के रोष से क्रुद्ध हो उठा।

"क्लीव ! कायर ! कापुरुष !"

पौरुष पर आक्षेप रामगुप्त न सह सका। अपमान से उसने देवी पर टूटना चाहा, परन्तु ध्रुवस्वामिनी उससे अधिक तीव्र सिद्ध हुई। पास का रजतदण्ड सहसा उठा उसने राजा के कन्धे पर दे मारा। राजा चोट का स्थल सहलाता सपद भागा। क्रोध कुछ समय तक ध्रुवस्वामिनी को सम्हाले रहा परन्तु शीघ्र ही उसे अपनी विपन्नावस्था का ध्यान आया। वह कटे वृक्ष की भाँति भूमि पर गिर पड़ी।

* * *

"जी हलका है, देवि ?" चन्द्रगुप्त ने चलते-चलते पूछा।

"है, चन्द्र, पर तुम्हारा कल्याण सर्वोपरि है। उसी की चिन्ता में मरी जाती हूँ," ध्रुवस्वामिनी बोली।

"यत्न विफल नहीं हो सकता, देवि। शार्ङ्गपाणि रक्षा करेंगे।"

"चक्रधर तुम्हारे सहायक हों, चन्द्र ! जाओ, पथ के शूल फूल हों !"

ध्रुवस्वामिनी की सत्कामना सुनने के पूर्व ही चन्द्रगुप्त उसके प्रासाद से बाहर हो गया था।

* * *

गुप्त साम्राज्य की मागध गद्दी पर अब चन्द्रगुप्त आसीन था। साम्राज्य की लाज युवराज ने ही रखी। उसकी प्राचीरें उसी ने शकराज की दाढ़ों से खींच ली थीं। ध्रुवस्वामिनी के वेश में जाकर शकराज को उसी के स्कन्धावारों में उसने मारा था। समुद्रगुप्त की मनोकामना पूरी हुई।

राज्यलक्ष्मी के साथ चन्द्रगुप्त ने ध्रुवस्वामिनी का भी पाणिग्रहण किया। व्यवहारिकों और धर्मशास्त्रियों ने क्लीव रामगुप्त को व्यवहार में मृत सिद्ध किया। विधवा ध्रुवस्वामिनी को चन्द्रगुप्त ने सधवा किया। कुलकलंक रामगुप्त का नाम गुप्त अभिलेखों से मिटा दिया गया। साम्राज्य के अट्ठारह तीर्थों में जहा-जहा रामगुप्त के नाम मुद्रांकादि मिले सब नष्ट कर दिये गये।

* * *

एक रात।

"चन्द्र, अब तो मेरे हाथ आ गये ! अब तो कोई अविनीति न होगी ?"

"नहीं, देवि, अब मैं सर्वथा तुम्हारा हूँ।"

"चन्द्र, तुम्हारा शौर्य मुझे नहीं भूलता। फिर तुमने जो अपना जीवन संकट में डालकर मेरे मान और गौरव की रक्षा की है तुम्हारा वह ऋण कभी नहीं चुका सकूँगी।"

"देवि, अपने प्रति अन्याय करती हो। तुम गुप्तकुल की गृहलक्ष्मी हो, लिच्छवि-दौहित्र आर्य समुद्रगुप्त की पुत्रवधू। मेरे जीते-जी तुम्हारी ओर कोई आँख नहीं उठा सकता। रही ऋण की बात—सो ऐसे सौ-सौ ऋण तुम्हारी कृपामात्र से चुक जाते हैं। मैं तुम्हारा दास हूँ, देवि।"

"मेरे दास नहीं, प्रियतम ! मेरे नाथ, गुप्तकुल के सूर्य और आर्यावर्त के प्राण हो तुम ! अच्छा, धारण करो अपना वह देवी-रूप जिससे तुमने शकराज को छला।"

"लो !" चन्द्रगुप्त बोला। उसने उष्णीष फेंक दिया, कुंचित कुन्तल बिखर गये। चन्द्रगुप्त देवी बना।

१२

अधरों की मदिरा

मनमोहन सरल

●

श्री मनमोहन सरल का जन्म सन् १९३४ में नजीबाबाद में हुआ। आगरा विश्वविद्यालय से बी० एस-सी०, तत्पश्चात् हिन्दी साहित्य में एम० ए० किया। आजकल शोध कार्य में तत्पर हैं। प्रथम कहानी १९४८ में प्रकाशित हुई थी, किन्तु धारावाहिक रूप से लिखना सन् १९५४ से आरम्भ किया। अब तक कई सौ रचनाएँ हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकी हैं और अनेक आकाशवाणी से प्रसारित हुई हैं। कहानियों के अतिरिक्त कविता, नाटक, आलोचना—सभी-कुछ लिखते हैं; बाल-साहित्य और वैज्ञानिक निबन्धों में भी रुचि है। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण-युक्त आपकी कहानियों का विशिष्ट स्थान है। कई प्रान्तीय भाषाओं में कतिपय रचनाओं का अनुवाद भी हुआ है। कुछ दिन 'उपमा' मासिक का सम्पादन किया, एक महत्वपूर्ण बालोपयोगी पुस्तक-माला का भी सम्पादन कर चुके हैं। आजकल आप महानन्द मिशन कालिज, गाजियाबाद के हिन्दी-विभाग में प्राध्यापक हैं।

रचनाएँ

'प्यास एक : रूप दो', आदि।

दिल्ली और आगरे की प्रभुता के मद में डूबा बाबर आगरा के किले में रंगरेलियाँ कर रहा था। इतने क्रूरतापूर्ण रक्तपात और परिश्रम से हाथ आये वैभव को बेतहाशा उपभोग करने के लिए वह सिर से पाँव तक साकी और शराब में डूब गया था। परिश्रम का कार्य करने के बाद विश्रान्ति और आमोद आवश्यक भी होता है, फिर शराब तो बहिश्त का तोफा समझी जाती है और इसे तो मजहब ने भी कबूल किया है। साकी थी गुलाब, हूर-हुस्न की परी। उसका सौन्दर्य अप्रतिम था, उसके अंग-अंग मे लोच था और एक आकर्षक उतार-चढ़ाव था उसके स्वर में। उसकी एक-एक अदा पर शहंशाह झूम उठता था। सोने की कीमती सुराही को बड़ी नजाकत से उठाये शोखी-भरे अन्दाज में वह शहंशाह के सामने घुटनों के बल बैठकर जाम भर देती थी और शहंशाह अपनी प्यासी आँखें उसके चाँद से चेहरे पर गड़ा देता था। गुलाब बाबर की इस प्यास को समझती थी; और इसका कारण भी जानती थी, इसलिए कभी लहमे-भर को आँख ऊपर उठा लेती थी। आँखें मिलते ही एक शरमाई मुसकराहट उसके अधरों पर आ जाती थी और शहंशाह निहाल हो जाते थे।

बहिश्त-जैसी रंगीनी में डूबा बाबर एक दिन गुलाब के चेहरे पर आँखें गड़ाते हुए बोला, "गुलाब, अगर तू न हुई होती तो शायद मेरी यह जीत नहीं हो सकती थी। तेरी रफाकत का अहसास मुझे मैदाने-जंग में अजीब-सा जोश दिलाता रहता था। तेरी नीम-बाज आँखें···"

लज्जा से सिर झुकाकर बीच में ही गुलाब ने कहा, "बस, बस, जहाँपनाह, नाचीज किस काबिल है! आपके लबों से ज्यादा तारीफ कहीं इसका होश न बिगाड़ दे।" और बाबर के खाली जाम को भरने लगी।

बाबर ने रोकते हुए कहा, "बस, अब रहने दे। आज इस बेजान शराब की मस्ती की जरूरत नहीं रह गयी है, आज तो इन खूबसूरत आँखों की मस्ती ही काफी है। आज तो अपने मये-इश्क से लबरेज प्यालों को ही खाली करने से हमें फुरसत हासिल होती नहीं दीख रही। सच, गुलाब, खुदापाक की कसम, तेरी वजह से ही माँबदौलत आज इस कदर खुशी के आलम में डूब सके हैं।"

"नाचीज इतनी भारी इज्जतबख्शी के लिए शहंशाह की ताउम्र शुक्र-गुजार रहेगी।"

शहंशाह पर नशा चढ़ रहा था और नशे में खुशी कई गुनी हो जाती है। झूमकर बोला, "आज शहंशाह को बेहद खुशी है। आज इस सोने की बुलबुल-हिन्द के तख्त पर बाबर का सिक्का जम चुका है। अब हम यहीं रहेंगे।"

यह सुनकर गुलाब जैसे आसमान से गिरी। बीच में ही बोल पड़ी—"... गुस्ताखी माफ हो, यह आप क्या कह रहे हैं? सिपहसालारे-आजम, उस्तादअली तो कह रहे थे कि अब हम लोग जल्द ही इस निहायत गर्म मुल्क से अपने प्यारे काबुल की तरफ रुख करेंगे। अपने वतन के खूबसूरत मंजर हर वक्त मेरी आँखों के सामने घूमते रहते हैं। सोच रही थी कि अब तो जल्द ही फिर उनका दीदार हो सकेगा। यह हिन्दोस्तां तो भट्टी की मानिन्द तपता है। यहाँ तो..." और वह कहते-कहते चुप हो गयी। उसने देखा कि बाबर उसकी बातों पर कोई ध्यान नहीं दे रहा है और उसके चेहरे पर एक खौफनाक संजीदगी की पर्त चढ़ती जा रही है। गम्भीर होने पर बाबर उसे बड़ा भयावना मालूम देने लगता था, इसलिए घबराकर वह चुप हो गयी और निगाहें धरती पर गड़ा लीं।

गम्भीर और दबंग आवाज में बाबर बोला, "अब हिन्द से वापस लौटना नामुमकिन है। अब तो इस आगरा में ही हमारी दारुल-सल्तनत बनेगी। हाँ, तो, गुलाब..." बाबर ने अपने स्वर में पहले की-सी मस्ती लाते हुए कहना शुरू किया, "आज मॉबदौलत बेहद खुश हैं। तू अपनी तबीयत का तोफा माँग ले। आज शहंशाह के हुजूर के बेशकीमती चीज भी तेरी मुराद पूरी करने के लिए हाजिर है।"

गुलाब ने सुना और सुनकर भी चुप ही रही। बस, उसने भोली अदा से उठ कर सिर झुकाकर कदमबोशी की और आगे बढ़कर शहंशाह का हाथ चूम लिया।

कोई कुछ कहे इससे पहले ही एक लौंडी ने आकर सलाम झुकाया और अर्ज किया, "शहंशाह आलम, कासिद एक जरूरी खबर लाया है। हुक्म हो तो हाजिर करूँ!"

बाबर ने इशारे से स्वीकृति दी, फिर गुलाब की तरफ देखा।

वह स्तब्ध-सी खड़ी थी। बाबर ने मुसकराकर कहा, "क्या बात है?"

उत्तर में गुलाब मुसकरा भर दी।

"तूने अपनी माँग पेश नहीं की।" बाबर ने कहा।

"मुझे कुछ नहीं चाहिये, जहाँपनाह। जो अब तक आपने दिया है, वही क्या कम है?"

"नहीं, हम चाहते हैं, तू आज कुछ जरूर माँगे।"

"अभी तो मुझे कुछ नहीं चाहिये, जब जरूरत होगी, तब माँग लूँगी।"

इसी समय कासिद अन्दर आया और सलाम करके बोला, "शहंशाह-आलम करीबन एक लाख फौज लेकर राना सागा सीकरी की तरफ से यहीं आ रहा है। उसके साथ इब्राहीम लोदी का दूसरा बेटा महमूद भी है। अन्दाज किया जाता है कि ज्यादा-से-ज्यादा चार रोज में ये लोग खानवाह तक पहुँच जायँगे।"

बाबर के सामने से पर्दा हट गया था। उसका नशा काफूर हो गया और उसकी सारी रंगीनी पलक मारते ही रुखसत हो गयी। उसने अपनी सारी उम्र ही लड़ाई में बितायी थी। वह इस खबर से घबराने वाला नहीं था। कासिद से उसने पूछा,

"सिकरी यहाँ से कितनी दूर है ?"

"कुल छब्बीस मील, जहाँपनाह।"

"हूँ !" बाबर ने कहा। फिर कुछ देर रुककर बोला, "उस्ताद अली को हाजिर किया जाये।"

बाबर के सिपाहियों में इस समाचार से बड़ी बेचैनी फैल गयी। वे स्वदेश लौटने की आशा लगाये बैठे थे, युद्ध की बात सुनकर उनके हौसले पस्त हो गये। स्वदेश से इतने दिन दूर रहने के कारण वे पहले ही काफी हतोत्साहित हो रहे थे। इतनी बड़ी लड़ाई के बाद वे आगे लड़ाई से ऊब चुके थे, लेकिन शहंशाह का हुक्म और समय की पुकार दोनों ही इतनी प्रभावपूर्ण थी कि इनके सामने सिर झुकाना ही पड़ता। उन्हें तैयार होना पड़ा। बाबर ने आज्ञा दी कि राना की सेना को सीकरी से आगे बढ़ने न दिया जाये। इसलिए उसकी सेना शीघ्र-से-शीघ्र खानवाह की ओर कूँच करने की तैयारी करने लगी।

फिर एक दिन वह भी आ गया जब खानवा में घमासान युद्ध हुआ। बाबर का तोपखाना राजपूतों के लिए क़हर साबित हुआ। तोपें आग बरसाती जाती थीं। पर राजपूतों मे हिम्मत की कमी न थी। वे एक के बाद एक तोपों के मुँह की ओर बढ़ जाते थे। इतनी बड़ी संख्या और उनका ऐसा उत्साह देखकर बाबर के सैनिकों की हिम्मत बैठ गयी। उसी समय उसकी सेना में किसी ने यह फैला दिया कि हिन्दुस्तान के एक मशहूर ज्योतिषी ने हिसाब लगाकर यह भविष्यवाणी की है कि इस लड़ाई में बाबर की हार होगी। इस समाचार से मुगलों की रही-सही हिम्मत भी जवाब दे गयी। लेकिन दूसरी तरफ राजपूत लगातार आगे बढ़ते आ रहे थे और इस विजय से उनका उत्साह बढ़ता जा रहा था। लगता जैसे वे भविष्यवाणी सच करके ही रहेंगे।

रात हो गयी थी। युद्ध अगले दिन के लिए स्थगित कर दिया गया था। रात की निस्तब्धता बढ़ती जा रही थी। युद्धभूमि में भयानक वातावरण उपस्थित था। रात के काले अँधेरे में लाशों से पटा हुआ मैदान खामोश पड़ा था।

राजपूती शिविरों मे आज की विजय की प्रसन्नता नृत्य कर रही थी। कल के लिए उनका उत्साह दूना हो गया था। राना के हिन्दू राज्य के स्वप्न सच्चे होते दीख रहे थे। सैनिक विजयोल्लास में आज की थकान को भूलकर मस्त थे।

उधर मुगलों के तम्बुओं में मुर्दनी छायी हुई थी। वफात का-सा समाँ बँध रहा था। सिपाहियों के चेहरों से रज फा आलम बरस रहा था। उनका जोश फीका पड़ चुका था। उन्हें अपनी मौत नजदीक दीख रही थी। सिर्फ बाबर के डेरे मे रोशनी थी। बाकी सब डेरों मे कत्ल की रात का-सा गमगीन अंध था। तमाम फिजा मे अजीब-सी डरावनी खामोशी थी और सिपाहियों को नींद नहीं आ रही थी। दो-दो, चार-चार, इकट्ठे होकर कल के बारे में सोच रहे थे।

"इन राजपूतों में बला का जोश है। मैं गोला चलाता-चलाता थक जाता हूँ मगर ये हैं कि आगे ही बढ़ते जाते हैं। लगता है तोप के मुँह में घुस जायेंगे। उनकी

इस कदर हिम्मत पर मेरा मजबूत दिल भी कॉप-काँप उठता है।" उस्ताद अली बयान कर रहा था—"और जहाँपनाह, वह राना, गजब का लड़ाका है। बन्दे की एक आँख, एक टाँग और एक हाथ तो है ही नहीं। बताते हैं कि उसके जिस्म पर अस्सी जबरदस्त घाव लगे हुए हैं, लेकिन चेहरे पर जरा भी शिकन नहीं। जहाँपनाह, खूब लड़ता है, बला की हिम्मत है इन लोगों में···" उस्ताद खाँ सहसा बाबर का संकेत पा चुप हो गया, नहीं तो शायद सारी रात कहता ही जाता।

बाबर के डेरे में भी एकाएक खामोशी छा गयी। बाबर सिर पर हाथ रखे बैठा था। उस्ताद खाँ सहसा चुप होकर उसकी ओर एकटक देख रहा था। पाँच-छः सरदार और बैठे थे, वे भी खामोशी से सिर झुकाये बैठे हुए थे, जैसे किसी की मौत का मातम मना रहे हों। बाबर के पीछे गुलाब खड़ी थी, डरी-सी। आज उसकी अदायें खामोश थीं। उसका रंग फीका लग रहा था। लेकिन उसकी साथिन सुराही वैसे ही अपना सिर बुलन्द किये खड़ी थी, और उसके पेट में हमेशा की तरह नशीली शराब भरे हुए थी। बाबर के पास ही उसका खाली जाम रखा हुआ था जो एक ओर को लुढ़क गया था। उसे भरने की हिम्मत भी गुलाब को नहीं हो रही थी। वह उसे सीधा तक न कर सकी थी।

इस गहरी खामोशी को एकाएक तोड़ते हुए बाबर गरज उठा, "यह कैसी मुर्दनी छा रही है? क्या तुम लोगों का खून सर्द पड़ गया है? इस तरह खामोश बैठने से तो कुछ काम चलने वाला नहीं है। सबकी जबानों पर ताले पड़ गये है। क्या तुम लोग यहाँ मेरी मौत का मातम मनाने को इकट्ठा हुए हो?"

"जहाँपनाह की मौत!" इतनी बड़ी डाँट सुनकर सबकी जीभ तालू से लग गयी। बाबर का चेहरा तमतमा रहा था। उसकी ओर देखने की किसी में हिम्मत न थी। सभी चुपचाप बुतों की तरह बैठे रहे।

बाबर फिर बोला, "जाओ, सब सिपाहियों को इकट्ठा करो। कहो, मैं उनसे कुछ कहना चाहता हूँ।" आज बाबर शहंशाह की तरह नहीं एक सिपाही को तरह बात कर रहा था।

बाबर का गला खुश्क हो चुका था। गला तर करने के लिए उसके हाथ जाम की ओर बढ़े। गुलाब की नजर उस ओर पहले से ही लगी हुई थी। उसने फुर्ती से उठाने से पहले ही जाम भर दिया। बाबर ने एक झटके से जाम उठाया और एक ही साँस में उसे खाली कर दिया···दूसरा जाम लेते समय तक उसका क्रोध शान्त हो चुका था। पर गुलाब के मन का डर अब तक वैसा ही बना हुआ था, और वह सहमी हुई सिर झुकाये खड़ी थी। तीसरा जाम खाली करते-करते बाबर की आँखें लाल हो उठीं। चेहरा तमतमा उठा, जैसे तूफान उठ आया हो। गुलाब और अधिक डर गयी। उसके हाथ से सहसा सुराही छूट गयी। रोशनी मे चमकती हुई वह सोने की सुराही छिटककर दूर गिरी और उलट गयी। गहरे रंग की वह मदिरा रोशनी में लाल रक्त-जैसी लग रही थी। सारे फर्श पर वह मादक पेय फैलकर सारे वातावरण

में अपनी महक फैलाने लगा। गुलाब का मारे डर के बुरा हाल था। सारे शरीर से पसीना छूटने लगा। वह सिर न उठा पा रही थी। उसकी निगाह धरती में गड़ी जा रही थी।

बाबर ने एक क्षण उसकी ओर देखा, फिर फर्श पर दूर तक फैली हुई शराब को, और मुसकरा दिया। गुलाब उसकी मुसकराहट न देख सकी।

तभी सरदारों समेत उस्ताद खाँ अन्दर आया। वह कुछ कहे इससे पहले ही बाबर ने अपने हाथ का जाम दूर फेंककर कहा, "खुदा पाक की कसम उठाकर मैं आज तोबा करता हूँ कि यदि कल इस लड़ाई में मुझे फतह मिली तो ताउम्र कभी शराब नही छुऊँगा। गुलाब, यह शराब बिखर गयी है तो इसका गम मत करो। इसके बिखरने से मुझे एक रोशनी मिली है, अल्ला-ताला ने इसी बहाने मेरे सामने एक रास्ता खोला है। यह अच्छा ही हुआ है। तू भी मुझसे पहले शराब छोड़ने को कहा करती थी। ले अब आज अल्लाह को शुक्र भेज, उसने अनजाने ही तेरी बात मनवा ली। अब इस सुराही और इस प्याले को तोड़कर फेंक दे। अब इनकी जरूरत नहीं रहेगी।"

गुलाब एकदम अचरज मे आ गयी। इतने लोगों के जहाँपनाह ने उससे जो अपनापा दिखलाया, उसके अहसान से दबी हुई और उसकी वजह से शर्म के साथ उसकी निगाहें न उठ सकीं। लेकिन मद्धिम-सी आवाज में कहा, "जो हुक्म, जहाँपनाह।" और बरतन उठाकर वहाँ से हट गयी।

बाबर उठकर डेरे के दरवाजे पर पहुँचा। सामने सारे सिपाही खड़े थे, मुँह लटकाये। वे बाबर के क्रोधित होने की बात सरदारों से सुन चुके थे। आज न जाने जहाँपनाह क्या कहेंगे, यह सोचकर ही वे डर रहे थे। पर बाबर ने निहायत ही मुलायम लहजे में कहना शुरू किया—

"सरदारों और मेरे बहादुर सिपाहियों, तुम लोगों ने जिस बहादुरी और जोश के साथ अब तब मेरा साथ दिया है, वह काबिले तारीफ है और उसका मैं अहसानमन्द हूँ। मैं जानता हूँ कि तुम लोग हिन्दोस्ता की गरमी से तंग आ गये हो। पर जरा सोचो तो, इस तरह पीछे हटने पर अब तक की मेहनत पर पानी फिर जायेगा। अब तक की हासिल इज्जत, यह तमाम जमीन-जायदाद, यह सल्तनत सब कुछ धूल में मिल जायेगी। और सुनो, जो आदमी पैदा हुआ है वह एक-न-एक दिन जरूर मरेगा। अल्लाह ने हमको सुनहरा मौका दिया है। अगर हम जंग में शहीद होंगे तो हमें जन्नत बख्शी जायेगी और अगर फतह हासिल करेंगे तो इतनी बड़ी सल्तनत के मालिक होंगे जो खुद किसी जन्नत से कम नहीं है। इस तरह हमारी हार और जीत दोनों में ही हमें फायदा है। मैं समझता हूँ यह बात समझकर लड़ाई से जी चुराने की कोई वजह ही नहीं रह जाती। आओ अब सब खुदापाक को हाजिर-नाजिर मानकर कसम खायें कि हम मरते दम तक जंग से मुँह न मोड़ेंगे, बहादुरी से लड़ेंगे, चाहें हम मर ही जायें। मुझे उम्मीद है कि तुम्हारा मुगलिया खून अभी सर्द नहीं पड़ा होगा।"

उस छोटी-सी किन्तु ओजस्वी वक्तृता ने सैनिकों में उत्साह भर दिया औ सबने उत्साहित होकर, 'शहंशाह बाबर जिन्दाबाद' और 'अल्लाहो-अकबर' के नारे लगाये।

बाबर की आँखों में आँसू आ गये। उसने रुँधे हुए कण्ठ से सबको शान किया और धीरे-धीरे बोला, "साथियो, मैं तुम लोगों का जोश देखकर अपने को सँभाल नहीं पा रहा हूँ। सचमुच मैं तुम लोगों के अहसान से ताउम्र दबा रहूँगा। अ तुम लोग कुरान-पाक हाथ में लेकर कसम उठाओ। मैं अभी सरदारों के सामने फि कभी शराब न छूने की कसम खा चुका हूँ। प्यालों को तोड़कर फेंक देने का हुक्म दिया जा चुका है। अब मुझे पूरी उम्मीद है कि अल्लाह पाक हमारी मदद करेगा औ हमारी फतह होगी।"

सब ने कुरान-पाक हाथ में लेकर कसम खायी और फिर पहले की तरह नारे लगाये।

अगले दिन सुबह का युद्ध बड़ा ही घमासान था। राजपूतों में कल की विजय का उत्साह था तो मुगलों में रात की शपथ का बल। फिर भी राजपूतों का उत्साह और वीरता मुगलों के बल से कहीं बढ़कर थी। मुगल अब भी घबरा रहे थे। उनक आध्यात्मिक बल राजपूतों के वास्तविक भौतिक बल के सामने कब तक ठहर सकत था! वे फिर घबराने लगे थे। यह देखकर बाबर ने पहले से दुगुनी फुर्ती से आक्रमण किया और जगह-जगह अपना घोड़ा ले जाकर सिपाहियों को रात की शपथ की याद दिलाता रहा। उस्ताद खाँ ने तोपों को और अधिक तेजी से चलाना शुरू किया इस तरह युद्ध में और अधिक तेजी आ गयी।

दोपहर तक कोई विशेष घटना नहीं घटी। दोनों ओर की सेनायें बड़े उत्साह के साथ लड़ती रहीं। कभी राजपूतों का पलड़ा भारी हो जाता तो कभी मुगलों का लेकिन पीछे हटने का किसी ने नाम न लिया। तभी सहसा राना को गहरा घाव लगा और वह मूर्च्छित होकर एक ओर को लुढ़क गये। सरदारों ने इसे लक्ष्य किया और तुरन्त उन्हें हटाकर उनके स्थान पर वही पोशाक पहनाकर एक मिलता-जुलता अन्य व्यक्ति हाथी पर बैठा दिया। इस प्रकार शेष राजपूती सेना को इस दुर्घटना की वास्तविकता का पता ही न चल सका, और इसलिए उनके उत्साह में कोई परिवर्तन न आ पाया।

बाबर पर तीरों की बौछार हो रही थी। राजपूतों ने मुगल सेना को चारों ओर से घेर लिया था और वे तेजी से तीर चला रहे थे। मुगल सरदार जी-जान से बाबर की रक्षा कर रहे थे। लेकिन बाबर उस बौछार से मुश्किल से ही बच पा रहा था। उसके सैनिक बेबस से लड़ रहे थे।

तभी राजपूती सेना में एकाएक भगदड़-सी मच गयी। सहसा उनका पराक्रम ढीला पड़ गया। किसी ने सेना में यह फैला दिया कि राना मारे गये। जो व्यक्ति हाथी पर बैठा है, वह राना नहीं है। यह सुनकर जीतते हुए राजपूतों के पाँव उखड़ गये।

राजपूत सेनापति इस आश्चर्य में ही पड़े रहे कि जब यह बात केवल कुछ विश्वस्त लोगों को ही मालूम थी तब कैसे और किसने इसे सेना में फैला दिया। हारते हुए मुगलों ने जब यह देखा तो वे उन पर टूट पड़े।

बाबर पर अब भी वैसी ही बौछार हो रही थी। उसमें कुछ शिथिलता तो आयी पर बच निकलने का अवसर अब भी नहीं था। सहसा बाबर ने दूर से देखा, "राना मर गये! भागो, भागो!" कहता हुआ एक क्षीण स्वर उसकी ओर बढ़ रहा है। निकट आने पर उसने देखा कि वह एक सुन्दर राजपूत युवक था। और अधिक पास आने पर बाबर चीख उठा, "गुलाब!"

"हाँ, जहाँपनाह," हाँफते-हाँफते गुलाब बोली, "मैं ही हूँ आपकी अदना लौंडी, गुलाब!" और उसने सिर झुकाकर आदाब किया।

बाबर उसे एकटक देखने के अतिरिक्त कुछ न कर सका।

इस बीच बाबर अपने को बचाना भूल गया था, लेकिन गुलाब का ध्यान उधर था। बाबर की ओर आता हुआ एक तीर सहसा आगे बढ़ी हुई गुलाब के लगा और वह 'उफ' कहकर गिर पड़ी। गिरते-गिरते उसने पीड़ा से कराहते हुए कहा, "शहंशाह ने जब शराब ही छोड़ दी तब मेरी क्या जरूरत रह गयी लेकिन शहंशाह की जरूरत तो अब और ज्यादा हो गयी है। इसलिए इस नाचीज ने यह गुस्ताखी की है। माफ करें, जहाँपनाह।"

बाबर उसके सहसा बन्द होते हुए होंठों में मदिरा की-सी लाल मादकता पाकर तड़प उठा। उससे न रहा गया। उसने उतरकर जल्दी से उन तड़पते होंठों को चूम लिया जैसे उसने शराब का जाम खाली किया हो।

गुलाब का चेहरा एक विशेष आभा से भर गया और अतीव आनन्द से भर कर उसने बाबर की ओर देखा। उसके सर्द होते हुए होंठों में फिर कम्पन हुई, "जहाँपनाह, आपने मुझे तोफा माँगने को कहा था। इस वक्त बिना माँगे ही मुझे दुनिया की बेशकीमती चीज मिल गयी है जिसे मैं बहुत चाहने पर भी कभी न माँग सकती थी और न शायद हासिल हो कर सकती थी। आपका यह आखिरी तोफा लेकर मैं रुखसत हो रही हूँ। खुदा हाफिज!" और वे होंठ स्तब्ध हो गये।

बाबर की आँखों में सागर उतर आया था।

१३

कोहनूर की कीमत

महीपसिंह

●

श्री महीपसिंह का जन्म सन् १९३० में उत्तर-प्रदेश के उन्नाव जिले में हुआ। १९५४ में हिन्दी-साहित्य में एम० ए० की उपाधि प्राप्त की। एक वर्ष तक 'दशमेश' मासिक का सम्पादन किया। सन् १९५५ से बम्बई के खालसा कालिज में हिन्दी के प्राध्यापक हैं। प्रथम रचना 'माँ, तेरे कितने पुत्र हैं?' शीर्षक से सन् १९४९ में जालन्धर से प्रकाशित साप्ताहिक 'आकाशवाणी' में छपी थी। अब तक सौ से भी अधिक रचनाएँ विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकी हैं। 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' द्वारा आयोजित 'प्रेमचन्द-कहानी-प्रतियोगिता' में प्रथम पुरस्कार प्राप्त कर चुके हैं। नई पीढ़ी के कथाकारों में आपका प्रमुख स्थान है।

रचनाएँ

'सुबह के फूल', आदि।

रणजीतसिंह से किसी ने पूछा, "महाराज, कोहनूर हीरे की आप क्या कीमत अनुमान करते हैं ?"

उन्होंने अपनी दाहिनी भुजा पर बँधे जगमग कोहनूर की ओर देखा और फिर बड़े निःशंक भाव से उत्तर दिया, "पाँच जूतियाँ !"

घनी मूंछों और लम्बी श्वेत दाढ़ी के बीच छिपे हुए रक्ताभ होंठों पर फिर एक हलकी-सी गर्वभरी मुसकराहट खेल गई, जैसे श्वेत बादलों के मध्य सूर्य की प्रकाशमान किरण। प्रश्नकर्ता भौंचक्का-सा उनकी ओर देखता रहा। दो क्षण की निस्तब्धता फिर दरबारियों की खिलखिलाहट-भरी गूंज में डूब गई।

कोहनूर का वास्तविक इतिहास कोई नहीं जानता, किन्तु इतना इतिहास ऐतिहासिक सन्देहों से परे है कि आज तक किसी ने उसे कीमत देकर नहीं खरीदा।

कहते हैं जब बाबर ने पानीपत के युद्ध में इब्राहिम लोधी पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् शाहजादा हुमायूँ को आगरा पर अधिकार करने के लिए भेजा तो वहाँ एक विचित्र घटना घटी। हुमायूँ अपनी विजयी सेना सहित दुर्ग में प्रवेश करने जा रहा था कि उसे द्वार पर एक वृद्धा मिली। वह वृद्धा पराजित इब्राहिम लोधी की अभागिन माँ थी। उसने हुमायूँ को एक डिबिया भेंट की जिसमें एक जगमगाता हीरा था। उसके बदले में वह वृद्धा अपने और रनिवास की अन्य बेगमों के प्राणों की रक्षा चाहती थी।

तब से लगभग दो सौ वर्ष तक वह अमूल्य हीरा मुगल बादशाहों के कोष की शोभा बढ़ाता रहा। किन्तु उस हीरे का यह सुकोमल नामकरण क्रूर नादिरशाह द्वारा हुआ। तब मुगलों का गौरवसूर्य अस्ताचल में छिप चुका था। प्रतीची की मध्यम पड़ती अरुणिमा के समान दिल्ली के सिंहासन पर मोहम्मद शाह अपने बचे-खुचे वैभव का रंग प्रदर्शित कर रहा था। शायद इसीलिए लोग उसे मोहम्मदशाह 'रंगीला' कहते थे। नादिरशाह रूपी कराल रात्रि ने उस क्षीणप्राय अरुणिमा को ग्रस लिया और जब वह हीरा उसके अधिकार में आया, तो उसके मुँह से अनायास फूट पड़ा—

"वल्लाह, ई कोहनूर अस्त !*"

कौन जानता था कि एक दिन में दिल्ली के डेढ़ लाख नागरिकों का संहार करवा डालने वाले क्रूरराज नादिर के हृदय में भी कवित्व है। उस दिन से हीरे का नामकरण हो गया कोहनूर।

* * *

* वल्लाह, यह तो नूर—प्रकाश का कोह—पर्वत है।

फिर यह लगभग तीन चौथाई शताब्दी तक ईरान और अफगानिस्तान के राजघरानों में चक्कर लगाता रहा और प्रत्येक ने उसका मूल्य बल से चुकाया। किन्तु स्वदेश की मिट्टी से दूर पड़ा मानो वह बिलख रहा था। एक बार फिर उसे स्वदेश आगमन का सौभाग्य मिला। उत्तर-पश्चिम भारत के शक्तिशाली सम्राट् महाराज रणजीतसिंह ने उसका योग्य मूल्य चुकाकर उसे अपनी दाहिनी भुजा पर स्थान दिया। इसकी भी एक कहानी है—

उन दिनों यह हीरा काबुल के राजघराने में था। उस युग में राजघरानों का जीवन पेड़ के पत्तों से अधिक नहीं था, जहाँ एक वंश को पुराने पत्तों को तरह झड़ते और दूसरों को नई कोंपलों की तरह फूटते विलम्ब नहीं लगता था। काबुल मे शाहशुजा को उसके मंत्री शाहमहमूद ने अपदस्थ किया और उसे अपने भाई शाहजमान और बेगमों सहित काबुल से भागना पड़ा। वे लाहौर पहुँचना चाहते थे, रणजीतसिंह के संरक्षण में। किन्तु मार्ग में ही अभागा शाहशुजा अटक के सूबेदार जहानदाद खान द्वारा बन्दी बना लिया गया † कुछ दिन बाद उसने उसे कश्मीर के सूबेदार अतामुहम्मद खान के पास भेज दिया। अन्धा शाहजमान, जिसकी आँखें शाहमहमूद ने पहले ही निकलवा ली थीं, किसी प्रकार अपने और अपने भाई शाहशुजा के परिवार को लेकर लाहौर पहुँचा।

* * *

रणजीतसिंह ने इस राजघराने का स्वागत किया। मुबारक हवेली इस परिवार के निवास के लिए दे दी गई और दैनिक व्यय का पूरा प्रबन्ध कर दिया गया। रणजीतसिंह ने अपने एक विश्वस्त मंत्री फकीर अजीजुद्दीन को इन अतिथियों की सुख-सुविधा के लिए नियुक्त कर दिया।

एक दिन शाहशुजा की बेगम वफा बेगम के निकटस्थ कर्मचारी अब्दुलहुसैन ने फकीर अजीजुद्दीन से कहा, "फकीर साहब, महाराजा साहब ने शाहंशाह शाहशुजा की बेगमों और उनके भाई को पनाह देकर हम पर भारी मेहरबानी की है। इस अहसान का बदला जिन्दगी देकर भी नहीं चुकाया जा सकता। रहने के लिए शानदार हवेली, रोज खर्च के लिए हजारों रुपए नियत करके महाराजा साहब ने जो दयानतदारी दिखाई है, उसके लिए बेगमें बहुत शुक्रगुजार हैं। मगर···"

"मगर क्या ?" फकीर अजीजुद्दीन व्यग्र हो उठे—"आप लोगों को क्या किसी तरह की तकलीफ है ?"

"नहीं, फकीर साहब," हुसैन बोला, "महाराजा साहब का इकबाल बुलन्द रहे। हमें क्या तकलीफ हो सकती है ! मगर इस सारे ऐशोइशरत के बीच भी बेगमों को सकून कैसे मिल सकता है जब कि शाहंशाह हुजूर खुद कश्मीर के सूबेदार की कैद में हैं।" कुछ क्षण रुककर वह फिर बोला, "फकीर साहब, महाराजा साहब आज हिन्दुस्तान की बड़ी ताकतों में से एक हैं। बेगम साहबा का कहना है, जब उन्होंने हमें अपनी पनाह में ले ही लिया है तो हम शाहंशाह की आजादी के लिए और किसकी ओर देखें ?"

फकीर अजीजुद्दीन गहरे सोच में पड़ गये। शाहशुजा के परिवार को आश्रय देने से वैसे ही लाहौर और काबुल के सम्बन्धों में तनाव आ रहा था। कश्मीर से शाहशुजा की मुक्ति सशस्त्र आक्रमण के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार सम्भव नहीं थी।

फकीर अजीजुद्दीन को सोच में पड़ा देख हुसैन बोला, "फकीर साहब, बेगमें जानती हैं कि शहंशाह हुजूर को आजाद कराना आसान नहीं है; और इतने बड़े अहसान का बदला चुकाने की भी ताकत उनमें नहीं है, फिर भी यदि शाहंशाह हुजूर को आजाद करा दिया जाये तो बेगम साहबा दुनिया का मशहूर हीरा कोहनूर महाराजा साहब को बतौर नजराना भेंट करने को तैयार है।"

फकीर अजीजुद्दीन ने उसकी बात को महाराजा साहब के सम्मुख रखने का वचन दे दिया।

महाराजा रणजीतसिंह कई दिन तक वफा बेगम के प्रस्ताव पर अपने निकट सहयोगियों से विचार-विमर्श करते रहे। कोहनूर के विषय में वह बहुत-कुछ सुन चुके थे और कश्मीर को जीतने की उनकी चिरअभिलाषा थी। उनके सहयोगियों में इस विषय मे बड़ा मतभेद था, किन्तु रणजीतसिंह मन-ही-मन कोहनूर को हस्तगत करने का निश्चय कर चुके थे।

इन्हीं दिनों एक सुयोग बन गया। कश्मीर का सूबेदार जो अफगानिस्तान के अधीनस्थ था, विद्रोही हो उठा। अफगानिस्तान के प्रधान मन्त्री फतहखान ने अपने दूत दीवान गोदड़मल को रणजीतसिंह की सेवा में भेजा और कश्मीर पर अफगानी आक्रमण में उनकी सहायता चाही। वह तो किसी ऐसे अवसर की खोज में थे ही। शाहशुजा को मुक्त कराने, कोहनूर प्राप्त करने और अपनी सेनाओं को कश्मीर की घाटी से परिचित कराने का इससे अच्छा अवसर क्या हो सकता था! उन्होंने अफगानिस्तान को इस शर्त पर सहायता देना स्वीकार कर लिया कि सिख सेना का यह युद्ध-व्यय अफगानों को देना होगा।

* * *

बारह सहस्र सिख सेना दीवान मोहकमचन्द, सरदार निहालसिंह अटारीवाला और जोधासिंह कलसिया के नेतृत्व में लाहौर से चल पड़ी।

सिखों और अफगानों की संयुक्त सेना ने कश्मीर पर आक्रमण किया। दोनों ही सेनाएँ अपनी वीरता का सिक्का एक दूसरे पर बैठाना चाहती थीं। उधर कश्मीर के शासक अतामुहम्मद ने शक्ति-भर प्रतिरोध किया, किन्तु वह इस सम्मिलित सेना के सम्मुख टिक न सका और शेरगढ़ी के दुर्ग में वह सिख सेना द्वारा घेर लिया गया। शीघ्र ही उसने आत्म-समर्पण कर दिया। अभागा शाहशुजा भी इसी दुर्ग में कैद था। सिख सेना ने उसकी खोज आरम्भ की और उसे एक कालकोठरी में जंजीरों से जकड़ा हुआ पाया। जंजीरों के कारण उसके हाथ-पैर रक्तरंजित थे, चीथड़े बने हुए वस्त्र उसके तन पर थे और शाहंशाही के सरूर में डूबी रहने वाली आँखें मृत्यु की प्रति क्षण

प्रतीक्षा करती हुई शून्य हो चुकी थीं। सिख सेना के शिविर में लाकर उसे जंजीरों से मुक्त किया गया, नवीन वस्त्र पहनाये गये।

शाहशुजा का सिख सेना द्वारा हस्तगत किया जाना सुनकर फतहखान बड़ा क्रुद्ध हुआ। वह उसे उसी प्रकार जंजीरों में बद्ध काबुल भेजना चाहता था। सिख सेनापतियों से शाहशुजा को अपने अधिकार में लेने की उसने माँग की, किन्तु उन्होंने कोरा उत्तर दिया और शाहशुजा को लेकर लाहौर वापस आ गये।

शाहशुजा अपने परिवार से मिल चुका था। फकीर अजीजुद्दीन ने अवसर देखकर वफा बेगम से कोहनूर की बात चलाई। किन्तु वफा बेगम उन दिनों बेवफा होकर सपरिवार अँग्रेजी राज्य में भाग जाने की तैयारी कर रही थी। स्वार्थ सिद्ध हो चुका था। कोहनूर-जैसी अमूल्य सम्पत्ति को शाहशुजा अपने पास रखने का लोभ संवरण न कर सका।

* * *

एक दिन फकीर अजीजुद्दीन ने रणजीतसिंह के सम्मुख एक हीरा रखकर कहा, "हुजूर, शाहशुजा ने अपने वादे के मुताबिक यह कोहनूर भेंट किया है।"

महाराजा ने उसे उठाकर देखा और परखा। दोनों आँखों की चमक एक में ही समेटे हुए एक आँख की ज्योति कुछ तीव्र हुई, मद्धिम-सी लालिमा बढ़ने लगी, मस्तक के बल कुछ सिकुड़ने लगे और होंठों के हिलने से घनी मूँछें कुछ गतिशील हो उठीं। उनकी यह मुद्रा देखकर फकीर साहब सहम-से गये। इतने में खिलखिलाहट का कर्णभेदी स्वर सुनाई दिया। अजीजुद्दीन ने देखा, महाराजा साहब उन्मुक्त भाव से हँस रहे हैं।

"शाहशुजा समझता है वह बहुत चालाक है। उससे कहो कि जिसे वह कोहनूर बताकर हमें झुठला रहा है, ऐसे-ऐसे साधारण पुखराज तो हम अपने तबेले वालों को उनकी सेवाओं के लिए दिया करते हैं।"

फकीर अजीजुद्दीन थर-थर काँपने लगे। बोले, "अहसानफरामोश शाहशुजा हमारे साथ धोखा कर रहा है, हुजूर। उसे इसकी सख्त सजा मिलनी चाहिए।"

रणजीतसिंह और खिलखिलाकर हँस पड़े। बोले, "आप चिन्ता न कीजिए, फकीर साहब। शाहशुजा यदि यह समझता है कि कश्मीर के आक्रमण में लाखों रुपया व्यय कर और इतनी प्राण-हानि उठाकर भी हमने कोहनूर की पूरी कीमत नहीं चुकाई है, तो शेष चुकाने की शक्ति भी हमारे पास है। आजकल तो वह सतलज-पार भागने की तैयारियाँ कर रहा है न?"

महाराजा का अन्तिम वाक्य सुनकर फकीर अजीजुद्दीन चौंक पड़े और अनभिज्ञ भाव से उनकी ओर देखने लगे। महाराजा कह रहे थे—"फकीर साहब, ईश्वर ने रणजीतसिंह को दी तो एक ही आँख है, किन्तु उससे वह देखता सब-कुछ है।"

* * *

मनसूबे शिथिल हो गये थे। इस बीच फकीर अजीजुद्दीन ने उससे कई बार मिलकर महाराज को कोहनूर भेंट करने का परामर्श दिया, किन्तु वह टाल-मटोल करता रहा।

उस दिन संध्या को शाहशुजा अपनी हवेली की बैठक में बैठा हुक्का गुड़गुड़ा रहा था। अतीत की अनेक स्मृतियाँ उसके हुक्के के धूएँ के गुबार में चित्र बनकर उभर आती थीं और धूमिल होती जाती थीं। वह शाहंशाह था। अफगानिस्तान के साम्राज्य का एकछत्र शासक। कश्मीर, पेशावर और अटक के प्रान्त उसके साम्राज्य के अंग थे। फिर परिवर्तन की आँधी में सब-कुछ नष्ट हो गया। उसके विश्वासपात्रों ने उसके साथ छल किया। राजपरिवार संकटों में घिर गया। देखते-देखते उसके भाई की आँखें निकलवा ली गईं। विद्रोही तो उसके भी प्राणों के ग्राहक थे, किन्तु वह सपरिवार किसी प्रकार निकल भागा। पर दुर्भाग्य तो मानो छाया बन चुका था। अटक के पास वह अपने परिवार से बिलग होकर वहाँ के सूबेदार के हाथों पड़ गया। कल तक जो उसके हुक्म का गुलाम था आज वह उसी का बन्दी था। फिर वह कश्मीर भेज दिया गया, जंजीरों में जकड़कर। अब मृत्यु निश्चित थी। वह उसका आह्वान किया करता था। किन्तु जैसे वह उसे अपने खेल दिखा रही हो। शेरगढ़ की कालकोठरी में जकड़ा जब वह मृत्यु को आवाजें दे रहा था, सिख सेना अप्रत्याशित मुक्तिदूत की भाँति वहाँ पहुँची और उसे बन्धनमुक्त करा लाई। आज वह रणजीतसिंह का अतिथि है।

किन्तु क्या उसका जीवन रणजीतसिंह के टुकड़ों पर ही व्यतीत होगा? वह सोच रहा था। क्या मातृभूमि अफगानिस्तान से वह सदा के लिए विदा ले चुका है? निराशा मृत्यु का आह्वान करती है और आशा जीवन का। बन्दी जीवन में प्रति क्षण मृत्यु का आह्वान करने वाला शाहशुजा आज मुक्त होकर पुनः अफगानिस्तान पर अधिकर करने की तरकीबें सोच रहा था।

इतने में अनेक घोड़ों की टापों के स्वर उसकी तन्मयता भंग करने लगे। घबराया हुआ एक सेवक आकर बोला, "हुजूर, महाराजा साहब!"

"ऐं, क्या रणजीतसिंह स्वयं?" उसने सोचा और झटपट बाहर निकला। देखा रणजीतसिंह अपने अनेक सहयोगी सरदारों सहित उपस्थित हैं। साथ में फकीर अजीजुद्दीन भी।

"कहिए, शाह साहब, मिजाज तो अच्छे हैं न?" रणजीतसिंह ने मुसकराते हुए पूछा।

"हुजूर ने खुद इतनी तकलीफ कैसे की?" शाहशुजा थर-थर काँप रहा था। "हुक्म देते मैं खुद हाजिर हो जाता···" शाहशुजा से कुछ कहा नहीं जा रहा था।

सब लोग बैठक में आ बैठे। रणजीतसिंह ने बात चलाई: "आपने फकीर साहब के जरिये जो पुखराज भेजा था, वह काफी कीमती था। सोचा आपका शुक्रिया अदा कर आयें। देखिये ये पुखराज कैसे हैं?"

कहकर उन्होंने संकेत किया। एक सरदार ने सोने की ढंकी हुई तश्तरी सामने रख दी। वस्त्र हटाया गया। तश्तरी पर रखे बहुमूल्य पुखराज जगमगा रहे थे।

शाहशुजा झुकी गरदन और लज्जित नेत्रों से उसे देख रहा था। जिस पुखराज को उसने कोहनूर कहकर भिजवाया था उससे कहीं अधिक मूल्यवान पुखराज उसके सम्मुख पड़े उसके छल का उपहास कर रहे थे।

"इन्हें हम आपको भेंट करने के लिए लाये हैं," रणजीतसिंह बोले—"पिछले वर्ष गोलकुण्डा के एक जौहरी से हमने इन्हें खरीदा था। परन्तु आप तो कोहनूर के मालिक है। भला आपको इन पुखराजों की क्या परवा!" कहकर वह हँस पड़े। सारी हवेली गूँज उठी।

शाहशुजा नजरें झुकाये फरश की ओर देख रहा था। सलज्ज स्वर में बोला, "महाराजा साहब, मुझे और शरमिन्दा न करें। कोहनूर का मालिक मैं नहीं, हुजूर हैं।" कहकर वह अन्दर चला गया और कुछ क्षण पश्चात् जब वह लौटा तो उसके हाथ में चाँदी की तश्तरी में रखा जगमगाता कोहनूर था।

कोहनूर महाराजा रणजीतसिंह को हस्तगत हो गया।

* * *

कहते हैं, कोहनूर के चरण बड़े अभागे है। पाँच जूतियों का मोल देकर जो उसे ले जाता है मानो वह अपने पतन का बीज बो देता है। रणजीतसिंह के उत्तराधिकारियों से अँग्रेजों ने कोहनूर लिया—उसी मूल्य पर जिसका निर्धारण रणजीतसिंह ने स्वयं किया था।

एक अँग्रेज ने कोहनूर की कीमत आँकते हुए कहा था—'इससे सम्पूर्ण संसार को दो दिन तक भोजन कराया जा सकता है।'

किन्तु अँग्रेजों से भी यदि कोई कोहनूर पाने मे समर्थ होगा, तो उसी कीमत पर, जिसका निर्धारण रणजीतसिंह ने किया था।

१४

पत्थर की लकीरें

यमुनादत्त वैष्णव 'अशोक'



श्री यमुनादत्त वैष्णव 'अशोक' का जन्म सन् १९१५ में कुमाऊँ के धौलरा कौसानी गाँव में हुआ था। विज्ञान के विद्यार्थी होते हुए भी आप प्रारम्भ से ही साहित्यिक आयोजनों में भाग लेते रहे। बी० एस-सी० तक सभी परीक्षाएँ प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण कीं। प्रथम रचना सन् १९३५ में 'माया' में प्रकाशित हुई थी। पर्वतीय-प्रदेश में जन्म लेने के कारण आपकी कृतियों में पहाड़ी-जीवन की ऐसी सजीव और मार्मिक अभिव्यंजना होती है जो कि अनायास ही हृदय की कोमलतम परत को छूती चली जाती है। वैज्ञानिक कहानियाँ और लेख लिखने में भी आप सिद्धहस्त हैं। पत्र-पत्रिकाओं द्वारा आयोजित कई गल्प-प्रतियोगिताओं में आपकी रचनाएँ पुरस्कृत हो चुकी हैं।

आजकल उत्तर-प्रदेश के आबकारी विभाग में एक महत्त्वपूर्ण पद संभाले हुए हैं।

रचनाएँ

'शैलवधू', 'चक्षुदान', 'अन्न का आविष्कार', 'दोपहर को अँधेरा', 'अस्थिपिंजर', 'शैलगाथा', 'भेड़ और मनुष्य', आदि।

अक्टूबर सन् १८१३, गोरखा युद्ध के समय की घटना है। पूर्वी नेपाल में रकसौल के पास अँग्रेज सेना गोरखों से पराजित हो चुकी थी। पश्चिम में कुमाऊँ और गढ़वाल के राजाओं को परास्त करके हस्तिदल और थापा की गोरखा सेनाएँ पर्वत प्रदेश में दून की घाटी को जीतकर यमुना नदी के किनारे तक पहुँच गई थी। गढ़वाल का राजा पराक्रमशाह अपनी जान बचाकर काँगड़े के राजदरबार में जा छिपा था। अपने राजदरबारियों के षड्यंत्र से कुमाऊँ का राजा दीपचन्द अपने दोनों राजकुमारों सहित सीराकोट के अन्ध कारागार में भूख-प्यास से तड़प-तड़पकर प्राण दे चुका था। जिन राजदरबारियों ने गोरखों के आक्रमण के समय उनका साथ दिया था, वे भी गोरखों के क्रूर व्यवहार और विश्वासघात से त्रस्त होकर पहाड़ी प्रान्त को छोड़कर अन्यत्र चले गये थे।

कनखल नामक स्थान में, जहाँ भागीरथी के तट पर्वत प्रदेशीय उच्चावच्च भूमि को त्यागकर सहसा ही समतल मैदान में विलीन हो जाते हैं, एक पहर दिन बीतने पर अलमोड़े से पैदल आया हुआ एक पथिक, जिसका नाम श्यामसाह था, एक छोटे-से मकान के द्वार पर खड़ा हो गया। उस घर की देहली पर बनी विशेष प्रकार की पहाड़ी अल्पनाओं और चौखट के ऊपर लगे दशहरे के विशेष यंत्र से उसे निश्चय हो गया कि घर उसी कुमाऊँनी का है जिसके पास उसे भेजा गया है। वह कौन है, यह उसे ज्ञात न था।

द्वार पर थपकी देते ही गैरिक वस्त्रधारी जिस व्यक्ति ने उसका स्वागत किया उसे देखते ही पथिक चौंक पड़ा। वह और कोई नहीं, झिझाड़ का जोशी, चन्द राजाओं का प्रधान राजामात्य, प्रसिद्ध कूटनीतिज्ञ हर्षदेव ही था। पथिक ने देखा कि अपनी इस सत्तर वर्ष की आयु में भी वह युवकों-सा स्फूर्तिमय लगता था। न उसकी आँखों की ज्योति मन्द हुई थी, न अंगों की ऊर्जा ही। वाणी भी पूर्ववत् ओजस्विनी थी।

हर्षदेव ने पथिक को ठिठके देखकर सहसा कहा—"आओ, लाला आओ। लोकमणि ने ही तुम्हें भेजा होगा। चार-पाँच दिन से मैं तुम्हारी नहीं, तो इस पाटली में जो-कुछ तुम लाये हो, इसी निधि की, प्रतीक्षा कर रहा हूँ।"

"भगवन्, किस निधि की?" श्यामसाह ने उसका अभिवादन करके कहा—"लोकमणि तो वीरगति को प्राप्त हो गया। हस्तिदल के आदमियों ने उसे मार डाला।"

"हरे राम! हरे राम!" हर्षदेव ने सहसा व्यथित होकर कहा—"मार डाला? क्यों, क्या किया उसने?"

श्यामसाह ने आगे बढ़कर बकुची को उतारकर बरामदे में बिछी चौकी के किनारे बैठते-बैठते कहा—"उसने गोरखा सुब्बा की पालकी पर कन्धा लगाने से इनकार किया था, इसलिए उसको दण्ड दिया गया कि उसके कन्धों पर पालकी के डण्डों को कीलों से ठोंक दिया जाय। बेचारा उसी में बींधा-बींधा मर गया। भगवन्, अलमोड़े की दुर्दशा अब तो देखी नहीं जाती, वहाँ से हम भाग भी नहीं सकते। गोरखा सभी नागरिकों के प्रति क्रीत दासों का-सा व्यवहार कर रहे हैं।"

उसकी बात समाप्त होने से पूर्व ही हर्षदेव ने कहा—"बताओ तुम क्या सन्देश लाये हो? मुझे झटपट अपनी बकुची खोलकर दिखलाओ। तुम नहीं जानते कि मैं उस वस्तु की कितनी उत्सुकता से प्रतीक्षा कर रहा हूँ।"

"भगवन्!" श्यामसाह ने कहा—"मैं तो कुछ भी नहीं लाया। लोकमणि के लड़के ने अपने पिता के पूजागृह की एक भग्न मूर्ति, बड़ा-सा शालिग्राम या कुछ शिवलिंग-सा, इस घर के स्वामी को दिखलाकर, गंगार्पण करने भेजा है। बस यही इस बकुची में है।"

"उसे लाओ, मुझे झटपट दिखलाओ।" हर्षदेव ने बड़े उतावलेपन से कहा और वह बकुची को स्वयं टटोलने लगा।

भूतपूर्व महासामन्त की लोपुल-भरी उत्सुक दृष्टि से विस्मित श्यामसाह ने कहा—"महाराज, क्या सचमुच यही भग्न शिला आपको इतनी प्रिय है कि इसके समक्ष आप न स्वदेश की बात पूछते हैं, न स्वजनों को कुशल-क्षेम। ऐसा वैराग्य! तब तो हमारा कहीं ठिकाना नहीं। गोरखों की कुमाऊँ पर होने वाली बर्बरता के प्रति क्या आप ऐसे निपट उदासीन हो गए हैं? यदि मैं यह जानता तो कदापि आपसे मिलने न आता और न इस शिला को ही लाता। अलमोड़े से कनखल तक क्वार की इस धूप में पूरे एक मास की पैदल-यात्रा करके आप तक पहुँचा हूँ, मार्ग में अपने देशवासियों को स्थान-स्थान पर जो दुर्दशा गोरखों के हाथ होती देखी है उससे आपको अवगत कराके जननी जन्मभूमि के उद्धार का कोई उपाय सोचने के लिए ही अपने ध्वंशप्राय परिवार को भगवान् के भरोसे छोड़ यहाँ तक चला आया। मुझे ज्ञात न था कि आप सचमुच ऐसे वैरागी बनकर अलमोड़े और गढ़वाल के ग्रामों को इस प्रकार जलते छोड़ कर उस ओर से इतनी शीघ्रता से अपनी आँखें मूँद लेंगे।"

हर्षदेव ने फिर सहास कहा—"स्वदेश और स्वजन की बात तो राजाओं के लिए ही उचित है। मैं ठहरा संन्यासी, संसार-त्यागी। अब तो सारी वसुधा मेरा कुटुम्ब है। कुमाऊँ या नेपाल में मेरे लिए भेद ही क्या रहा?"

"भेद ही क्या रहा? यही क्या आपकी धारणा है?" पथिक ने उत्तेजित होकर कहा—"आपकी ही इस नगरी में हरि की पैड़ी के पास वह कुख्यात गोरखा चौकी है जहाँ नित्य सैकड़ों असहाय पर्वतीय बालक, युवक-युवतियाँ बिकने के लिए प्रदर्शित की जाती हैं। आपकी आँखों के सामने प्रतिदिन न जाने कितने गढ़वाली और कुमाऊँनी इस चौकी पर ईरानी, तुर्रानी और अफगान सौदागरों के हाथ बिककर मध्यदेश की ओर

ले जाये जाते हैं, लोग कहते हैं कि आप गोरखों के लिए कुमाऊँ का द्वार न खोल देते तो कुमाऊँ की आज यह दुर्दशा न होती; और उस पर भी आप यह कहते हैं कि आपको कुमाऊँ से क्या प्रयोजन !"

सुनकर हर्षदेव का चेहरा तमतमा गया किन्तु गंगाद्वार की प्रातःकालीन शीत ढाड्रू झंझा के प्रचण्ड झोंकों से जैसे गंगा के दोनों ओर खड़े नल-नील पर्वतों की वृक्षावलियाँ ही झूमती-सी लगती थीं, स्वतः पर्वत अचल थे उसी प्रकार पथिक के कटु शब्दों से हर्षदेव को यद्यपि रोमांच हो आया वह पूर्ववत् निश्चल और शान्त बैठा चुपचाप सुनता रहा।

श्यामसाह कहता गया—"आपने यह भी न पूछा, 'श्यामसाह, तुम्हारे ऊपर क्या बीत रही है ?' पहले वर्ष गोरखों ने मेरे अन्न के बखार, बनात और मखमल के थानों से भरे वे सरकारी पिटारे लूट लिए। दूसरे वर्ष मेरा सारा धन हड़प लिया। इस वर्ष ओलगिया संक्रान्ति को दो हजार मुद्राएँ भेंट में न दे सकने के कारण मेरे तीनों लड़कों को बन्दी बनाकर ले गये हैं उन्हें भी दो-चार दिन के उपरान्त गोरखा चौकी पर और दासों के साथ बेच देंगे। आपके आश्रित-पालित और स्वजन सभी आपसे ही उद्धार की आशा लगाए हैं। मैं भी अपने···" कहकर आगन्तुक फफक-फफक रोने लगा। हर्षदेव ने पथिक के विलाप से व्यथित होकर कहना आरम्भ किया—"श्यामसाह, मुझे तुम्हारे पुत्रों के लिए बड़ा दुःख है। मेरे कुटुम्ब ने भी मातृभूमि के लिए क्या-क्या दुःख नहीं सहे ? आज से पचास वर्ष पूर्व पानीपत की लड़ाई के समय मेरी प्रथम नियुक्ति नजीबाबाद के किले के अस्थायी सरदार के पद पर हुई थी, तभी से हमारे परिवार की बुरी दशा का आरम्भ हुआ। उस युद्ध के तीन वर्ष बाद मैंने अपने दोनों भाइयों और चन्दवंशीय राजाओं के महापराक्रमी महामात्य अपने पिता को विद्रोहियों के हाथ मरते देखा। अपने बड़े भाई जयकिसन को कुमखेत में अत्याचारी राजा मोहनचन्द के हाथ हत्या होते देखी। मोहनचन्द के प्रति हम दोनों भाइयों ने राजभक्ति की शपथ ली थी किन्तु उसी विश्वासघाती राजा ने अकारण ही मुझे आजन्म अन्धकारागार का दण्ड दिया। उस यातना का स्मरण होते ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं। वर्षों बाद स्वार्थवश मोहनचन्द ने मुझे छोड़ा भी तो इस शर्त पर कि मैं गढ़वाली राजा से लड़ने में उसकी सहायता करूँ। मैं अपने शरीर के साथ अपनी आत्मा को उसका बन्दी नहीं बना पाया था।"

श्यामसाह उसी प्रकार उत्तेजित होकर बीच ही में बोल उठा—"आपने अपनी मुक्ति के उपरान्त उसी मोहनचन्द को खदेड़कर कुमाऊँ की गद्दी पर गढ़वाली राजा को बैठा दिया। यह क्या देशद्रोह न था ?"

हर्षदेव ने कहा—"मैं नहीं मानता कि वह मेरी गलती थी। अफगानों या मरहठों से स्वदेश को बचाने के लिए वैसा करना आवश्यक था, किन्तु मैं नहीं समझता था कि गढ़वाली राजा ऐसा अकर्मण्य सिद्ध होगा। अयोग्य पराक्रमसाह को भी जब मैं कुमाऊँ से विदा करने को विवश हुआ तो तुम जानते हो बड़ी-बड़ी डींगे हाँकने वाले

उन निकम्मे रौतेलों से भी कुमाऊँ का शासन नहीं सँभाल सका। मैं उनका विरोध करने को भी विवश हो गया।"

"विवश हो गये?" श्यामसाह ने दाँत पीसकर कहा—"तब क्या यह सच है कि गोरखों को अपनी जन्मभूमि पर आक्रमण करने का निमन्त्रण देने वाले देशद्रोही सचमुच आप ही हैं?"

हर्षदेव ने भी भावावेश में आकर कहा—"श्यामसाह, निश्चय ही तुम मेरे अभिन्न मित्र और सहयोगी राजदरबारी रहे हो। चन्द राजाओं के भण्डारी होने से मैं तुम्हारा यथोचित सम्मान करता आया हूँ इसका यह अर्थ नहीं कि तुम मुझसे मेरे कृत्यों का उत्तर माँगो! गोरखों को मैं ही बुला लाया था या नहीं, इस पर फिर कभी अवकाश मिलने पर सोच-समझकर विचार कर लेना। मैं तो इस समय केवल तुम्हारी देशभक्ति की परीक्षा लेने के लिए तुम्हें उत्तेजित कर रहा था। तुम उस परीक्षा में खरे उतरे। मैंने अब जान लिया कि तुम भी मेरे साथ हो। अपने अब तक के कार्यकलाप का वर्णन तुमसे करने में मुझे संकोच नहीं है।"

इतना कहकर हर्षदेव उसी चौकी पर जमकर बैठ गया और बोला—"मैं आलसी गढ़वाली राजा की अकर्मण्यता से हताश होकर अवध के नवाब आसफ-उद्दौला से, कुमाऊँ को गोरखों से मुक्ति दिलाने के अभिप्राय से मिला। आसफ-उद्दौला भी जब गोरखों से घबराकर और उनसे कुमाऊँ का तराई क्षेत्र रिश्वत में पाकर, उन्हीं के गीत गाने लगा, तो गढ़वाली राजा के वकील की हैसियत से मैंने कम्पनी सरकार की अदालत में न्याय की प्रार्थना की। बनारस में अंग्रेज रेजिडेण्ट मिस्टर चेरी ने वह प्रार्थना-पत्र ध्यान से सुना। कई पेशियों के उपरान्त चेरी हमारी सहायता करने को तत्पर भी हो गया। हमारा दुर्भाग्य था कि किसी ने उस बेचारे की हत्या कर डाली। गोरखों के चंगुल से कुमाऊँ को अँग्रेजों की सहायता से मुक्त करने की मेरी चेष्टा गत बारह वर्ष से जिस मार्ग से निरन्तर बह रही थी वह चेरी की मृत्यु से जैसे अथाह जल के मध्य डूब गई। चारों ओर कुमाऊँ का कोई उद्धारक न देख मैंने फिर काठमाण्डू की यात्रा की। नेपाल के पुराने राजा रणबहादुर से मिला। उसकी सहायता के लिए गढ़वाल के मार्ग से मैंने सीधे नेपाल पर आक्रमण करने के लिए अपने पुत्र के साथ सेना भी भेजी। मेरा लडका उस लड़ाई में काम आया। वहाँ भी असफलता ही हाथ लगी, तब मैं लौटकर कांगड़ा पहुँचा। राजा संसारचन्द से गोरखों के विरुद्ध लड़ने में, कुमाऊँ और गढ़वाल की सहायता करने की प्रार्थना की। वह बेचारा वैसे ही सिक्खों से घबराया था। निराश होकर मैं फिर अंग्रेजों से मिलने दिल्ली गया और अँग्रेज रेजिडेण्ट के भाई मिस्टर फ्रेजर से मिला। वहाँ अब कुछ आशा की झलक दीख पड़ी है।"

इतना कहकर हर्षदेव श्यामसाह के और निकट खिसक आया और कुछ धीमे स्वर में बोला—"इस समय कम्पनी सरकार का एक विश्वासपात्र सैनिक, जो मरहठा सेना में नियुक्त था, जिसका नाम कप्तान हैरसे है, तिब्बत में अनधिकार प्रवेश करने के

अपराध में जोंगपेन (चीन के सम्राट् का तिब्बत प्रदेशीय शासक) द्वारा बन्दी बना दिया गया है। यदि हम प्रयत्न करके उस अँग्रेज को मुक्ति दिला सकें तो फ्रेजर भाइयों पर अच्छा प्रभाव पड़ेगा। रेजिडेण्ट के भाई ने वचन किया है कि यदि हम कप्तान हैरसे को छुड़ा दें तो वह हमारे मामले को सीधे गवर्नर जनरल के पास भेज देगा। उसी अँग्रेज बन्दी को छुड़ाने के लिए मुझे उस शिला की आवश्यकता पड़ गई जिसे तुम लाये हो। यह शालिग्राम या शिवलिंग नहीं हमारे तिब्बतीय राजदूत का अभिज्ञान-पत्र है। तुम शीघ्र स्नान करके भोजन कर लो तब मैं तुम्हें इस शिला की पूरी कहानी सुनाऊँगा।"

* * *

उस रात हर्षदेव ने श्यामसाह से कहा—"पालवंशीय कुमाऊँनी राजाओं की हिमालय के उस पार सुंगयूते नामक तिब्बती राजाओं से अति प्राचीन काल से घनिष्ठ मित्रता चली आती थी। सुंगयूते मे चीन के सम्राट् की ओर से जोंगपेन शासन करता था। पाँचवी शती में हूण आक्रमण के उपरान्त दोनों देशों के मंत्रियों ने अपने-अपने राजाओं की ओर से शारदा के किनारे गर्ब्यांग में संधिवार्ता की। एक भोटिया व्यापारी ने दुभाषिये का काम किया। उस समय न कुमाऊँ का राजमंत्री तिब्बती भाषा जानता था और न जोंगपेन कुमाऊँ में प्रचलित खरोष्ठी लिपि ही। अतः संधिवार्ता को लिखित रूप देना सम्भव न हुआ किन्तु सुंगयूते का मंत्री बड़ा चतुर था। उसने नदी के किनारे से हाथ-भर लम्बी शिवलिंग के आकार की एक शिला चुनकर उठा ली। नदी की कगारों और हिमशिलाओं के सहस्त्रों वर्षों के निरन्तर घर्षण से यह नीलवर्णा शिला नितान्त चिकनी हो गई थी।

"तिब्बती मंत्री ने उस शिला को कुमाऊँनी राजामात्य की ओर बढ़ाकर जो कुछ कहा उसका दुभाषिये ने इस प्रकार अनुवाद किया—'मेरे विद्वान् भारतवासी मित्र, इस शिला पर जल-तरंगों ने जो-कुछ लिखा है आप क्या उसे पढ़ सकते हैं?'

"कुमाऊँनी मंत्री ने उस शिला पर पड़ी टेढ़ी-मेढ़ी लाल, सफेद धारियों को देखकर कहा—'भदन्त, इस शिला पर मैं ब्राह्मण के यज्ञोपवीत के आकार की तीन बड़ी और मंगलादि संस्कारों के समय कलाई में बाँधे जाने वाले रक्षा नामक सूत्रों-सी अनेक छोटी-छोटी श्वेत और लाल धारियाँ देख रहा हूँ।'

"तिब्बती ने कहा—'मित्र, आप मेरी धृष्टता क्षमा करें। ये रेखायें तरंगों की लिखी नहीं हैं। ये तो पत्थर की स्वाभाविक नसें हैं—उसके अन्तर तक धँसी हुई।'

"कुमाऊँनी मंत्री ने कहा—'तब तो एक तरंग ने इस प्रस्तर पर कभी जो कुछ अंकित किया होगा वह दूसरी ने मिटा दिया होगा। अन्त में यह शिला इसीलिए इतनी साफ और चिकनी हो गई है। यह बीतराग साधु-सी है जिसने अनेक विद्याएँ सीखकर फिर सब संस्कारों का त्याग कर दिया हो।'

"तिब्बती मंत्री ने कहा—'मित्र, हमारा संधि-पत्र भी ऐसा ही बीतराग और अटल होगा। उसमें भविष्य में न कोई राजा कुछ लिख सकेगा, न कोई उसमें से कुछ

मिटा ही सकेगा। पत्थर पर पड़ी ये स्वाभाविक लकीरें ही हमारा संधि-पत्र होंगी।'

"यह कहकर उसने अपनी खुकुरी (कटार) के पृष्ठ भाग से उस शिला के बीच में इतनी फुर्ती से चोट की कि शिला के दो टुकड़े हो गये। न उसमें कोई खरोंच लगी, न उससे कोई कंकड़ी ही फूटकर उड़ी। शिला का एक अर्द्धभाग स्वयं लेकर और दूसरा अर्द्धभाग कुमाऊँनी मंत्री को सौंपकर वह बोला—'भविष्य में यदि हमारे सम्राट् का कोई दूत आपके राजा के पास आयेगा तो वह प्रमाणस्वरूप इस अर्द्ध शिलाखंड को लायेगा। आप पत्थर की इन लकीरों को अपने वाले अर्द्धभाग से मिलायेंगे। यदि दोनों भागों की लकीरें ठीक-ठीक भिड़ जायें तो आपके राजा को उस राजदूत को यथोचित सम्मान देकर उसकी बात का ऐसा विश्वास कर लेना होगा कि मानो वह सम्राट् की ही बात दुहरा रहा हो। आपके राजा को भी यदि कोई संवाद चीन के सम्राट् के पास भेजना हो तो दूत के पास जब तक यह आप वाला अर्द्धभाग न होगा और जब तक उसकी रेखाएँ हमारे शिलाखंड की रेखाओं से न भिड़ेंगी, हम उसकी बात पर विश्वास न करेंगे।'

"इसके उपरान्त 'तथास्तु' कहकर दोनों ने अपने-अपने शिलाखंड सँभालकर रख लिए। तीन मास की दुर्गम यात्रा के उपरान्त कुमाऊँनी राजमंत्री ने अत्यधिक सावधानी से अपने वाले अर्द्ध शिलाखंड को अलमोड़े के राजदरबार में प्रस्तुत किया।

"कालान्तर में पालवंशीय राजाओं से यह शिला कत्यूरी राजाओं के हाथ आई और कत्यूरी राजाओं के उपरान्त चौदहवीं शती में अलमोड़े के चन्द राजाओं के पास खजाने में रही। गोरखों ने जब मल्ला महल के खजाने को लूट लिया तो इसे महत्त्वहीन समझकर छोड़ दिया। मैंने लोकमणि को इसे अपने पूजागृह में सुरक्षित रखने का सन्देश भेजा था और कुछ दिन पहले यहाँ भेज देने के लिए पत्र लिखा था। तुम इसे ले आये हो, इसके द्वारा कप्तान हैरसे को छुड़ाने का काम भी तुम्हारे ऊपर छोड़ता हूँ। तुम अपने व्यापार के सम्बन्ध में जोहार तो जाते ही हो, इस बार पुण्यागिरि होकर शारदा के किनारे-किनारे तकलाकोट तक हो आओ। जोंगपेन आजकल वहीं खेमा डाले है। इस शिला के देखते ही वह तुम्हारा कुमाऊँ के पुराने राजदूत की भाँति सम्मान करेगा और यात्रा का कारण पूछेगा। तुम अंग्रेज बन्दी की मुक्ति पर जोर देना। वह तुम्हारी बात अवश्य मान जायेगा। रह गई तुम्हारे लड़कों की मुक्ति की बात। गोरखों से उसके लिए परामर्श करना निरी मूर्खता है। गुलामों के व्यापारी का वेश बनाकर मैं उन्हें स्वय खरीद लूँगा। आजकल दास युवकों का मूल्य सौ-सवा सौ रुपए से अधिक नहीं है। चार सौ में काम बन जायेगा।"

* * *

कप्तान हैरसे ने मुक्ति पाकर दिल्ली पहुँचते ही श्यामसाह और हर्षदेव को दिल्ली आकर रेजिडेण्ट मिस्टर फ्रेजर से मिलने का निमन्त्रण दिया। यह मुलाकात रेजीडेंसी में नहीं, दिल्ली के गोरा बाजार के एक छोटे-से बंगले में हुई। इस बंगले में रेजिडेण्ट का भाई रहता था।

रेजिडेण्ट ने पहले हर्षदेव से, फिर श्यामसाह से हाथ मिलाया। उन्हें अपने समकक्ष बिठाकर गवर्नर जनरल लॉर्ड मायरा का वह पत्र पढ़कर सुनाया जो उन्होंने मरहठा सेना के उस भूतपूर्व अँग्रेज अफसर कप्तान हैरसे के त्राता की प्रशस्ति में लिखा था। हर्षदेव उसे निर्विकार भाव से सुनता रहा। फ्रेजर ने उसकी मुद्रा पर हर्ष-विषाद का कुछ भी भाव न देखकर अपने भाई से कहा—"आप इस पत्र का तात्पर्य उर्दू में दोनों पर्वतीय व्यक्तियों को सुना दें।"

हर्षदेव बीच ही में अँग्रेजी में बोल उठा—"मैं थोड़ी-बहुत अँग्रेजी समझता हूँ। इस पत्र का तो एक-एक शब्द मेरी समझ में आ गया है, अब उसे दुहराने की आवश्यकता नहीं, किन्तु मैं कम्पनी सरकार बहादुर से केवल अपनी प्रशंसा ही सुनना नहीं चाहता था, मुझे और भी बहुत-कुछ आशा थी।"

उस धृष्ट ब्राह्मण के वचनों को सुनकर फ्रेजर ने साश्चर्य कप्तान हैरसे की ओर देखा। कुछ क्षण तक कमरे में निस्तब्धता छाई रही। फिर हर्षदेव ने कहा—"मैं कनखल से कम्पनी सरकार के नाम गढ़वाल और कुमाऊँ को गोरखों से मुक्ति दिलाने के लिए समय-समय पर जो पत्र भेजता रहा हूँ उनका इसमें कोई उत्तर नहीं है। गोरखों ने जो दो लाख पहाड़ी लोग गुलाम बनाकर बेच दिये हैं, उनकी ओर से दी गई मेरी चिट्ठी का भी इसमें उल्लेख नहीं है और न कम्पनी सरकार से बनारस के रेजिडेण्ट के द्वारा गढ़वाल के राजा के वकील की हैसियत से हुए मेरे पत्र-व्यवहार का ही इसमें उत्तर दिया गया है।"

"वे विषय पृथक् हैं," फ्रेजर ने कुछ रूक्षता से कहा—"इस प्रशस्ति-पत्र से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है।"

बातचीत में अचानक अप्रत्याशित तेजी आ गई। रेजिडेंट के भाई ने यह देखकर कहा—"भद्र पुरुषो, अपने इस कुमाऊँनी मित्र का आप लोगों से मैं संभवतः ठीक प्रकार से परिचय नहीं करा पाया। आप कुमाऊँ के राजामात्य वंश के जोशी हैं। शारदा से सतलज तक समूचे पहाड़ी प्रदेश में आपसे अधिक महत्त्वपूर्ण कोई व्यक्ति आपको न मिलेगा। पिछले पचास वर्ष में कुमाऊँ और गढ़वाल की राजगद्दियों पर आपने जब जिसे योग्य समझा उसे बिठाया और जब जिस राजा ने मनमानी की उसे कान पकड़कर राजसिंहासन से उतार दिया। आपको यदि मैं कुमाऊँ का 'अर्ल आफ वारविक' कहूँ तो अत्युक्ति न होगी*। गोरखा लोगों के लिए आपका नाम चंगेज खाँ या नादिरशाह से भी अधिक भयानक है। मेरा अनुमान है कि बात-की-बात में आप साठ हजार से भी अधिक वीर कुमाऊँनी और गढ़वाली सैनिकों को हमारा साथ देने के लिए एकत्र कर सकते हैं। आपकी सहायता से हम चाहें तो नेपाल क्या, पूरे चीन पर, अपना अधिकार कर सकते हैं। पर्वतों के इस नरव्याघ्र को आप साधारण पर्वतीय न समझें।"

---

* यह वर्णन एटकिन्सन रचित 'Himalayan Districts' के आधार पर है।

कप्तान हैरसे ने कहा—"यह सब सच है। मैंने भी पहाड़ी लोगों को इस महा-सामन्त का नाम बड़े भय और आदर से लेते सुना है।"

"अब मैं समझ गया", फ्रेजर ने गम्भीर होकर कहा—"मिस्टर चेरी और भूतपूर्व नेपाली राजा ने जिस हरखदेव जोशी का वर्णन किया है, वह आप ही हैं।" फिर कुर्सी से उठकर किंचित झुककर कहा—"योर मेजस्टी, मैं आपको कुमाऊँ के भूतपूर्व महासामन्त की हैसियत से दुबारा 'सेल्यूट' करता हूँ। क्षमा करें।"

हर्षदेव जोशी ने उस सम्मान का राजपुरुषोचित मौन गम्भीरता से उठकर, फिर तनिक नत होकर प्रत्युत्तर दे दिया।

फ्रेजर कहता गया—"मैं अब तक उस हरखदेव को कोई दूसरा ही व्यक्ति समझे था। अब अपनी भ्रांति समझ में आ गई। अब हमें आपत्ति नहीं। आप पहले संक्षेप में बतलायें कि उन राज्यों की ग्रंथिल समस्या को सुलझाने के लिए हमसे आप क्या करने को कहते हैं?" ऐसा कहकर फ्रेजर सामने रखा कोरा कागज और पेंसिल लेकर कुछ लिखने बैठ गया। यह देखकर हर्षदेव ने अपनी उसी शिला को खोलकर मेज पर रख दिया और कागज की ओर लक्ष्य करके कहा—"कहाँ हमारी यह शिला और कहाँ आपके ये चिकने विलायती कागद? हम हैं अपटु उजड्ड पर्वतीय। सभ्य समाज के शिष्टाचार से अनभिज्ञ। यदि आप कागद पर लिखे किसी कानूनी समझौते का हमसे पालन करने को कहें तो शायद हम गलती कर जायें, किन्तु हम अपनी बात के पक्के हैं। हम-जैसे उजड्ड पहाड़ी लोगों का चीन के सम्राट् से सम्बन्ध इस शिला पर आधारित है, मेरा सुझाव है वैसे ही अंग्रेज कम्पनी सरकार से भी यही शिला हमारे पर्वत प्रदेशों से संबंधित संधि-पत्र हो। विधाता ने अमिट अक्षरों में जो कुछ इसमें लिखा है उसे आप भी पढ़ सकते हैं, मैं भी। ये लिखी हुई लकीरें हमारी अपनी-अपनी भाग्य रेखाओं की भाँति अमिट हैं। पर्वत प्रदेश की प्रतीक इस कठोर शिला पर इन तीन लकीरों को तीन राज्यों की भी भाग्य-रेखाएँ समझिये या उनके लिखित पारस्परिक समझौते पर अंकित हस्ताक्षर।"

"रेजिडेण्ट महोदय!" कप्तान हैरसे ने कहा—"यह वही पत्थर है जिसका मैंने आपसे जिक्र किया था और जिसको दिखला-भर देने से जोंगपेन ने मुझे अपने बन्दीगृह से मुक्त कर दिया था। इस शिला को आप कुमाऊँ-तिब्बत का रहस्यमय संधि-पत्र समझें।"

फ्रेजर ने उस शिला को उठाकर उसका निरीक्षण करते हुए कहा—"वाह, बड़ा अद्भुत है! पत्थर की इन लकीरों का अर्थ क्या है?"

हर्षदेव जोशी ने भावुकतापूर्ण स्वर में कहा—"इस शिला की इन तीन बड़ी लकीरों का जो भी अर्थ रहा हो, अब मैं चाहता हूँ कि यही तीन रेखाएँ आपके और हमारे समझौते की प्रतीक बनें। मैं जन्म से कुमाऊँनी हूँ। उस देश में मेरे पूर्वज, झिझाड़ के जोशी, शताब्दियों से प्रधान राजामात्य का पद पाते आये हैं। दूसरे मैं गढ़वाल के राजा का प्रमाणित वकील भी हूँ। अतः उन दोनों राज्यों की ओर से

संधि-वार्ता करने का मुझे अधिकार है। क्या मेरी ये दोनों बातें आपको मान्य हैं?"

फ्रेजर ने कहा—"निःसन्देह हमें मान्य हैं।"

"जैसा मैंने अभी कहा", हर्षदेव बोला—"एक लकीर गढ़वाल के राज्य की प्रतीक है, दूसरी कुमाऊँ के राज्य की और तीसरी नेपाल के राज्य की। मैं चाहता हूँ कि कम्पनी सरकार न्याय करे और तीनों को सैकड़ों-हजारों वर्षों से चली आई अपनी-अपनी सीमा के अन्दर रहने को विवश करे।"

फ्रेजर ने मुसकराकर कहा—"बस, यही आप चाहते हैं?"

हर्षदेव ने कहा—"बस यही।"

"यह तो तीन राजाओं की बात हुई", फ्रेजर ने कहा—"अपने लिए आप क्या चाहते हैं?"

"कुछ भी नहीं", हर्षदेव ने कहा—"मैं हूँ ब्राह्मण, न मुझे राज्य चाहिए, न कोई पद। मेरे लिए यह शिला यद्यपि राजनीतिक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है, किन्तु अपने स्वार्थ की दृष्टि से मैं इसे लोष्टवत् ही समझता हूँ।"

"वाह रे भारतीयता!" फ्रेजर ने मन-ही-मन कहा—"यही तेरी संस्कृति की महानता है! इस व्यक्ति को, जो बड़े-बड़े राज्यों को बनाता और बिगाड़ता आया है, अपने लिए कुछ नहीं चाहिये।"

फिर प्रकट होकर वह बोला—"कम्पनी सरकार आपके इस आपसी झंझट में पड़ना तो न चाहती थी किन्तु इस समय गोरखों से हमारा युद्ध छिड़ा है। गोरखपुर की ओर तो लड़ाई हो रही है। हमारी सेनाएँ शीघ्र मुरादाबाद और पीलीभीत की ओर से कुमाऊँ होते हुए नेपाल की ओर निश्चय ही बढ़ना चाहती हैं। पण्डित जोशी, आप मुरादाबाद की ओर से जाने वाली सेना के अधिनायक मिस्टर गार्डनर के साथ रहकर उस सेना का संचालन कर सकेंगे?"

कप्तान हैरसे ने बीच ही में कहा—"और पीलीभीत से टनकपुर की ओर जो सेना जा रही है, उसका मैं संचालन कर रहा हूँ; क्या मेरे साथ आपके यह मित्र श्यामसाह चलने की कृपा करेंगे? उस भूभाग से यह परिचित हैं।"

हर्षदेव ने कहा—"राज्यों की सीमाओं के सम्बन्ध में इस शिला की तीन अमिट लकीरों वाली बात आपको मान्य हो तो हम दोनों आपका सहर्ष साथ देंगे।"

कुछ देर कप्तान हैरसे और फ्रेजर ने आपस में लैटिन में बातें कीं। यदि हर्षदेव लैटिन समझ सकता तो जान जाता कि वे कम्पनी की सेनाओं के लिए भविष्य में कुमाऊँ में ग्रीष्मकालीन छावनियों के स्थापित करने की आज्ञा चाहने, चीन और अँग्रेजी भारत के बीच 'बफर स्टेट' कायम करने और 'स्टेट्स कुओ' जैसे विषयों पर वार्ता कर रहे थे। अन्त में दोनों ने कहा—"आपकी बातें हमें पूर्णतया मान्य हैं।"

"धन्यवाद!" हर्षदेव ने प्रसन्न होकर शिला को मेज पर से उठाते हुए सोत्साह कहा—"मैं आशा करता हूँ कि तीन मास के उपरान्त गोरखों को हराकर मैं इसी शिला को अलमोड़े के लालमण्डी किले में फिर आपकी विजयी सेना के सम्मुख प्रस्तुत

करूँगा। मुझे विश्वास है नेपाली, कुमाऊँनी और गढ़वाली राजा उस समय कम्पनी सरकार बहादुर से नई संयुक्त संधि इसी शिला को सम्मुख रखकर करेंगे। आप सब लोग हमारे साक्षी होंगे।"

* * *

बसन्त पंचमी के दिन हर्षदेव, लेफ्टिनेण्ट कर्नल गार्डनर की सेनाओं का नेतृत्व करते हुए मुरादाबाद से कुमाऊँ की ओर चल पड़ा। मार्ग में छोटे-बड़े अनेक गढ़ों से गोरखे, केवल उसका नाम सुनते ही भाग खड़े हुए। कुछ ने उसका सामना किया तो उन्हें परास्त होकर भागना पड़ा। दो मास के अन्दर, वसन्तोत्सव के दिन उसकी विजयी सेनाएँ अलमोड़े की चोटी से नौ मील दूर, ठीक सामने श्यामादेवी की ऊँची चोटी पर पहुँच गईं। दूसरी ओर कप्तान हैरसे का दल पूर्व में काली नदी (शारदा) के मार्ग से होता हुआ, श्यामसाह के नेतृत्व मे बढ़ा और शिवरात्रि को चम्पावत नामक कुमाऊँ के राजाओं की पुरानी राजधानी मे पहुँच गया। इसके उपरान्त दोनों दलों का गोरखों ने डटकर मुकाबला किया। कप्तान हैरसे के दल को पीछे हटना पड़ा। वह कप्तान स्वयं गोरखों द्वारा बन्दी बना दिया गया। श्यामसाह भी मारा गया। यों तो हर्षदेव के सैनिकों की संख्या नित्य बढ़ती रही किन्तु अलमोड़े के किले को शीघ्र लेना सम्भव न हुआ। महीने-भर अलमोड़े के निकट पहाड़ों के ढलवानों में गेहूँ के सीढ़ीदार खेतों में एक ओर गोरखों और दूसरी ओर अंग्रेजों के नेतृत्व में लड़ने वाले सैनिकों में घमासान युद्ध होते—कभी कोई जीत जाता कभी कोई। युद्ध का कब अन्त होगा और किसके पक्ष में यह कोई न जानता था। अँग्रेजों ने तब कर्नल निकौल के नेतृत्व में तीन हजार घुड़सवार सैनिकों की कुमुक भेजी। २५ अप्रेल, १८१५ को लगभग एक हजार सैनिकों को खोकर अँग्रेजी सेना ने अलमोड़े का किला ले लिया। दो दिन के उपरान्त अँग्रेज अफसर गार्डनर ने विजित गोरखा सेना के अधिनायक बमशाह, चामू भण्डारी और यशभदन थापा को संधि करने को बुलाया। हर्षदेव जोशी को इस संधिवार्ता में नहीं बुलाया गया। उस दिन उसे गार्डनर से बात करने का भी अवसर नहीं दिया गया।

अगले दिन तड़के ही अलमोड़े के लालमण्डी किले पर अँग्रेजी झण्डा फहराया गया। हर्षदेव ने जब यह सुना तो उसे अपने कानों पर विश्वास ही न हुआ। वह अपने पुराने मकान से, जो पहाड़ के ढाल पर था, तेजी से नन्दा महल की ओर बढ़ा। सचमुच वे खड़ी-तिरछी धारियाँ अँग्रेजी झण्डे की ही थीं।

वह तत्काल किले की ओर बढ़ा। उसके निवास और किले के मध्य अलमोड़े का डेढ़ मील लम्बा बाजार था, जहाँ आकाश में उस झण्डे को देखकर अचानक सूर्यग्रहण के-से अशुभ पर्व की काली छाया व्याप्त हो गई थी। लज्जा से हर्षदेव किसी की ओर बिना देखे नतमस्तक आगे बढ़ता गया। लोग उसकी ओर निहारने लगे। आपस में कानाफूसी होने लगी। उसे यही भास हुआ मानो सभी नागरिक उस झण्डे के लिए उसे ही दोष दे रहे हों। लज्जा, ग्लानि और आत्म-प्रतारणा से व्याकुल जब वह

अपने, अब तक के अँग्रेज सहयोगी, गार्डनर से मिला तो उस समय वह किले के उत्तरी फाटक के आगे देवदार के निकुंज के नीचे बैठा सुहावनी धूप का आनन्द ले रहा था। जोशी का अभिवादन करके उसने नित्य की भाँति उसे शिष्टता से बिठलाया। विजयोल्लास की प्रसन्नता उसकी मुद्रा पर अंकित थी। एक ओर सुँयाल और दूसरी ओर कोसी नदी की गहरी घाटियाँ; उनके मध्य में विशाल अश्व की पीठ-सी अलमोड़े की पहाड़ी और उसी के सर्वोच्च शिखर पर बैठा गार्डनर आनन्दविभोर हो बोला—"पण्डित जी, आज यह प्रातःकाल कैसा सुहावना लगता है?"

हर्षदेव ने तत्काल बिना सोचे-समझे कहा—"बहुत ही मनहूस! कम-से-कम आपकी वह लाल ध्वजा तो किले पर तनिक भी शोभा नहीं देती।"

"क्यों?" गार्डनर ने चौंककर कहा—"आज इस किले का नामकरण संस्कार हुआ है। ब्रिटिश भारत के गवर्नर जनरल लार्ड हेस्टिंग्ज के नाम पर इस किले का नाम मैंने 'फोर्टमायरा' रख दिया है। सचमुच ऐसा रमणीक स्थल भारत के सर्वोच्च अधिकारी के नाम के ही योग्य है।"

"यह उचित नहीं हुआ।" हर्षदेव बोला—"हम लोगों ने आपका साथ क्यों दिया यह तो आप जानते हैं। अलमोड़े की विजय के उपरान्त आपने एक घोषणा निकालने की बात कही थी कि कुमाऊँ के भूतपूर्व समस्त राज्याधिकारियों और सभी राज-कर्मचारियों को वापिस बुला लिया जायेगा। आप दिल्ली से हमारे समझौते के विषय में नए रेजिडेण्ट से पत्र-व्यवहार कर लें और उन शर्तों के ही अनुसार कार्य करें। यही हमारे लिए उचित होगा।"

"ठीक है," गार्डनर ने कहा—"लेकिन अभी बहुत-सी बातें शेष हैं। अभी गोरखों को काली नदी के पार धकेलने में युद्ध को कई मास जारी रखना पड़ेगा। देहरादून और नाहन की ओर अमरसिंह थापा और रणजोरसिंह के गोरखा दलों के नष्ट होने पर ही गढ़वाल को मुक्त किया जा सकेगा, तब कहीं समझौते की बात होगी। कुमाऊँ के राजा के उत्तराधिकारी और राजकर्मचारी अवश्य बुलाये जायेंगे, उनकी सूची आप कर्नल ब्रेडशा को दे दीजिये।"

हर्षदेव ने कहा—"तब इस झण्डे के साथ-साथ कुमाऊँ के राजा का झण्डा भी फहरा दीजिए।"

"यह तो हमारी सेनाओं की विजय का प्रतीक है।" गार्डनर ने हँसकर कहा—"कुमाऊँ का राजा यहाँ है ही नहीं। तब उसकी अनुपस्थिति में उसका झण्डा क्यों लगेगा! हाँ, आप अपना व्यक्तिगत कोई झण्डा लाये हों तो मैं उसे भी लगवा दूँगा। वास्तव में बिना आपके नेतृत्व के अलमोड़े को लेना सम्भव न था।"

हर्षदेव ने कहा—"मुझे यदि अपना राज्य स्थापित करना होता तो यह कार्य पचास वर्ष पूर्व बिना आपकी सम्मति के हो गया होता और आज मैं कुमाऊँ-गढ़वाल का एकछत्र राजा होता। खैर, उसे जाने दीजिये। आप दिल्ली से हमारी बातचीत का बागम्बर (मिसल) मँगाकर देखिये, मैंने अपने किसी स्वार्थ के लिए आपकी सेनाओं

का नेतृत्व नहीं किया था। जिस शर्त पर मैंने यह कार्य किया उसका पालन निश्चय ही होना चाहिए।"

आज हर्षदेव का कण्ठ शुष्क और निर्बल था। उसकी मुद्रा विवर्ण थी।

"होगा, अवश्य होगा!" गार्डनर ने कहा—"आप बहुत उदास लगते हैं, थके भी। आप कुछ दिन विश्राम करें, विश्वास रखें मैं आपके साथ हुए फ्रेजर के समझौते की नकल शीघ्र मँगाऊँगा।"

हर्षदेव रोते हुए हृदय से घर आया। उसका मन रखने के लिए अंग्रेजों ने तीसरी मई को कुमाऊँ के भागे हुए सब लोगों के नाम एक विज्ञप्ति निकाली जिसमें उन्हें स्वदेश लौट आने को कहा गया। उसी दिन नन्दा महल और मल्ला महल के किलों पर भी ब्रिटिश झण्डा फहरा दिया गया। हर्षदेव को वे तीनों झण्डे आकाश में उदित तीन अशुभ ग्रहों-जैसे ग्रसते रहे। जब-जब वह गार्डनर से मिला, उस समझौते की याद दिलाता रहा। गार्डनर कभी फ्रेजर के दिल्ली से अन्यत्र नियुक्त हो जाने और कभी कागजों के न मिलने का बहाना करता रहा।

* * *

जुलाई के अन्तिम सप्ताह में दिल्ली से कागज आ गया। उसे पढ़कर उसमें पत्थर की उन लकीरों की बात को देखकर गार्डनर मन-ही-मन बहुत डरा। लिखित समझौते के न होने से हर्षदेव कम्पनी सरकार को भी, अब तक के कुमाऊँनी शासकों की भाँति अपने शतरंज की मोहरे ही समझेगा, यह बात अब तो निश्चित थी। बिना उसके राज-काज चलाना भी सम्भव न था। दूसरे दिन तड़के ही हर्षदेव को बुलाया गया और गार्डनर अपने साथी निकौल, ब्रेडशा और कप्तान हैरसे के साथ जो अब गोरखों के बन्दीगृह से छूट आया था, हर्षदेव के आने की प्रतीक्षा करने लगा।

उस दिन आकाश मेघाच्छन्न था। पिछली रात खूब वर्षा हुई थी। किले के दोनों ओर सुँयाल और कोसी नदियों की गहरी घाटियों में बादल लोटते दीख रहे थे। मल्ला महल का किला उन बादलों से भी अधिक ऊँचा था और उस किले में वातायनों से नगर की ओर झाँकते हुए ये अंग्रेज अपने को आकाशीय विमान में बैठे देवताओं से महान् अनुभव कर रहे थे, किन्तु उन्हें उस ऊँचाई पर भी अपने से भी अति महान् हर्षदेव लगता था। गढ़वाल का राजा भागीरथी से पूर्व का क्षेत्र अंग्रेजों को सौंपकर केवल टेहरी के जंगली इलाके को ही पाकर सन्तुष्ट हो सकता था। गोरखे शारदा के पश्चिम का सारा भाग छोड़ने को राजी हो रहे थे किन्तु हर्षदेव अपने लिए कुछ भी न माँगकर पकड़ाई न देना चाहता था।

पर्याप्त देर के उपरान्त संदेशवाहक ने एक छोटी-सी पोटली को उनके सम्मुख प्रस्तुत करते हुए कहा—"कल रात हर्षदेवजी का स्वर्गवास हो गया। मरते समय वह यह पोटली आपको देने के लिए कह गये हैं।"

"मर गये?" गार्डनर ने आह भरते हुए कहा—"मित्रो, हमारा वह परम हितैषी मित्र जाता रहा। हमारा सैनिक बैंड तैयार हो। हम सैनिक सम्मान के साथ

उसे विदा करेंगे। झण्डे को आधा झुका दिया जाये।"

संदेशवाहक ने कहा—"वह देखिये सुँयाल की ओर। अब तो लोग उनकी राख को भी बहाकर लौट रहे हैं। अलमोड़े नगर में अर्थी को रात में ही उठाने की प्रथा है।"

वह गोष्ठी तत्काल शोकसभा में परिवर्तित हो गई। उस पोटली को अंग्रेजों ने बड़ी श्रद्धा से खोला। उसमें केवल उसी शिला के न कोई पत्र था, न कोई संदेश।

गार्डनर ने कहा—"बहुत महान् व्यक्ति था वह। उसने अपने लिए न जीते जी कुछ कभी माँगा और न मरने पर। वह सारे पहाड़ी प्रदेश का सबसे प्रभावशाली व्यक्ति होते हुए भी अपने लिए इस प्रदेश को इस पत्थर की शिला के समान व्यर्थ समझता था।"

कप्तान हैरसे ने उन रेखाओं का इतिहास दुहराते हुए कहा—"ये तीन रेखाएँ जोशी की निर्धारित तीन पहाड़ी राज्यों की सीमाएँ थी। इस शिला को आप उसका बनाया पहाड़ी प्रदेश का मानचित्र समझिए। ये सीमाएँ चीन-सम्राट् को भी मान्य थीं।"

कप्तान निकौल विनोदी स्वभाव का व्यक्ति था। उसने कहा—"हमारे मित्र जोशी के लिए यह शिला लोष्टवत् थी तो हमारे लिए भी लोष्टवत् है।"

"लाइये!" हैरसे ने कहा—"मैं इसे तिब्बत की स्मृति-स्वरूप सुरक्षित रखूँगा।"

निकौल ने उसे झपटते हुए बाइबिल के उस वाक्य को दुहराते हुए कहा—"तुम धूल हो, धूल में ही समा जाओगे।" फिर दुर्ग के उस ऊँचे वातायन से उस शिला को बाहर फेंककर वह बोला—"मैं अपने ईसाई मित्र कप्तान हैरसे को जड हिन्दुत्व से विजित एक मूर्तिपूजक के रूप में नहीं देखना चाहता।"

१५

मंगलमुखी

यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र'



राजस्थान के साहित्यकारों में श्री यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र' का विशिष्ट स्थान है। आपका जन्म सन् १९३२ में बीकानेर में हुआ था। आर्थिक कठिनाइयों के कारण विश्वविद्यालय की शिक्षा तो प्राप्त नहीं कर सके, परन्तु अध्यवसाय के बल पर आपने हिन्दी, अंग्रेजी, बंगला और गुजराती का अच्छा अध्ययन किया है। सन् १९५०-५१ में 'सेनानी' साप्ताहिक में प्रबन्ध सम्पादक के रूप में आपने कुशलतापूर्वक कार्य किया। सन् १९५२ में कलकत्ता चले गये और नाटक-कम्पनी में गीतकार के रूप में कार्य करने लगे। वहाँ लगभग तीन वर्ष रहे और रंगमंच के लिये कई नाटक लिखे जो बड़ी सफलता से खेले गये। फिर 'रामपुरिया प्रकाशन' का कार्य संभाला। आजकल लेखन ही प्रमुख कर्म-यज्ञ है। आपकी कई पुस्तकों का अनुवाद गुजराती, मराठी, उर्दू, सिन्धी और तेलगु में हो चुका है। आपका उपन्यास 'खम्मा अन्नदाता' राजस्थान-साहित्य-अकादमी से पुरस्कृत हो चुका है।

रचनाएँ

'धरती की पीर', 'संन्यासी और सुन्दरी', 'प्यास के पंख', 'नया इंसान', 'पथहीन', 'मिट्टी का कलंक', 'खम्मा अन्नदाता', 'युगदेवता', 'नेत्रदान','सपना', 'गुनाहों की देवी', 'घूँघट के आँसू', 'नयना नीर भरे', 'पथ की वंशी', 'अनावृत', 'दीया जला : दीया बुझा', 'इत्वर', 'जग की रीत', 'शहनाई और सिंदूर', इत्यादि।

"तुम्हारी हठ कभी मेरी समस्त आशाओं पर पानी फेर देगी।"

"काका सा! आप व्यर्थ ही व्यग्र और चिन्तित हो उठते हैं। मेरी हठ की आधारशिला विवेक है। इसलिए मैंने जो किया है, वह उचित है।"

"उचित!"—काका सा, हम्मीर के चाचा अजयसिंह को जैसे एक झटका लगा। वह चौंके, बोले—"उचित और अनुचित को यदि तुम अच्छी तरह विचार सकते तो यह विषमता मेरे समक्ष बार-बार उपस्थित नहीं होती। हर सरदार, सामन्त और उमराव एक ही स्वर मे यह नही कहते कि यह हम्मीर की हठ है काका सा, आप इन्हें समझाइये।"

अजयसिंह ने अपने स्वर में अपनापन और मिठास लाते हुए पुनः कहा—"यह सोनपुर-नरेश की चाल है। वह तुम्हें चित्तौड़ बुलाकर हत्या करना चाहता है··· इसलिए यह विवाह का नारियल वापस कर दो।"

दरबार में बैठे सरदार-सामन्तों पर एक गम्भीर दृष्टि फेंककर हम्मीर शेर की तरह गरजा—"वीरो! नारियल का लौटाना क्या हमारी कायरता का सूचक नहीं? माना कि राजा मालदेव चित्तौड़ पर, हमारी जन्मभूमि और आन-शान पर मुगलों की कठपुतली बना शासन कर रहा है। उसमें शक्ति है, उसके पास शस्त्र हैं तो हमारे पास भी उन राजपूतों का उत्साह और साहस है जो मुगलों के शासन-सूर्य के अस्त का स्वप्न देख रहे हैं!"

उपस्थितगण मौन रहे। हम्मीर ने एक बार उन पर अपनी जलती हुई दृष्टि डाली—"मुझे विश्वास है कि वीर राजनीतिक शतरंज की हर चाल खूब सोच-समझकर चलते हैं। आपको मेरी वीरता पर भरोसा करना चाहिए। मैं जो करूँगा, अच्छा ही करूँगा।"

इसके पश्चात् हम्मीर ने चित्तौड़ से आये पुरोहित को बुलाकर निवेदन किया—"अपने राजाजी से कह देना कि हम्मीर ने आपका दामाद होना स्वीकार कर लिया है। वह शीघ्र ही शुभ मुहूर्त्त निकलवाकर चित्तौड़ विवाह करने आयेगा।"

राज-पुरोहित प्रसन्न-चित्त चित्तौड़ लौट गया।

* * *

नियत समय बारात मेवाड़ पहुँची। हम्मीर हठी था, सो तो था ही; साथ ही राजनीति का भी पक्का खिलाड़ी था। वह अच्छी तरह जानता था कि इस विवाह में षड्यन्त्र की विषाक्त दुर्गन्ध आ रही है। अतः उसने अपने चुने हुए राजपूतों की भयंकर टुकड़ी के साथ चित्तौड़ में प्रवेश किया। उनके हाथ में नंगी तलवारें थीं,

जिन्हें देखकर मालदेव का होश-हवास उड़ गया और उसका षड्यन्त्र विफल हो गया।

षड्यन्त्र की विफलता ने राजा मालदेव के सम्मुख एक विकट समस्या उपस्थित कर दी। वह क्रोध में तिलमिला उठा। उसे यदि ऐसा ध्यान होता कि उसका षड्यन्त्र इस तरह विफल हो जायेगा तो दिल्ली से शाही सेना को बुला लेता लेकिन अब···?

राजा मालदेव की नवयौवना कन्या विधवा थी और विधवा-विवाह तत्कालीन समाज मे सर्वथा धर्म-विरुद्ध समझा जाता था। राजा मालदेव एक तो ऐसे ही क्षत्रियों की दृष्टि से गिरा हुआ था कि वह मुगलों की जी-हुजूरी करता है और यह कुकृत्य करके तो वह सबको अपना शत्रु बना लेगा। यह सोचकर वह धर्म-संकट में तिलमिलाने लगा। यदि वह अपने वचन का पालन नहीं करता है तो हम्मीर से दुर्द्धर्ष-सघर्ष का सामना और यदि करता है, तो क्षत्रिय-कुल पर कलंक। ऐसी विषम परिस्थिति में राजा मालदेव ने अपना अन्तिम दाँव फेंका। वह हम्मीर के पूज्यों के समीप जाकर अभ्यर्थनामय स्वर में बोला—"विवाह के पूर्व मै एक बात का स्पष्टीकरण धर्म, समाज और क्षत्रिय जाति के लिए श्रेयस्कर समझता हूँ···ठाकुर सा! यदि आज्ञा दें तो निवेदन करूँ!"

अजयसिंह की आँखों मे क्रोध भभक उठा। यह जानते हुए भी कि राजा मालदेव अब उनका अपमान करने को तत्पर है, फिर भी वह अत्यन्त संयत स्वर मे बोले—"आज्ञा है।"

मालदेव ने एक बार उन सावधान राजपूतों को देखा जिनके कान खड़े थे और फिर गर्दन झुकाकर भयभीत और हकलाते स्वर में कहा—"मुझे अपने आप पर अत्यन्त क्षोभ और ग्लानि है। मैने जघन्य कृत्य करके अपराध भी किया है।"

इतना कहकर मालदेव ने हम्मीर और उसके साथियों पर सरसरी दृष्टि डाली सबकी आँखों मे विस्मय तैर रहा था।

"मै अपनी तरुण बेटी की मार्मिक व्यथा सहन नहीं कर सका। उसके अबोल आँसुओं की पीड़ा मेरे अन्तर में चौंसठ घड़ी हाहाकार मचाया करती थी। अतः मैंने हम्मीर-जैसे नर-केसरी से अपनी बेटी का विवाह-सम्बन्ध करना चाहा। यदि किसी को इसमें किसी राजनीतिक स्वार्थ की सिद्धि की गन्ध आती है, तो वह निर्मूल है। पर हाँ···"

श्रोताओं का विस्मय बढ़ रहा था। सबकी आँखें मालदेव पर जमी हुई थीं।

"पर अब मुझे अपने आप पर अत्यन्त क्रोध आ रहा है। स्वयं पश्चात्ताप की भयकर अग्नि मे जल रहा हूँ कि यह कहकर मैंने अन्याय किया है, पाप किया है।"

"अन्याय और पाप!"—ये दो शब्द वातावरण मे गूँज उठे।

"यह क्या कह रहे है?"—हम्मीर ने पूछा।

"यह रहस्य क्या है?"—तेज स्वर गूँजा।

"क्योंकि मेरी कन्या अद्वितीय सुन्दरी और वीरांगना होने के साथ-साथ विधवा भी है।"

"विधवा !"

एक पल के लिए हम्मीर और उसके साथियों में मृत्यु-सी मूकता छा गयी। पाषाण-सी जड़ता आ गयी। उनके चेहरों पर आश्चर्य और क्रोध की रेखाएँ खिंच गयीं।

हम्मीर का राजपुरोहित यह सुनकर सर्वप्रथम बौखलाया—"राजा मालदेव ने केवल अपराध ही नहीं, महापाप भी किया है।" अपनी शिखा को चाणक्य की भाँति खोलकर पुनः गरजा—"क्षत्रिय कुल कीर्तिवान नरेश ने ऐसा हेय-चरण उठाकर समस्त जाति को कलंकित करने का दुस्साहस किया है।"

"हमारे साथ छल कर हमारा प्रत्यक्ष अपमान किया है···हमारी मान-मर्यादा पर प्रहार किया है !"—अजयसिंह का हाथ तलवार की मूठ पर था।

"हम शीघ्र प्रतिशोध लेंगे !"—सामूहिक स्वर गूँजा।

"धर्म के विपरीत आचरण करने वाला व्यक्ति धर्मद्रोही कहलाता है। राजाजी धर्मद्रोही हैं। उन्होंने हमसे छल किया है। इस छल का प्रतिशोध शीघ्र लिया जाय !" —राजपुरोहित पराजित नेता की भाँति चिल्ला रहा था। उसका अंग-अंग फड़क रहा था। उसकी आँखों में स्फुलिंग चमक रही थी और देखते-ही-देखते सारा वातावरण भीषण उत्तेजना मे परिवर्तित हो गया। ऐसा मालूम होता था कि थोड़ी देर में ये बाराती सैनिक बनकर विवाह-मण्डप को युद्ध-क्षेत्र बना देंगे और यहाँ खून की नदियाँ बह जायेंगी।

हम्मीर अभी तक मौन था, निश्चल था, गम्भीर था। जब उसने देखा कि राजपूत बावले होकर तलवारों से खेलने के लिए व्यग्र हैं, तो वह सिंह की भाँति गरजा —"वीरो ! न यह महापाप है और न यह हमारा अपमान ही। आप शान्त होइये। मैं इसका समाधान आप सब के समक्ष प्रस्तुत करता हूँ।"

सब चुप हो गये पर पण्डित जी गरजे—"बताइये।"

"वास्तव में राजा मालदेवजी अपनी इस लाचार कन्या को माध्यम बनाकर अपने स्वार्थ की सिद्धि करना चाहते थे, लेकिन वह हमारी सजगता के समक्ष पराजित हो गये पर···"

"पर ?"—राजपुरोहित के मुँह से निकला।

"उसमें उस कन्या का क्या दोष है ?"

"तो ?"

"यह विवाह होगा, अवश्य होगा !" हम्मीर ने दृढ़ता से कहा।

"नहीं होगा !" राजपुरोहित चीखा—"यदि क्षत्रियों ने वीरता का परित्याग कर धर्म में अनुचित हस्तक्षेप किया तो उनका पतन शीघ्र सम्भव है।"

"पुरोहितजी ठीक कहते हैं।" अजयसिंह बोला।

"पुरोहितजी हठ करते हैं, काका-सा !" हम्मीर का पारा चढ़ गया। उसकी भृकुटी तन गयीं। अपनी आँखों में अदम्य ज्योति चमकाकर बोला—"पुरोहितजी ! धर्म मनुष्य को सुखी करता है। मानव-कल्याण करने वाला ही सच्चा धर्म है। धर्म-जैसी

विशद् और सहिष्णु प्रवृत्ति को संकीर्णता और अपने स्वार्थ का शस्त्र बनाना आपका कार्य है। धर्म के नाम पर सहस्रों अत्याचार हुए हैं, इसके साक्षी वेद-पुराण और इतिहास हैं···यदि एक अन्याय और कर लिया जाय तो क्या बात है !···राजा मालदेवजी ! आप पधारिये, लगन-मण्डप तैयार कराइये। यह ब्याह होगा ही !"

राजा मालदेव चला गया।

"यह ब्याह होगा ही !" राजपुरोहित ने जलती आँखों से हम्मीर पर दृष्टिपात कर कर्कश स्वर में कहा—"आप यह बता सकते हैं कि आज तक सूर्यवंशी सिंहासन पर विधवा रानी आरूढ़ हुई है ! यदि नहीं तो फिर यह मनमानी कैसी ?"

"राजनीति का खेल आप नहीं समझ सकते, पुरोहितजी ! धर्म के नाम पर पेट भरना और बात है, राजनीति के क्षेत्र में तलवार निकालकर विजय प्राप्त करना और बात है !"

"तो आप धर्म के विरुद्ध क्रांति करना चाहते हैं ?"

"हाँ, राजनैतिक दृष्टि से मेरा यह कदम बिलकुल उचित है। पुरोहितजी ! आप चले जाइये···चले जाइये !"

हम्मीर ने तलवार खींच ली।

"पुरोहितजी ! मेरी हठ आप जानते हैं। जो ठान लेता हूँ करता हूँ चाहे वह भला हो या बुरा।"

राजपुरोहित चला गया।

हम्मीर ने तलवार की धार पर अँगुली फेरकर एक बार सबसे पूछा—"है किसी को किसी प्रकार का विरोध ?"

सब मौन थे।

विवाह हो गया।

* * *

सुहाग रात।

प्रासाद के प्रकोष्ठ में राजकन्या उन्मन-मन, नत नयन हुई मखमली गद्दों पर लेटी थी। उसके अधर तड़प रहे थे, जैसे अन्तर का घोर संघर्ष उसके अधरों पर फूट पड़ने को आतुर है।

चन्द्र की ज्योत्स्ना मादक होकर छिटक रही थी। एकान्त में सोई राजकन्या उकता चुका थी अतः चाँदनी में आकर खड़ी हो गयी। चाँदनी के उज्ज्वल प्रकाश में उसका रजत-सा ज्योत्सना लिए आनन साजन्यता और शालीनता की अदम्य ज्योति से चमक रहा था। लेकिन उसकी आँखों मे व्यथा थी। वह सोच रही थी कि उसके पिता की यह राजनीति की चाल उसके जीवन की आहुति लेकर छोड़ेगी। राजा हम्मीर विधवा को रानी बनाकर अपना जीवन नारकीय नहीं बना सकता। वह मुझे घुला-घुलाकर, तड़पा-तड़पाकर मारेगा। राजनीति की इस शतरंज में नारी की आत्मा एक अमानुषिक पीड़ा में जलेगी और जलते-जलते एक दिन अपनी इहलीला समाप्त

कर देगी।

अपने पीछे किसी की पदचाप सुनकर वह चौंकी। देखा—सामने अनंग-से सुकुमार खड़े हैं। उनके रक्तिम अधरों पर गम्भीर मुसकान है।

राजकन्या ने नारी-सुलभ लज्जा में सिमटकर महाराजा के प्रति सम्मान प्रकट किया और पुनः श्रद्धा से मन्त्रमुग्धा-सी हम्मीर को देखने लगी—एकटक! उसकी आँखों में हठी हम्मीर का अप्रतिम सौन्दर्य समा रहा था।

हम्मीर ने प्यार से पूछा—"राजकुँवारी-सा! आपको इस विवाह से कोई आपत्ति नहीं है?"

"थी क्यों नहीं अन्नदाता! पर मैं परवश थी। मैंने विरोध भी किया था पर ये राजनीति के खिलाड़ी मेरी वाणी को न सुन सके।"

"आपने विरोध क्यों किया?"

"इसलिए कि यह आचरण धर्म के विरुद्ध है। विधवा अमंगलकारी होती हैं। आप क्षत्रिय-कुल शिरोमणि हैं। मुझे भय है कि आप मुझे···" उसकी आँखों में भय चमक उठा।

"नहीं, मैं मनुष्य हूँ, पर···"

"मैं जानती हूँ अन्नदाता! कि विधवा से कोई भी प्यार, स्नेह, अनुकम्पा नहीं रखता। इसीलिए तो राजाजी ने मुझे दाँव पर चढ़ा दिया! बताइये मैं क्या करती? मैं तो विवश थी। मैंने तो यह भी कहा था कि आप क्यों व्यर्थ में उस महान् वीर के जीवन को संकट में डालते हैं लेकिन मेरी कौन सुनता? अन्नदाता! मैं बिलकुल निर्दोष हूँ।"

इतना कहते-कहते राजकन्या का कण्ठ अवरुद्ध हो उठा और आँखों में अश्रु छलक पड़े।

हम्मीर चतुर था। राजकन्या को व्यथातुर देखकर उसने अपना राजनीतिक स्वार्थ सिद्ध करना चाहा। वह बड़े ही भोले स्वर में बोला—"आखिर आपके पिताजी इस विवाह से अपने कौन-से महान् उद्देश्य की सिद्धि करना चाहते थे?"

"वह आपकी हत्या करना चाहते थे। उन्हें यह आशंका हो गयी थी कि आपकी बढ़ती हुई शक्ति और आपके नेतृत्व में संगठित होते हुए राजपूत एक दिन मेरे हाथ से मेवाड़ का शासन छीन लेंगे।" राजकन्या बोली और नतमस्तक हो गयी।

"यह बात है!"—हम्मीर ने अपनी तलवार की ओर देखा—"कल ही आपके पिता के विरुद्ध युद्ध-घोषणा की जायेगी। अभी तक सूर्यवंशियों की शक्ति का इतना ह्रास नहीं हुआ है।"

राजकन्या ने देखा कि हम्मीर के चेहरे पर सौम्यता की जगह हिंसा भाव उत्पन्न हो गये हैं। आँखों में रोष चमक उठा है। बड़े अनुनय से उसका हाथ अपने कोमल करों में लेती हुई आकुल स्वर में बोली—"नहीं, आप ऐसा न करिये! अन्नदाता, इस समय यदि कोई अनर्थ हो गया तो लोग मुझ पर लांछन लगायेंगे। कहेंगे—'यह

कुलच्छनी ऐसी ही है। विधवा है न, नाश नहीं करायेगी तो क्या निर्माण करायेगी!'... नहीं, नहीं, नाथ! ऐसा मत करियेगा।" कहते-कहते राजकन्या फूट पड़ी। उसके आँसू दीपक की लौ में चमक उठे—"आप मुझे मार दीजिये पर कोई सामूहिक कदम मत उठाइये। मैं ही इस बात की जड़ हूँ।" उसने हम्मीर के पाँव मजबूती से पकड़ लिये।

हम्मीर ने राजकन्या को प्रेमपूर्वक सीने से लगाते हुए कहा—"फिर भी मुझे कुछ करना होगा। क्या आप इस कार्य में मेरी कुछ सहायता कर सकती हैं?"

पीड़ित राजकन्या के सामने खून की नदियाँ बह रही थीं। भविष्य की कल्पना में छिपे महा विस्फोट से वह परिचित थी। बोली—"आप एक काम कीजिये, हमारे यहाँ एक बहुत ही कूटनीतिज्ञ व्यक्ति बालाजी मेहता है। राजनीति में निपुण यह व्यक्ति आपकी भविष्य में बड़ी सहायता कर सकता है। कृपया आप उसे दहेज में माँग लीजिये, आपका सारा कार्य पूर्ण हो जायेगा, कदाचित् मेवाड़ का सिंहासन भी हाथ लग जाय।"

यह सुनकर हम्मीर के होंठों पर प्रसन्नता नाच उठी। इस राजनीति के नाटक ने उसकी जीत के बीज बो दिये। उसने भावातिरेक में राजकन्या को आलिंगन में आबद्ध करना चाहा। राजकन्या ने झपटकर प्रासाद के दीप बुझा दिये।

* * *

लगभग दो वर्ष पश्चात् हम्मीर के पुत्र की प्राप्ति पर बालाजी मेहता के प्रयत्न से एक षड़यन्त्र का सूत्रपात होता है।

निश्चय किया गया कि पुत्र को 'क्षेत्रपाल' के अर्चनार्थ मेवाड़ के किले में जाने की अनुमति माँगी जाय। राजा मालदेव ने अनुमति दे दी।

और ठीक समय पर सशस्त्र सज्जित सैनिकों ने मेवाड़ में प्रवेश किया। राजा मालदेव को अपने पुराने सेवक बालाजी पर पूर्ण विश्वास था, पर भयंकर षड़यन्त्र बालाजी के नेतृत्व में किया गया।

मालदेव इस बार पराजित हुआ और हम्मीर मेवाड़ का राणा बना।

उस रात विजयोन्मादित हम्मीर जब रनिवास में आया उस समय राजकन्या दीपक के क्षीण आलोक में उदास बैठी थी। हम्मीर ने जोर से कहा—"राजकन्या! आप कुलक्षिणी नहीं, कुल-मर्यादा हैं। जो कहते हैं कि विधवा अमंगलकारी होती है, वे मिथ्या भाषण करते हैं। उसका मुँह देखना भी पाप होता है, यह भी झूठ है। देखो! आपको प्राप्त करने के पश्चात् मैं मेवाड़ का राणा बना।"

मंगलमुखी ने रोते-रोते हम्मीर के चरण पकड़ लिये।

१६

चट्टान और लहर

रतनलाल बंसल

●

श्री रतनलाल बंसल का जन्म सन् १९२५ में फीरोजाबाद, आगरा में हुआ था। बाल्यकाल से ही राष्ट्रीय कार्यक्षेत्र में उतर पड़े; काँग्रेस आन्दोलनों में भाग लिया। किसी स्कूल-कालिज में शिक्षा नहीं मिली, अध्यवसाय के बल पर ही आपने अपनी ज्ञान-वृद्धि की। सांस्कृतिक और राजनीतिक इतिहास का गहरा अध्ययन किया जिसके फलस्वरूप तत्संबंधी सैकड़ों लेख और कहानियाँ विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। अनेक रचनाएँ अंग्रेजी और उर्दू में भी अनूदित हुई हैं। क्रांतिकारों शहीदों की भी कुछ जीवनियाँ लिखी हैं। रूढ़ियों का उटकर विरोध करते हैं। आपके कई लेख—'आजकल का सबसे बड़ा देश-द्रोह : गौ-पूजा' और 'राष्ट्र की उन्नति में बाधक : पुरोहितवाद'—बड़े ही लोकप्रिय हुए हैं। पाँच वर्षों के विराम के पश्चात् अब १९६० में पुनः साहित्य-क्षेत्र में पदार्पण कर रहे हैं।

रचनाएँ

'मन के बंधन', 'आज के शहीद', 'तीन क्रांतिकारी', 'मुस्लिम देशभक्त', 'रेशमी पत्रों का षड्यन्त्र', आदि।

बादशाह औरंगजेब को कविता और संगीत से चिढ़ थी। वह इन्हें मानव-हृदय को खुदा की राह से भटकाने के लिए नियुक्त शैतान का दूत समझते थे। उन्होंने सिपाही का दिल पाया था, एक बहादुर मजहबी सिपाही का। जिस चीज को जैसा देखते, वैसा ही मानते थे। इसीलिए उस समय की प्रचलित फारसी कविताओं में प्रेम और विरह के वर्णन उन्हें वासनाओं से परिपूर्ण जान पड़ते थे। परिणाम यह हुआ कि शाही दरबार से कवियों को जो आश्रय मिलता था, वह समाप्त कर दिया गया। जिन दरबारियों को इसका खब्त था वे भी उससे पृथक् कर दिये गये और जो हाकिम इस मर्ज में मुब्तिला पाये गये, वे अपने पदों से उतार दिये गये। किन्तु बादशाह यह देखकर चकित रह गये कि जिस रोग से वह अपनी समस्त प्रजा को मुक्त देखना चाहते हैं उसके कीटाणुओं ने उनके परिवार पर ही आक्रमण किया है। बादशाह की प्यारी बेटी जेबुन्निसा, जिसकी विद्वत्ता और बुद्धि की तीव्रता से स्वयं बादशाह भी प्रभावित थे, बाग में निकलती तो फूलों और तितलियों से बातें करती चलती, रात्रि को चन्द्रमा की किरणों में प्रकृति-प्रिया के लिए उसे प्रेम-सन्देश सुनाई पड़ते और ओस की बूँदों में उसे आकाश के नक्षत्रों के आँसू दिखाई देते थे। कोयल की कूक पर वह सिर धुनने लगती थी और आकाश में इन्द्र-धनुष को देखकर छत पर नाचते हुए भी उसे अनेक बार बादशाह ने देखा था। धीरे-धीरे वह कुछ गुनगुनाने लगी; और फिर उस गुनगुनाहट के शब्द क्रमबद्ध होकर कविता के रूप में प्रकट होने लगे। बादशाह ने उसके लिए उसे बहुत समझाया-बुझाया, धमकियाँ भी दीं, उसके लिए रो-रो कर दुआएँ भी माँगी, लेकिन 'वही होता है जो मंजूरे खुदा होता है'—बादशाह सोचा करते थे कि क्या सचमुच खुदा को ही यह मंजूर है कि खास मेरे घर में ही कुफ्र का यह दीपक जलता रहे और मैं इसे टुकुर-टुकुर देखता रहूँ। वह विवश होकर ही यह सब सहन करते थे।

* * *

एक दिन बादशाह का दरबार लगा हुआ था। संगीत और कविता जायज हैं या नहीं, इस पर विद्वान् सदस्यों के बीच वाद-विवाद चल रहा था। बादशाह ने ऐलान किया था कि इस पर वह दुबारा गौर करना चाहते हैं, इसलिए इस सम्बन्ध में लोग निर्भय होकर अपने विचार प्रकट करें। उनकी इस घोषणा से दरबार के सभी व्यक्तियों को आश्चर्य हो रहा था, क्योंकि वे बेचारे नहीं जानते थे कि बादशाह तमाम रियाया के लिए बादशाह भले ही हों किन्तु इसके साथ ही वह एक पिता भी हैं। उनको नहीं मालूम था कि उनके स्वभाव के विरुद्ध इस उदार घोषणा में एक पिता के

हृदय की धड़कन बोल रही है।

वाद-विवाद के बीच ही शाही द्वारपाल ने आकर निवेदन किया कि शाहे ईरान का सन्देश लेकर ईरान से एक काफिला आया है, जो अभी बादशाह की खिदमत में हाजिर होना चाहता है। इस समाचार से दरबार में जिज्ञासा की लहर फैल गयी। सभी सोचने लगे कि न-जाने शाहे ईरान ने उनके बादशाह के नाम क्या सन्देश भेजा है। सम्भव है कि कुछ बागियों ने उसके दिमाग को बौखला दिया हो और ईरान के साथ-साथ उनकी मदद से हिन्दुस्तान का भी बादशाह बन जाने के नशे में, उसने कुछ ऐसी माँगें लिख भेजी हों जिनका अनिवार्य परिणाम युद्ध हो, या हिन्दुस्तान के बादशाह की फकीराना जिन्दगी और मजहब-परस्ती की प्रशंसा सुनकर ईरान के मुसलमान शाह ने मित्रता का ही सन्देश भेजा हो।

बादशाह की ओर से ईरानी सन्देशवाहकों को दरबार में उपस्थित करने की तुरन्त ही आज्ञा मिल गयी। पहले भेंटें आईं। ईरानी मेवे और फलों के थाल, एक-से-एक मूल्यवान ईरानी पोशाक, कुछ मोती और जवाहरात और साथ ही ईरान की बढ़िया शराब से भरी हुई एक सोने की सुराही, जिस पर मीने का खूबसूरत काम किया हुआ था। बादशाह की भौंहों पर इस सुराही को देखकर बल पड़ गये, किन्तु उनके स्वभाव की राजनीतिज्ञता ने उनके क्षोभ को मुसकराहट में बदल दिया। ईरानी सन्देशवाहकों ने बादशाह की प्रशंसा में कुछ पद्य पढ़े और तत्पश्चात् शाही मुहर लगा हुआ एक खत बादशाह की खिदमत में पेश कर दिया।

शाहे ईरान ने यह पत्र हिन्दुस्तान के बादशाह के नाम व्यक्तिगत रूप से लिखा था, इसलिए स्वयं बादशाह ने ही उसे पढ़ा। जिस समय बादशाह मन-ही-मन उस पत्र को पढ़ रहे थे, समस्त दरबारी धड़कते हृदय से उनके मुख पर आने वाले भावों की छाया को ध्यानपूर्वक देख रहे थे; और जब उन्होंने देखा कि पत्र समाप्त होते-होते बादशाह के होंठों पर व्यंग्य और ग्लानि की एक मुसकराहट फैलकर रह गयी है, तो प्रत्येक उपस्थित व्यक्ति का हृदय जिज्ञासा से भर गया, किन्तु शाही ताजीम और अदब के आतंक से कोई व्यक्ति उसे प्रकट न कर सका।

ईरानी अतिथियों को दूसरे दिन पत्र का उत्तर देने का वचन देकर बादशाह ने दरबार स्थगित कर दिया और महल की तरफ़ चल दिये। उनके एक हाथ में अब भी शाहे ईरान का खत था और दूसरे हाथ में वह सादी-सी छड़ी थी जिसे वह प्रत्येक समय साथ रखते थे। अब बादशाह के चलते-उठते पहले की भाँति 'बा अदब, बा सलाम' के नारे नहीं लगते थे और न डंके की चोट ही पड़ती थी। औरंगजेब को यह सब अपने धार्मिक विश्वासों के विरुद्ध प्रतीत होता था और उन्होंने उसे बन्द कर दिया था।

महल में घुसते ही बादशाह को अपने आत्मीयों में जो सबसे पहला व्यक्ति मिला, वह उनकी बेटी जेबुन्निसा थी, जो एक खिड़की से, महल की दीवार के नीचे बहती हुई यमुना की धारा में आँखें गड़ा-गड़ाकर न-जाने क्या देख रही थी। बादशाह

ने उसे देखते ही एक बार अपने हाथ में रखे ईरान के शाही पत्र को देखा और फिर स्वर में कोमलता घोलते हुए बोले, "जेबुन !"

"जी, अब्बा !" जेबुन्निसा ने एक साथ चौंककर कहा और बादशाह को अभिवादन करके विनीत भाव से खड़ी हो गयी।

"क्या देख रही थीं, बेटी ?" बादशाह ने मुसकराकर कहा और ठहाका लगाते हुए बोले, "यह लो आज तुम्हारे मतलब की चीज लाया हूँ। यह शाहे-ईरान का खत है। कभी चलते-फिरते शाह ने एक मिसरा कह लिया लेकिन उसका दूसरा पद बनाकर उसे एक मुकम्मिल शेर की शक्ल न दे सके। तब उन्होंने ईरान के कवियों को यह कार्य पूर्ण करने का आदेश दिया। लेकिन आश्चर्य है कि किताबों-पर-किताबें लिख देने वाले ईरानी शायरों में से कोई ऐसा नहीं निकला जो इस मिसरे पर शाह की पसन्द का कोई चुभता हुआ मिसरा लगा देता। अब शाहे ईरान ने यह मिसरा मेरे पास भेजा है कि मैं अपने दरबारी शायरों से या हिन्दुस्तान के किसी भी शायर से उनकी आकांक्षा पूरी करा दूँ। समझी जेबुन्निसा ! सिर्फ इतने काम के लिए, प्रजा के परिश्रम से कमाये गये धन को इतनी बेदर्दी से बरबाद किया गया है कि इस खत के साथ हजारों मील का सफ़र करके एक पूरा काफ़िला ही चला आया है।"

जेबुन्निसा ने अदब के साथ खत हाथ में लेकर कहा, "तो अब मेरे लिए क्या हुक्म है, अब्बा ?" बादशाह ने हँसते हुए उत्तर दिया, "हुक्म क्या होगा, बेटी ! मेरी बदकिस्मती से तुम भी शायर हो। तुम तो जानती ही हो कि मुझे यह शेरो-शायरी कभी पसन्द नहीं आई, लेकिन ईरान का शाह तो मेरी भावनाएँ नहीं समझेगा। वह समझेगा कि ईरान की तरह हिन्दुस्तान में भी कोई ऐसा काबिल शख्स नहीं निकला जो इस मिसरे पर दूसरा मिसरा लगा सकता। मैं चाहता हूँ कि तुम इसकी कोशिश कर देखो। अगर कामयाब हो जाओ तो ठीक है, नहीं तो इसे कल मैं ऐसे ही वापिस कर दूँगा। मैं इसके लिए दरबार में शायरों की भीड़ इकट्ठी करके प्रजा को यह सोचने का मौका नहीं देना चाहता कि औरंगजेब भी अब शेरो-शायरी में दिलचस्पी लेने लगा है।" यह कहकर बादशाह अपने विश्राम-गृह की ओर चले गये।

* * *

दूध से धुली चाँदनी रात में जेबुन्निसा अपने शयन-गृह की छत पर टहल रही थी। वह इस समय बड़ी बेचैन मालूम होती थी। कभी मसहरी में लेटकर प्रयत्न करती कि दो-चार क्षण को नींद ही आ जाय, किन्तु मस्तिष्क में शाहे ईरान का भेजा हुआ वह मिसरा गूँज रहा था और दिल बेचैन था उसी के उपयुक्त एक दूसरे मिसरे की खोज में, जिससे वह मिसरा मुकम्मिल शेर बन जाय। यह खोज ही उसे नींद नहीं आने देती थी। जब वह लेटे-लेटे थक जाती तो उठकर टहलने लगती और टहलते-टहलते थक जाती तो लेटकर सोने का प्रयत्न करने लगती थी।

इतने में ही महल की शाही मस्जिद से अजाँ की आवाज उठी और उस रात्रि के सन्नाटे में दूर-दूर तक गूँज गई। "ओह, सवेरा ही हो गया !" कहकर जेबुन्निसा ने

एक बार दोनों हाथों से अपने दुखते सिर को दाबा और फिर वुज़ू करके नमाज में बैठ गई। लेकिन नमाज की आयतें बार-बार उसकी जबान से उतर जाती थीं और उनकी जगह आ जाता था शाहे ईरान के पत्र में लिखा हुआ यह मिसरा—

"दूरे अबलक कसे कम दीदाबूद" अर्थात्—चितकबरा[1] मोती कम ही देखा गया है। जेबुन्निसा बार-बार सम्हलती, मन को एकाग्र करती, किन्तु कुछ ही क्षणों पश्चात् फिर यही हालत हो जाती। जैसे-तैसे नमाज पूरी करके उठी। वह इस समय अपने को बहुत अस्वस्थ अनुभव कर रही थी और ज्यों-ज्यों पूर्वी क्षितिज पर उषा की मनमोहक अरुणाई उभरती आती थी, त्यों-त्यों उसके हृदय में एक उद्विग्नता बढ़ती जाती थी। वह सोच रही थी कि अभी कुछ घण्टों के पश्चात् शाही दरबार का वक्त हो जायेगा और ईरान के सन्देशवाहकों को यह मिसरा ज्यों-का त्यों वापिस कर दिया जायेगा। बेचारे शाहे ईरान इससे कितना मायूस होंगे और उनके दिल में हिन्दुस्तान की विद्वत्ता और यहाँ के कवियों के प्रति जो उच्च कल्पनाएँ हैं उनको कितनी ठेस पहुँचेगी। उसने एक बार सोचा कि वह अपने पिता से इसके लिये कुछ समय देने की प्रार्थना करे और उन्हें बताये कि कविता की एक पंक्ति भी अनेक मोटे-मोटे ग्रन्थों के निर्माण से अधिक समय की अपेक्षा रखती है। क्योंकि कविता और कवि-हृदय बन्धनमुक्त स्थिति में ही विकसित होते हैं, उनके लिये समय तक का बन्धन असहनीय है। पर शाहजादी जानती थी कि उसकी यह प्रार्थना सुनी नहीं जायेगी। उसके पिता इस पर दो-चार चुभते हुए व्यग्य कसेंगे और हँसकर टाल देंगे। उसके लिए तो यह भी आश्चर्य की बात थी कि अपने धार्मिक सिद्धान्तों के पालन में आज उसके पिता अपने देश के स्वाभिमान के नाम पर इतना कैसे झुक गये हैं।

पूर्व के क्षितिज पर सूरज कुछ और ऊपर उठा। समस्त प्रकृति जैसे अँगड़ाई ले रही थी। चिड़ियाँ फुर्र-फुर्र करके इधर-से-उधर उड़ने लगीं और यमुना में गुलाबी बादलों के प्रतिबिम्ब ने सोना घोल दिया, पर शाहजादी के मन की उदासी ज्यों-की-त्यों रही। आज ये दृश्य नित्य की भाँति उसके चित्त में स्फूर्ति न भर सके।

अन्त में शाहजादी झुँझला उठी। सोचा, शाहे ईरान भी मिसरा भेजने बैठे तो कैसा निरर्थक! न-जाने किस बेवकूफ़ ने उन्हे यह मिसरा दिया है, 'दूरे अबलक कसे कम दीदाबूद!' वाह, क्या मिसरा है! आखिर इसका अर्थ यही तो है कि चितकबरा मोती कम ही देखा गया है। यह तो ठीक है। चितकबरा मोती होता ही कहाँ है, पर इसमें कविता की भावनाएँ क्या हैं? शाहजादी के मन में आया कि इसके उत्तर में शाहे ईरान को एक खत लिखा जाय, जिसमें उनसे कहा जाय कि कोई सलीके का मिसरा भेजकर हिन्दुस्तान की काव्य-परीक्षा कीजिये, भला ऐसे अर्थहीन मिसरे पर कोई लिखे भी तो क्या? लेकिन शाहजादी जानती थी कि बादशाह ऐसे खत को भेजकर इस काव्य-विवाद को आगे नहीं बढ़ने देंगे।

---

१. सफेद-स्याह।

धूप चढ़ती आ रही थी और शाहजादी अभी अपने नैमित्तिक कार्यों से भी निवृत्त नहीं हो पाई थी। तमाम रात जगने से उसकी पलकें दुख रही थीं। वह अब उदास मन से उठी और अन्य कार्यों से निवृत्त होकर स्नानगृह में चली गई। स्नान करने से उसका मस्तिष्क कुछ हलका हुआ। इसके पश्चात् उसने बाल काढ़े और सुरमा लगाने बैठी। अभी पहली सलाई दाहिनी आँख में लगाई ही थी कि सुरमे की तासीर से आँख से दो बूँद आँसू उसके कपोलों पर ढुलक आये। शाहजादी ने सुरमा मिले उन आँसुओं को सामने रखे दर्पण में देखा तो हाथ की सलाई हाथ ही में रह गई। उसे शाहे ईरान का वह मिसरा याद आ गया—'दूरे अबलक कसे कम दीदाबूद'; अर्थात् चितकबरे मोती कम ही देखने में आये हैं। पर ये आँसू भी तो सुरमे के कण मिल जाने से चितकबरे ही हो गये हैं। शाहजादी के हृदय की भावनाएँ उभरने लगीं। उसकी कल्पना को एक आधार मिल गया। कुछ क्षण उसने सोचा, तत्पश्चात् उठी और खत लिखने का कागज निकालकर पहले उस पर शाहे ईरान का मिसरा लिखा—'दूरे अबलक कसे कम दीदाबूद!' इसके पश्चात् उसने उसके नीचे लिख दिया—'मगर अश्के बुतां सुर्मा आलूद!' और इसके नीचे फूल से सुन्दर नन्हे अक्षरों में अपना उपनाम 'मख़फ़ी' लिख दिया।

अपनी इस सूझ-बूझ पर शाहजादी स्वयं हर्ष से पागल हो गई। रात-भर सोचते-सोचते जो मिसरा न सूझ सका, वह इन दो क्षणों में सूझ गया। इस मिसरे से कैसा सुन्दर शेर बन गया है—

दूरे अबलक़ कसे कम दीदाबूद,
मगर अश्के बुतां सुर्मा आलूद।

अर्थात् प्रेमिका की सुर्मीली आँखों के आँसुओं के समान चितकबरे मोती कम ही देखे गये हैं।

शाहजादी ने बार-बार इस मिसरे को पढ़ा और फिर बादशाह को देने चली। बादशाह उस समय कुरान शरीफ़ की तलावतें कर रहे थे। वह भी शाहजादी की भाँति रात-भर नहीं सो सके थे। उनके दिल में भी शाहजादी की भाँति ही बेचैनी थी क्योंकि रात को नमाज के बाद दुआ माँगने बैठे तो न-जाने किन भावनाओं से प्रेरित होकर यह दुआ माँग बैठे कि शाहजादी जेबुन्निसा उस मिसरे से भी बेहतर मिसरा कहने में कामयाब हो जाय। नमाज से उठने के बाद बादशाह को इसका ख्याल आया कि जिस कविता को वह मजहब के खिलाफ़ समझते हैं, उसके सम्बन्ध में खुदा से दुआ माँगना भी तो सरासर दोजख का सामान करना है। उनका दिल भय और पश्चात्ताप से भर उठा था और उसके बाद उन्होंने तमाम रात नमाज में ही बिताई थी। फिर भी इससे उन्हें कुछ विशेष लाभ नहीं हुआ था, क्योंकि अपने हृदय की धड़कन में वह इस समय भी उन भावनाओं की ही प्रतिध्वनि देख रहे थे। इस समय शाहजादी को खुशी-खुशी अपने कमरे में घुसते हुए उन्होंने देखा तो सम्हलते-सम्हलते वह फिर उन्हीं

भावनाओं में बह गये। उन्होंने समझ लिया कि जेबुन्निसा अपने प्रयत्न में सफल हुई है। उनके मुख पर सन्तोष की आभा फैल गई और तभी हाथ में लगी हुई तस्बीह को उन्होंने माथे से लगाते हुए कहा, "या अल्लाह ! काश यह लड़की जिसे तूने मेर बेटी बनाकर भेजा है, जितनी दिलचस्पी शेरो-शायरी में लेती है उतनी दिलचस्पी तुझे समझने और याद करने में लेती तो कितना अच्छा होता !" इसके बाद उन्होंने किताब बन्द कर दी और मुसकराते हुए जेबुन्निसा से बोले, "कहो मेरी पगली बेटी ! उस फालतू दिमाग़ शाहे ईरान के बताए गए स्याह-सफ़ेद मोती की तलाश में रात को कितने घण्टे जागना पड़ा ?" जेबुन्निसा हर्ष से गद्‌गद् हो रही थी। उसके मुख से इसका कुछ उत्तर नहीं निकल सका, केवल शेर लिखा हुआ वह कागज ही उसने बादशाह के सामने रख दिया। बादशाह ने उसे पढ़ा—

दूरे अबलक़ कसे कम दीदाबूद,
मगर अश्के बुतां सुर्मा आलूद।

"वाह ! वाह !! क्या मिसरा लगाया है बेटी तुमने !" बादशाह ने प्रसन्नता-भरे स्वर में कहते-कहते जबान को दाँतों-तले दाब लिया। तत्पश्चात् बात बदलकर बोले, "मेरी बेटी ! मिसरा तुमने वाकई खूब कहा है, लेकिन खुदा के यहाँ तो तुम्हारे ये मिसरे और गजलें काम नहीं देंगी। मैं चाहता हूँ कि तुम अपना थोड़ा-सा ध्यान मजहब पर भी दो।" और फिर उसके चेहरे की तरफ देखकर बोले, "वाह ! वाह !! अरे, यह क्या ? एक आँख में सुरमा है और एक आँख में नही है ! तभी तो कहते हैं कि शायर और पागल एक-से है·····" बादशाह की बात पूरी होने से पहले ही जेबुन्निसा शरमाकर भाग गई।

* * *

ईरान के शाही दरबार में हिन्दुस्तान के बादशाह द्वारा भेजे गये 'मखफ़ी' शायर का मिसरा पढ़ा गया, तो तमाम दरबार 'वाह, वाह !' की ध्वनि से गूँज उठा। शाहे ईरान इस पर झूमकर बोले, "इस शायर को तो यहाँ हमारे दरबार में होना चाहिये। मेरा ख्याल है कि हिन्दुस्तान का बादशाह भी उसे खुशी से भेज देगा, क्योंकि इस मिसरे के साथ आने वाले खत में उसने यह साफ़ तरीके से मंजूर किया है कि शेरो-शायरी में उसे कोई दिलचस्पी नहीं है। वह अपना पूरा वक्त खुदा की याद और सल्तनत की भलाई में लगाना चाहता है, इसलिए इत्तफाक से ही वह इस काम को अंजाम दे सकता है। न उसके दरबार में कोई शायर है, और न वह उनकी सोहबत पसन्द ही करता है।"

"अजीब खुश्क तबीयत के वाक्य हुए हैं, हजरत। तब तो जहाँपनाह, आप उस शायर को जरूर ही ईरान बुलवा लीजिए। मेरा ख्याल है कि वह भी इसमें खुश रहेगा," राज्य के प्रधान मंत्री ने कहा।

बादशाह ने तुरन्त ही एक दूसरा पत्र हिन्दुस्तान के बादशाह के नाम लिखवाया,

जिसमें इस मिसरे की बहुत दाद देते हुए और 'मख़फ़ी' शायर की तारीफ़ करते हुए उसे ईरान भेज देने का आग्रह किया गया था। इस खत के साथ फिर बहुत-सी मूल्यवान भेंटें भेजी गईं और जो काफ़िला इनको लेकर चला उसके साथ एक बहुत ही तेज ऊँट भी उस शायर की सवारी के लिये भेजा गया।

काफ़िले को रवाना करने के पश्चात् ईरान के शाह बड़ी उत्सुकता से 'मख़फ़ी' के आने की प्रतीक्षा करने लगे। हर रोज़ दरबार में उसी के चर्चे होते, उसके स्वागत की योजनाएँ बनतीं और यह हिसाब लगाया जाता कि पिछली तरह यदि इस बार भी पहुँचने के दूसरे दिन ही काफ़िला वापस हो जाय तो किस तारीख को वह यहाँ आ सकेगा। शाही दरबार के शायरों ने 'मख़फ़ी' के स्वागत में बड़ी-बड़ी नज्में लिखीं। बादशाह उन्हें सुनते और दाद देते। इस तरह तमाम ईरान में धूम मच गई कि हिन्दुस्तान से 'मख़फ़ी' नाम का एक बहुत बड़ा शायर आ रहा है जिसकी कविता सुनकर मुर्दे भी कब्र में करवटें लेने लगते हैं और फूल बोलने लगते हैं।

* * *

बादशाह औरंगजेब दरबार में आकर बैठे ही थे कि ईरान से फिर काफ़िला आने का समाचार मिला। बादशाह का हृदय यह सुनकर घृणा से भर गया—"मालूम होता है कि ईरान की सल्तनत सिर्फ शराब के प्याले और शेरो-शायरी के सहारे चलती है!" कहकर उन्होंने ईरानी आगतों को दरबार में लाने की आज्ञा दे दी। उन्होंने निश्चय कर लिया कि इस बार पहली-जैसी ग़लती नहीं करेंगे और साफ लिख देंगे कि मैं इसे कुफ्र समझता हूँ, इसलिए माफ़ी चाहता हूँ।

फिर पहले की तरह ईरानी भेंटें आईं। इस बार शराब नहीं थी, क्योंकि बादशाह ने पहली बार उसे वापिस कर दिया था, लेकिन जवाहरात थे, मेवे थे, फल थे और सौगातें थीं। आखिर में बादशाह को वह खत दिया गया। दरबारी आश्चर्य में थे कि न-जाने शाहे ईरान से आजकल क्या ऐसी बातचीत चल रही है जो दम-पर-दम खतो-किताबत हो रही है।

बादशाह ने खत को पढ़ा तो उसमें 'मख़फ़ी' के रूप में जेबुन्निसा की प्रशंसा पाकर क्षण-भर के लिए उनका हृदय अभिमान से फूल गया, पर तुरन्त ही वह सम्हले और उन्हें ख्याल आया कि इस पर सन्तोष करना भी तो कुफ्र को बर्कत देना है। यह सोचते ही उनके हाथ ऊपर आसमान की तरफ़ उठ गये जैसे कि अपने इस गुनाह की अल्लाह से माफ़ी माँग रहे हों।

खत में जब 'मख़फ़ी' को ईरान भेज देने की बात आई तो वह ठहाका मार हँस पड़े। दरबारियों ने जिज्ञासा से उन्हें देखा पर कुछ जान न सके। बादशाह इस जिज्ञासा को अनुभव कर रहे थे और कभी-कभी उनका पितृत्व उनमें ऐसी भावनाएँ भी उत्पन्न कर देता था कि वह अपनी बेटी जेबुन्निसा की इस प्रतिभा को प्रकट करके दरबारियों से उसकी प्रशंसा सुनें, किन्तु तुरन्त ही वह सोचते कि यही तो वासनाएँ

हैं जो खुदा की राह से भटकाती हैं। आज मेरी जबान से यह सब जान-सुनकर कल ही इन दरबारियों में से भी अनेक शेरो-शायरी के जंजाल में फँस जायेंगे और मेरे आज तक किये गये कामों पर पानी फिर जायेगा। कुछ देर बादशाह चुपचाप इसी प्रकार सोचते रहे, इसके बाद 'अभी आया' कहकर महलों की तरफ चले गये।

"लो बेटी, यह आई है शाहे ईरान की तुम्हारे लिये सौगात!" कहकर बादशाह ने वह खत जेबुन्निसा को दे दिया तो उसे पढ़कर जेबुन्निसा की आँखों मे सन्तोष और आनन्द के आधिक्य से आँसू आ गये। "अब बताओ जाओगी ईरान?" बादशाह ने व्यंग्य से पूछा। उत्तर में एक ठण्डी साँस लेकर जेबुन्निसा ने कहा—"मैं तो क्या जाऊँगी, अब्बा। अगर यही किस्मत मे होता तो खुदा मुझे लड़की ही क्यों बनाता, लेकिन आप मेरा एक खत भेज दें।"

"खत भेज तो दूँगा, लेकिन खुदा के लिए फिर उसमें कुछ ऐसा न लिख देना कि उसके पहुँचते-पहुँचते एक तीसरा काफ़िला यहाँ दिखलाई दे। भई, मै तो परेशान हो गया।" बादशाह ने अपनी अरुचि दिखाते हुए कहा।

जेबुन्निसा बोली, "आप इत्मीनान रखिये, अब्बा, इस मर्तबा ऐसी बात लिख दूँगी, जिससे फिर कभी आपको परेशानी न उठानी पड़े। आप कुछ देर तशरीफ़ रखें तो मैं अभी लिखे देती हूँ।"

बादशाह की स्वीकृति पाकर जेबुन्निसा ने दो पंक्तियाँ एक कागज पर लिखकर दे दीं। दरबार में आकर बादशाह ने उस पर शाही मुहर लगवाई और उसे ही अपना जवाब बताकर ईरानी संदेशवाहकों को दे दिया।

मंजिलों-पर-मंजिलें पार करता हुआ जब यह काफ़िला ईरान की राजधानी में पहुँचा, तो नगर-भर में धूम मच गई। हजारों लोग हिन्दुस्तान से आये हुए शायर को देखने के लिए आनन-फानन में एकत्रित हो गये। पर उन्हें यह देखकर निराशा हुई कि शायर के लिए भेजे गये ऊँट की पीठ सूनी है और वापस आये हुए काफ़िले मे कोई हिन्दुस्तानी नहीं दिखाई देता।

कुछ देर पश्चात् शाही महल के छज्जे से ऐलान किया गया कि हिन्दुस्तान का शायर 'मख़फ़ी' अनेक कारणों से नहीं आ सका है और उसने सिर्फ़ ये दो पंक्तियाँ लिख कर भेज दी हैं—

दर सख़ुन 'मख़फ़ी' मनमूंच, बू ए गुल दर बर्गे गुल,
हर के दीदम मैल दारद दर सख़ुन बी नद मरा!

—अर्थात् मैं अपने काव्य में उसी प्रकार छिपा हूँ जैसे फूल की पत्तियों में फूल की खुशबू छिपी होती है, इसलिए मुझे देखने की आकांक्षा रखने वाले मुझे मेरे काव्य में देख लें।

यह शेर जिसने सुना, वह 'मख़फ़ी' की काव्य-प्रतिभा का कायल हो गया। ऐसे भी कुछ लोग थे जो यह समझ सके कि 'मख़फ़ी' कोई पुरुष नहीं बल्कि स्त्री है।

किन्तु इसे कोई भी नहीं जान सका कि वह स्त्री और कोई नहीं, कविता से अत्यन्त अरुचि रखने वाले बादशाह औरंगजेब की बेटी जेबुन्निसा है। कहाँ चट्टान के समान दृढ़ बादशाह औरंगजेब का कट्टर धार्मिक हृदय और कहाँ लहर-सी कोमल और चंचल शाहजादी जेबुन्निसा की काव्य-धारा !

ईरान में आज तक 'मख़फ़ी' के नाम की चर्चा है और हजारों ग़ज़लें 'मख़फ़ी' के नाम से प्रचलित हैं। यद्यपि काव्य-मर्मज्ञों का कहना है कि उनमें से सभी 'मख़फ़ी' की लिखी हुई नहीं हैं।

१७

प्रभा

राहुल सांकृत्यायन

महापंडित श्री राहुल सांकृत्यायन का जन्म सन् १८९३ में जिला आजमगढ़ के पन्दहा ग्राम में हुआ। मिडिल पास करके १९११ में आप घर छोड़कर बनारस में आ गये। वहाँ संस्कृत-साहित्य और व्याकरण का अध्ययन किया। १९१२ में बिहार के मठ में प्रवेश किया। १९१६ में आपकी रुचि आर्यसमाज की ओर झुक गई। भ्रमण और अध्ययन भी बराबर चलता रहा। १९२१ के असहयोग आन्दोलन के समय आपको छः मास की सजा हो गई। १९२३ में फिर चौरीचौरा काण्ड में दो वर्ष की सजा हुई। जेल से छूटकर आप लंका की ओर गए। लंका में बौद्ध-साहित्य का अध्ययन किया और 'त्रिपिटकाचार्य' की उपाधि प्राप्त कर विद्यालंकार विद्यालय में संस्कृत के अध्यापक हो गए। १९२९ में प्राचीन ग्रन्थों की खोज में तिब्बत की यात्रा की और २२ खच्चरों पर बहुमूल्य प्राचीन ग्रंथों को लदवाकर स्वदेश लौटे। १९३० में लंका में बौद्ध-धर्म में प्रव्रज्या ली। बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ १९३२-३३ में अनेक देशों की यात्रा की। तीन बार तिब्बत गए, फिर रूस की यात्रा की। भारत में किसान-सत्याग्रह में भाग लिया। १९४० में दो वर्ष की सजा हो गई। जेल में कई महत्वपूर्ण ग्रंथ लिखे। १९४४ में लेनिनग्राद विश्वविद्यालय में संस्कृत, हिन्दी और तिब्बती के प्रोफेसर हुए। १९४७ में भारत लौटे। दर्शनशास्त्र, विज्ञान, साहित्य, इतिहास, समाज-शास्त्र—सभी विषयों पर कई सौ महत्वपूर्ण ग्रंथों की रचना कर चुके हैं।

रचनाएँ

'वोल्गा से गंगा', 'जय यौधेय', 'मानव-समाज', 'यात्रा के पन्ने', 'विस्मृति के गर्भ में', 'सिंह सेनापति', 'बौद्ध-संस्कृति', आदि।

साकेत (अयोध्या) कभी किसी राजा की प्रधान राजधानी नहीं बना। बुद्ध के समकालीन कोसलराज प्रसेनजित् का यहाँ एक राजमहल जरूर था; किन्तु राजधानी थी श्रावस्ती (सहेटमहेट), वहाँ से छः योजन दूर। प्रसेनजित् के दामाद अजातशत्रु ने कोसल की स्वतन्त्रता का अपहरण किया उसी वक्त श्रावस्ती का भी सौभाग्य लुट गया। सरयू-तट पर बसा साकेत पहले भी नौ-व्यापार का ही नहीं, बल्कि पूरब (प्राची) से उत्तरापथ (पंजाब) के सार्थ-पथ पर बसा रहने से स्थल-व्यापार का भी भारी केन्द्र था। यह पद उसे बहुत समय तक प्राप्त रहा। विष्णुगुप्त चाणक्य के शिष्य चन्द्रगुप्त मौर्य ने मगध के राज्य को पहले तक्षशिला तक, फिर यवनराज शैलाक्ष (सैल्यूकस) को पराजित कर हिन्दूकुश पर्वतमाला (अफगानिस्तान) से बहुत पच्छिम हिरात और आमू दरिया तक फैलाया। चन्द्रगुप्त और उसके मौर्य-वंश के शासन में भी साकेत व्यापार केन्द्र से ऊपर नहीं उठ सका। मौर्य-वंश-ध्वंसक सेनापति पुष्यमित्र ने पहले-पहल साकेत को राजधानी का पद प्रदान किया; किन्तु शायद पाटलिपुत्र की प्रधानता को नष्ट करके नहीं। वाल्मीकि ने अयोध्या नाम का प्रचार किया; जब उन्होंने अपनी रामायण को पुष्यमित्र या उसके शुंगवंश के शासन-काल में लिखा। इसमें तो शक ही नहीं कि अश्वघोष ने वाल्मीकि के मधुर काव्य का रसास्वादन किया था। कोई ताज्जुब नहीं, यदि वाल्मीकि शुंगवंश के आश्रित कवि रहे हों, जैसे कालिदास चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के, और शुंगवंश की राजधानी की महिमा को बढ़ाने ही के लिए उन्होंने जातकों के दशरथ की राजधानी वाराणसी से बदलकर साकेत या अयोध्या कर दी और राम के रूप में शुंग-सम्राट् पुष्यमित्र या अग्निमित्र की प्रशंसा की—वैसे ही, जैसे कालिदास ने 'रघुवंश' के रघु और 'कुमारसम्भव' के कुमार के नाम से पिता पुत्र चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य और कुमारगुप्त की की।

सेनापति पुष्यमित्र अपने स्वामी का बध कर सारे मौर्य साम्राज्य को नहीं ले सका। पंजाब सारा यवनराजा मिनान्दर के हाथ में चला गया; और एक बार तो उसने साकेत पर भी घेरा डाल दिया था, जैसा कि पुष्यमित्र के पुरोहित ब्राह्मण पतंजलि ने लिखा है। इससे यह भी पता लगता है कि पुष्यमित्र के शासन काल के आरम्भिक दिनों में भी साकेत का खास महत्त्व था, और यह भी कि पतंजलि और पुष्यमित्र के समय अयोध्या नहीं, साकेत ही इस नगर का नाम था।

पुष्यमित्र, पतंजलि और मिनान्दर के समय से हम दो सौ साल और पीछे आते हैं। इस समय भी साकेत में बड़े-बड़े श्रेष्ठी (सेठ) बसते थे। लक्ष्मी का निवास होने से सरस्वती की भी थोड़ी-बहुत कद्र होना जरूरी था और फिर धर्म तथा ब्राह्मणों का गुड़-

चींटे की तरह आ मौजूद होना भी स्वाभाविक था। इन्हीं ब्राह्मणों में एक धन-विद्या-सम्पन्न कुल था, जिसके स्वामी का नाम काल ने भुला दिया; किन्तु स्वामिनी का नाम उसके पुत्र ने अमर कर दिया। ब्राह्मणी का नाम था सुवर्णाक्षी, उसके नेत्र सुवर्ण-जैसे पीले थे। उस वक्त पीले-नीले नेत्र ब्राह्मणों और क्षत्रियों में आम तौर पर पाये जाते थे, और पीली आँखों का होना दोष नहीं समझा जाता था। ब्राह्मणी सुवर्णाक्षी का एक पुत्र उसी की भाँति सुवर्णाक्ष, उसी की भाँति पिंगल केश और उसी की भाँति सुगौर था।

* * *

वसन्त का समय था। आम की मंजरी चारों ओर अपनी सुगन्धि को फैला रही थी। वृक्ष पुराने पत्तों को छोड़ नये पत्तों का परिधान धारण किये हुए थे। आज चैत्र शुक्ला नवमी तिथि थी। साकेत के नर-नारी सरयू के तट पर जमा हो रहे थे—तैराकी के लिए। तैराकी द्वारा ही साकेतवासी वसन्तोत्सव मनाया करते थे। तैराकी में तरुण-तरुणी दोनों भाग लेते थे और नंगे बदन एक घाट पर। तरुणियों में कितनी ही कर्पूर-श्वेत यवनियाँ (यूनानी स्त्रियाँ) थीं, जिनका सुन्दर शरीर यवन चित्रकार-निर्मित अनुपम मर्मर-मूर्त्ति-जैसा था, जिसके ऊपर उनके पिंगल या पाण्डुर केश बड़े सुन्दर मालूम होते थे। कितनी ही नील या पीतकेशधारिणी सुवर्णाक्षी ब्राह्मणकुमारियाँ थीं, जो सौन्दर्य में यवनियों से पीछे न थीं। कितनी ही घनकृष्णकेशी गोधूमवर्णा वैश्य-तरुणियाँ थीं, जिनका अचिरस्थायी मादक तारुण्य कम आकर्षक न था। आज सरयू-तट पर साकेत के कोने-कोने की कौमार्य रूपराशि एकत्रित हुई थी। तरुणियों की भाँति नाना कुलों के तरुण भी वस्त्रों को उतार नदी में कूदने के लिए तैयार थे। उनके व्यायाम-पुष्ट, परिमण्डल सुन्दर शरीर कर्पूर से गोधूम तक के वर्ण वाले थे। उनके केश, मुख, नाक पर खास-खास कुलों की छाप थी। आज के तैराकी के महोत्सव से बढ़कर अच्छा अवसर किसी तरुण-तरुणी को सौन्दर्य परखने का नहीं मिल सकता था। हर साल इस अवसर पर कितने ही स्वयंवर सम्पन्न होते थे। माँ-बाप तरुणों को इसके लिए उत्साहित करते थे। उस वक्त का यह शिष्टाचार था।

नाव पर सरयू-पार जा तैराक तरुण-तरुणियाँ जल में कूद पड़े। सरयू के नीले जल में कोई अपने सुवर्ण, पाण्डु, रजत या रक्त दीर्घ कचों को प्रदर्शित करते और कोई अपने नीले-काले केशों को नील जल में एक करते, दोनों भुजाओं से जल को फाड़ते आगे बढ़ रहे थे। उनके पास कितनी ही क्षुद्र नौकाएँ चल रही थीं, जिनके आरोही तरुण-तरुणियों को प्रोत्साहन देते तथा थक जाने पर उठा लेते थे—हजारों प्रतिस्पर्द्धियों में कुछ का हार स्वीकार करना सम्भव था। सभी तैराक शीघ्र आगे बढ़ने के लिए पूरी चेष्टा कर रहे थे। जब तट एक तिहाई दूर रह गया, तो बहुत-से तैराक शिथिल पड़ने लगे। उस वक्त पीछे से लपकते हुए केशों में एक पिंगल था और दूसरा पाण्डुश्वेत। तट के समीप आने के साथ उनकी गति और तीव्र हो रही थी। नाव पर चलने वाले साँस रोककर देखने लगे। उन्होंने देखा कि दो पिंगल और पाण्डुश्वेत केश सबसे आगे बढ़कर एक पाँती में जा रहे हैं। तट और नजदीक आ गया। लोग आशा रखते थे कि

उनमें से एक आगे निकल जायगा; किन्तु देखा, दोनों एक ही पाँती में चल रहे हैं! शायद नौकारोहियों में से किसी ने उन्हें एक दूसरे को आगे जाने के लिए जोर देते सुना भी।

दोनों साथ ही तीर पर पहुँचे। उनमें एक तरुण था और दूसरी तरुणी। लोगों ने हर्षध्वनि की। दोनों ने कपड़े पहने। खुली शिविकाओं पर उनकी सवारी निकाली गई। दर्शकों ने फूलों की वर्षा की। तरुण-तरुणी एक दूसरे को नजदीक से देख रहे थे। लोग उनके तैरने के कौशल ही को नहीं, सौन्दर्य की भी प्रशंसा कर रहे थे। किसी ने पूछा—"कुमारी को तो मैं जानता हूँ; किन्तु तरुण कौन है, सौम्य!"

"सुवर्णाक्षी-पुत्र अश्वघोष का नाम नहीं सुना!"

"नहीं, मैं अपने पुरोहित के ही कुल को जानता हूँ। हम व्यापारी इतना जानने की फुर्सत कहाँ रखते हैं।"

तीसरे ने कहा—"अरे, अश्वघोष की विद्या की ख्याति साकेत से दूर-दूर तक पहुँच गई है। यह सारे वेदों और सारी विद्याओं में पारङ्गत है।"

पहला—"लेकिन इसकी उम्र तो चौबीस से अधिक की न होगी।"

तीसरा—"हाँ, इसी उम्र में। और इसकी कविताएँ लोग झूम-झूमकर पढ़ते-गाते हैं।"

दूसरा—"अरे, यही कवि अश्वघोष है, जिसके प्रेम-गीत हमारे तरुण-तरुणियों की जीभ पर रहते हैं!"

तीसरा—"हाँ, यह वही अश्वघोष है! और कुमारी का क्या नाम है, सौम्य!"

पहला—"साकेत में हमारे यवन-कुल के प्रमुख तथा कोसल के विख्यात सार्थ-वाह दत्तमित्र की पुत्री प्रभा!"

दूसरा—"तभी तो! ऐसी सुन्दरता दूसरों में बहुत कम पाई जाती है। देखने में शरीर कितना कोमल मालूम होता है, किन्तु तैरने में कितना दृढ़!"

पहला—"इसके माँ-बाप दोनों बड़े स्वस्थ-बलिष्ठ हैं।"

नागरोद्यान में विशेष सम्मान प्रकट करते हुए लोगों को दोनों तैराकों का परिचय दिया गया, और उन दोनों ने भी लज्जावनत सिर से एक दूसरे का परिचय प्राप्त किया।

* * *

साकेत का पुष्योद्यान सेनापति पुष्यमित्र के शासन का स्मारक था। सेनापति ने इसके निर्माण में बहुत धन और श्रम लगाया था और यद्यपि अब न पुष्यमित्र के वंश का राज्य रहा, न साकेत कोई दूसरी श्रेणी की भी राजधानी तो भी नैगम (नगर-सभा) ने उसे साकेत का गौरव समझ उसी तरह सुरक्षित रखा, जैसा कि वह दो सौ वर्ष पूर्व पुष्यमित्र के शासन-काल में था। बाग के बीच में एक सुन्दर पुष्करिणी थी, जिसके नील विशुद्ध जल में पद्म, सरोज, पुण्डरीक आदि नाना वर्णों के कमल खिले तथा हंस-मिथुन तैर रहे थे। चारों ओर श्वेत-पाषाण के घाट थे, जिनके सोपान स्फटिक की

भाँति चमकते थे। सरोवर के किनारे पर हरी दूब की काफी चौड़ी मगजी लगी थी। फिर कहीं गुलाब, जूही, बेला आदि फूलों की क्यारियाँ थीं और कहीं तमाल-बकुल-अशोक-पंक्तियों की छाया। कहीं लता-गुल्मों से घिरे पाषाण तल वाले छोटे-बड़े लतागृह थे और कहीं कुमार-कुमारियों के कन्दुक-क्षेत्र। उद्यान में कई पाषाण, मृत्तिका और हरित वनस्पति से आच्छादित रम्य क्रीड़ा-पर्वत थे। कहीं-कहीं जलयन्त्र (फव्वारे) जल-शीकर छोड़ वर्षा का अभिनय कर रहे थे।

अपराह्न में अकसर एक लतागृह के पास साकेत के तरुण-तरुणियों की भीड़ देखी जाती। यह भीड़ उनकी होती, जो भीतर स्थान न पा सके होते। आज भी वहाँ भीड़ थी, किन्तु चारों ओर की नीरवता के साथ। सभी के कान लतागृह की ओर लगे हुए थे। और भीतर? शिलाच्छादित फर्श पर वह तरुण है, जिसने एक मास पूर्व तैराकी में विजय प्राप्त करने से इनकार कर दिया था। उसके शरीर पर मसृण (चिकने) सूक्ष्म दुकूल का कंचुक है। उसके दीर्घ पिंगल-केश सिर के ऊपर जूट की तरह बँधे हुए हैं। उसके हाथ में मुखर वीणा है, जिस पर तरुण की अँगुलियाँ अप्रयास थिरकती मनमाना स्वर निकाल रही हैं। तरुण अर्द्धमुद्रित नेत्रों के साथ लय में लीन कुछ गा रहा है—दूसरे के नहीं, अपने ही बनाये गीत। उसने अभी 'वसन्त-कोकिला' का गीत संस्कृत में समाप्त किया। संस्कृत के बाद प्राकृत गीत गाना जरूरी था, क्योंकि गायक कवि जानता है, उसके श्रोताओं में प्राकृत-प्रेमी अधिक हैं। कवि ने अपनी नवनिर्मित रचना 'उर्वशी-वियोग' सुनाई—उर्वशी लुप्त हो गई और पुरूरवा अप्सरा (पानी में चलने वाला) कहकर उर्वशी को सम्बोधित करते पर्वत, सरिता, सरोवर, वन, गुल्म आदि में ढूँढता फिरता है। वह अप्सरा का दर्शन नहीं कर पाता, किन्तु उसके शब्द उसे वायु में सुनाई देते हैं। पुरूरवा के आँसुओं के बारे में गाते वक्त गायक के नेत्रों से आँसू गिरने लगे, और सारी श्रोत्रि मण्डलों ने उसका साथ दिया।

संगीत-समाप्ति के बाद लोग एक-एक करके चलने लगे। अश्वघोष जब बाहर निकला, तो कुछ तरुण-तरुणी उसे घेरकर खड़े हो गये। उनमें सूजे आरक्त नयनों के साथ प्रभा भी थी। एक तरुण ने आगे बढकर कहा—"महाकवि!"

"महाकवि! मैं कवि भी नहीं हूँ, सौम्य!"

"मुझे अपनी श्रद्धा के अनुसार कहने दो, कवि! साकेत के हम यवनों की एक छोटी-सी नाट्यशाला है।"

"नृत्य के लिए? मुझे भी नृत्य का शौक है।"

"नृत्य के लिए ही नहीं, उसमें हम अभिनय भी किया करते हैं।"

"अभिनय!"

"हाँ, यवन-रीति का अभिनय एक विशेष प्रकार का होता है, कवि! जिसमें भिन्न-भिन्न काल तथा स्थान के परिचायक बड़े-बड़े चित्रपट रहते हैं और सभी घटनाओं को वास्तविक रूप में दिखलाने की कोशिश की जाती है।"

"मुझे कितना अफसोस है, सौम्य! साकेत में जन्म लेकर भी मैंने ऐसे अभिनय

को नहीं देखा।"

"हमारे अभिनयों के दर्शक यहाँ के यवन-परिवारों तथा कुछ इष्ट-मित्रों तक ही सीमित हैं, इसलिए बहुत-से साकेतवासी यवन-अभिनय···"

"नाटक कहना चाहिए, सौम्य !"

"हाँ, यवन-नाटक को। आज हम लोग एक नाटक करने वाले हैं। हम चाहते हैं कि तुम भी हमारे नाटक को देखो।"

"खुशी से। यह आप मित्रों का बहुत अनुग्रह है।"

अश्वघोष उनके साथ चल पड़ा। नाट्यशाला में रंगमंच के पास उसे स्थान दिया गया। अभिनय किसी यवन (यूनानी) दुःखान्त नाटक का था और प्राकृत भाषा में किया गया था। यवन कुल-पुत्रों और कुल-पुत्रियों ने हरेक पात्र का अभिनय किया था। अभिनेताओं तथा अभिनेत्रियों की पोशाक यवन-देशीयों जैसी थी। भिन्न-भिन्न दृश्यों के चित्रपट भी यवन रीति से बने थे। नायिका बनी थी प्रभा, अश्वघोष की परिचिता। उसके अभिनय-कौशल को देखकर वह मुग्ध हो गया। नाटक के बीच में एक उचित अवसर देखकर पूर्व-परिचित यवन तरुण ने अश्वघोष से 'उर्वशी-वियोग' गाने की प्रार्थना की। अश्वघोष बिना किसी हिचक के वीणा उठा रंगमंच पर पहुँच गया। फिर उसने अपने गाने से स्वयं रो, दूसरों को रुलाया। उस वक्त एक बार उसकी दृष्टि प्रभा के कातर नेत्रों पर पड़ी थी।

नाटक समाप्त हो जाने पर नेपथ्य में सारे अभिनेता कुमार-कुमारियों का कवि से परिचय कराया गया। अश्वघोष ने कहा—"साकेत में रहते हुए भी मैं इस अनुपम कला से बिलकुल अनभिज्ञ रहा। आप मित्रों का मैं बहुत कृतज्ञ हूँ, कि आपने मुझे एक अज्ञात प्रभालोक का दर्शन कराया।"

'प्रभालोक' कहते समय कुछ तरुणियों ने प्रभा की ओर देखकर मुसकरा दिया। अश्वघोष ने फिर कहा—"मेरे मन में एक विचार आया है। आपने जैसे यवन नाटक के प्राकृत रूपान्तर का आज अभिनय किया, मैं समझता हूँ, उसी ढंग के अनुसार हम अपने देश की कथाओं को ले अच्छे नाटक तैयार कर सकते हैं।"

"हमें भी पूरा विश्वास है, यदि कवि ! तुम करना चाहो, तुम मूल यवन नाटक से भी अच्छा नाटक तैयार कर सकते हो।"

"इतना मत कहो, सौम्य ! यवन-नाटककार का मैं शिष्य-भर ही होने लायक हूँ। अच्छा, यदि मैं उर्वशी-वियोग पर एक नाटक लिखूँ ?"

"हम उसका अभिनय भी करने के लिए तैयार हैं, लेकिन साथ ही पुरूरवा का पार्ट तुम्हें लेना होगा।"

"मुझे उज्र न होगा, और मैं समझता हूँ, थोड़ा-सा अभ्यास कर लेने पर मैं उसे बुरा न करूँगा।"

"हम चित्रपट भी तैयार करा लेंगे।"

"चित्रपट पर हमें पुरूरवा के देश के दृश्य अंकित करने होंगे। मैं भी चित्र कुछ

खींच लेता हूँ। अवसर मिलने पर उसमें मैं कुछ मदद करूँगा।"

"तुम्हारे आदेश के अनुसार दृश्यों का अंकित होना अच्छा होगा। पात्रों की वेश-भूषा का निर्देश भी, सौम्य, तुम्हें ही देना होगा। और पात्र ?"

"पात्र तो, सौम्य, सभी अभी नहीं बतलाये जा सकते। हाँ, उनकी संख्या कम रखनी होगी। कितनी रखनी चाहिए ?"

"सोलह से बीस तक को हम आसानी से तैयार कर सकते हैं।"

"मैं सोलह तक ही रखने की कोशिश करूँगा।"

"पुरूरवा, तो सौम्य ! तुम्हें बनना होगा और उर्वशी के लिए हमारी प्रभा कैसी रहेगी ? आज तुमने देखा उसके अभिनय को।"

"मेरी अनभ्यस्त आँखों को तो वह निर्दोष मालूम हुआ।"

"तो प्रभा को ही उर्वशी बनना होगा। हमारी मण्डली में जो काम जिसको दिया जाता है, वह उससे इनकार नहीं कर सकता।"

प्रभा के नेत्र कुछ संकुचित होने लगे थे, किन्तु प्रमुख तरुण के "क्यों, प्रभा ?" कहने पर उसने जरा रूककर "हाँ" कह दिया।

* * *

अश्वघोष ने प्रमुख यवन तरुण—बुद्धप्रिय—के साथ कुछ यवन-नाटकों के प्राकृत रूपान्तरों को पढ़ा और उनके स्थान आदि के संकेत के बारे में बातचीत की। नाटक के चित्रपटों का नामकरण उसने यवन (यूनानी) कला के स्मरण के रूप में यवनिका रखा। नाटक को संस्कृत-प्राकृत, गद्य-पद्य दोनों मे लिखा। उस समय की प्राकृत संस्कृत के इतना समीप थी कि सम्भ्रान्त परिवारों में उसे आसानी से समझा जाता था। यह 'उर्वशी-वियोग' प्रथम भारतीय नाटक था, और अश्वघोष था प्रथम नाटककार। कवि का यह पहला प्रयास था, तो भी वह उसके 'राष्ट्रपाल', 'सारिपुत्र' आदि नाटकों से कम सुन्दर नहीं था।

रंग की तैयारी तथा अभिनय के अभ्यास में तरुण कवि को खाना-पीना तक याद नहीं रहता था। इसे वह अपने जीवन की सुन्दरतम घड़ियाँ समझता था। नित्य घण्टों वह और प्रभा साथ तैयारी करते थे। तैराकी के दिन उनके हृदयों में पड़ा प्रेम-बीज अब अंकुरित होने लगा था। यवन तरुण-तरुणी अश्वघोष को आत्मीय के तौर पर देखना चाहते थे, इसलिए वह इसके सहायक होना अपने सौभाग्य की बात समझते थे। एक दिन घड़ियों के तूलिका-संचालन के बाद अश्वघोष नाट्यशाला के बाहर क्षुद्रोद्यान मे रखी आसन्दिका पर जा बैठा। उसी समय प्रभा भी वहाँ आ गई। प्रभा ने अपने स्वाभाविक मधुर स्वर में कहा—"कवि, तुमने उर्वशी-वियोग गीत बनाते वक्त अपने सामने क्या रखा था ?"

"उर्वशी और पुरूरवा के कथानक को।"

"कथानक तो मैं भी जानती हूँ। उर्वशी को अप्सरा करके तुमने बार-बार सम्बोधित किया था ?"

"उर्वशी थी ही अप्सरा।"

"फिर उसमें पुरूरवा को उर्वशी के वियोग में सरिता, सरोवर, पर्वत, वन—सबमें ढूँढने में विह्वल चित्रित किया था।"

"पुरूरवा की उस अवस्था में यह स्वाभाविक था।"

"फिर उर्वशी-वियोग के गायक ने लतागृह में अश्रुधारा को वीणा की भाँति गीत का संगी बना दिया था।"

"गायक और अभिनेता को तन्मय हो जाना चाहिए, प्रभा!"

"नहीं, तुम मुझे साफ बतलाना नहीं चाहते।"

"तुम क्या समझती हो?"

"मैं समझती हूँ, तुमने किसी पुरानी उर्वशी के वियोग का गान नहीं गाया था।"

"और फिर?"

"तुम्हारी उर्वशी—उर-वसी (हृदय में बसी)—थी, वह अप्सरा—अप = सरयू के जल में, सरा = तैरनेवाली—थी।"

"और फिर?"

"इस उर्वशी का पुरूरवा किसी हिमालय-जैसे पर्वत, वनखण्ड, सरिता, सरोवर और गुल्म में नहीं बल्कि साकेत की सरयू, पुष्योद्यान के सरोवर, क्रीड़ा-पर्वत, वन और गुल्म को ढूँढता फिरता था।"

"और फिर?"

"उसके आँसू किसी पुराने पुरूरवा की सहानुभूति में नहीं, बल्कि अपनी ही आग को बुझाने के लिए निकले थे।"

"और एक बात मैं कहूँ, प्रभा!"

"कहो, अब तक मैंने ही अधिक कहा।"

"और उस दिन लतागृह से निकलते वक्त मैंने तुम्हारे इन मनहर नीले नयनों को आरक्त और अधिक सूजे देखा था।"

"तुमने अपने गान से रुलाया था।"

"तुमने अपने वियोग से वह गीत प्रदान किया था।"

"किन्तु, तुम्हारे गीत की उर्वशी कोई पाषाणी थी, कवि! कम-से-कम तुमने उसे वैसा ही चित्रित किया था।"

"क्योंकि मैं व्याकुल और निराश था।"

"क्या समझकर?"

"मैं उस अचिरप्रभा (बिजली) के दर्शन का सौभाग्य न प्राप्त कर सकूँगा! वह कब की मुझे भूल गई होगी।"

"तुम इतने अकिंचन थे, कवि?"

"जब तक आत्म-विश्वास का कोई कारण न हो, तब तक आदमी अकिंचन

छोड़ अपने को और क्या समझ सकता है।"

"तुम साकेत ही नहीं, हमारे इस विस्तृत भूखण्ड के महिमा-प्राप्त कवि हो। तुम साकेत के सरिता तरुण के विजेता हो। तुम्हारी विद्या की प्रशंसा हर साकेतवासी की जिह्वा पर है। और नारी की दृष्टि से देखो, तो साकेत की सुन्दरियाँ तुम्हें अपनी आँखों का तारा बनाकर रखने को तैयार हैं।"

"किन्तु इससे क्या? मेरे लिए तो अपनी उर्वशी सब-कुछ थी। मैंने जब दो सप्ताह उसे नहीं देखा, तो जीवन निस्सार मालूम होने लगा। सच कहता हूँ, प्रभा। मैंने अपने चित्त को कभी इतना निर्बल नहीं पाया था। यदि एक सप्ताह और न तुम्हें देख पाया होता, तो न-जाने क्या कर डालता।"

"कवि! तुम इतने स्वार्थी न बनो। तुम अपने देश के शाश्वत गायक हो। तुमसे अभी वह क्या-क्या आशा रखता है। तुम्हारे इस 'उर्वशी-वियोग' नाटक का जानते हो, कितना बखान हो रहा है?"

"मैंने नहीं सुना।"

"पिछले सप्ताह मेरे बन्धु एक यवन व्यापारी भरुकच्छ (भड़ौंच) से यहाँ आये थे। भरुकच्छ में यवन नगरों की भारी संख्या रहती है। हमारे साकेत के यवन (यूनानी) तो हिन्दू हो गये हैं, किन्तु भरुकच्छ वाले अपनी भाषा को भूले नहीं हैं। भरुकच्छ में यवन देश से व्यापारी और विद्वान् आया करते हैं। हमारे यह बन्धु यवन साहित्य के बड़े मर्मज्ञ हैं। उन्होंने तुम्हारे नाटक की उपमा एम्पीदोकल और युरोपिद्—श्रेष्ठ यवन-नाटककारों—की कृतियों से दी! वह इसे उतरवाकर ले गये हैं। कहते थे—मिश्र का राजा तुरमाय (तालिमी) बड़ा नाट्य-प्रेमी है, उसके पास यवन भाषान्तर कर इसे भेजेंगे। भरुकच्छ से मिश्र को बराबर जलपोत आया-जाया करते हैं। जिस वक्त मैं उनके वार्तालाप को सुन रही थी, उस वक्त मेरा हृदय अभिमान से फूल उठा था।"

"मेरे लिए तुम्हारे हृदय को अभिमान ही सब-कुछ है, प्रभा!"

"कवि! तुम अपना मूल्य नहीं जानते।"

"मेरे मूल्य की कसौटी तुम थीं, प्रभा! अब मैं उसे जानता हूँ।"

"नहीं, तुम्हें ऐसा नहीं करना चाहिये। तुम्हें प्रभा के प्रेमी अश्वघोष और युग के महान् कवि अश्वघोष को अलग-अलग रखना होगा। प्रभा के प्रेमी अश्वघोष को चाहे जो कुछ कहो-करो; किन्तु महान् कवि को उससे ऊपर, सारी वसुन्धरा का समझना होगा।"

"तुम जैसा कहोगी, इस बात में मैं तुम्हारा अनुसरण करूँगा।"

"मैंने अपने को इतनी सौभाग्यशालिनी होने की कभी आशा न की थी।"

"क्यों?"

"सोचती थी, तुम मुझे भूल चुके होगे।"

"तुम इतनी साधारण थीं।"

"तुम्हारे सामने थी और अब भी हूँ।"

"तुमसे मुझे कविता का नया वर मिला है। मैं अपनी कविताओं में अब नई प्रेरणा, नई स्फूर्ति पाता हूँ। 'उर्वशी-वियोग' गीत तुम्हारी प्रेरणा से प्रकट हुआ और यह नाटक भी। नाटक को मैं देश की अपनी चीज बना रहा हूँ, प्रभा! किन्तु तुमने कैसे समझा कि मैं तुम्हें भूल जाऊँगा?"

"कहीं से भी मैं अपने को तुम्हारे पास पहुँचने लायक नहीं पाती थी। एक-एक कर जब मैं तुम्हारे गुणों से पूर्णतया परिचित हो गई, तो उससे निराश ही होती गई। साकेत की एक-से-एक सुन्दरियों को मैंने तुम्हारे नाम पर बावली होते देखा, इससे भी आशा नहीं हो सकती थी। फिर सुना, तुम उच्च कुल के ब्राह्मण हो। यद्यपि मैं ब्राह्मणों के बाद उच्च स्थान रखने वाले राजपुत्र यवन की कन्या हूँ, तो भी कुलीन ब्राह्मण—जो माता-पिता की सात पीढ़ियों तक की छान-बीन किये बिना ब्याह नहीं करता—कैसे मेरे प्रेम का स्वागत करेगा?"

"मुझे खेद है, प्रभा! जो अश्वघोष ने तुम्हारे चित्त को इस तरह दुखाया।"

"तो तुम···" कहते-कहते वह रुक गई।

अश्वघोष ने प्रभा के वाष्पपूर्ण नेत्रों को चूम, कण्ठ से लगाकर कहा—"प्रभा, अश्वघोष सदा तुम्हारा रहेगा। काल भी तुम्हें उससे पराई नहीं बना सकता।"

प्रभा के नेत्रों से छलछल आँसू बह रहे थे और अश्वघोष कण्ठ से लगाये उसके आँसुओं को पोंछ रहा था।

'उर्वशी-वियोग' बहुत अच्छा खेला गया और एक से अधिक बार। साकेत के सभी सम्भ्रान्त नागरिकों ने उसे देखा। उन्होंने कभी सोचा भी न था कि अभिनय की कला इतनी पूर्ण, इतनी उच्च हो सकती है। अश्वघोष ने अन्तिम यवनिकापात के समय कई बार दोहराया था कि मैंने सब-कुछ यवन-रंगमंच से लिया है, किन्तु उसके नाटक इतने स्वभूमिज थे कि कोई उन पर किसी प्रकार के विदेशी प्रभाव की गन्ध भी नहीं पाता था।

जिस तरह अश्वघोष के संस्कृत-प्राकृत गीत और कविताएँ साकेत और कोसल की सीमा पार कर गए थे, उसके नाटक उससे भी दूर तक फैल गये। उज्जयिनी, दशपुर, सुप्पारक, भरुकच्छ, शाकला (स्यालकोट), तक्षशिला, पाटलिपुत्र-जैसे महानगरों में—जहाँ कि यवनों की काफी संख्या और उनकी नाट्य-शालाएँ थीं—उसके नाटक रंगमंच पर बहुत जल्द पहुँचे, और फिर सारे ही सामन्तों और व्यापारियों में वे बहुत प्रिय हुए।

* * *

अश्वघोष का रंगमंच पर अभिनय और यवन-कन्या से प्रेम उसके माता-पिता से छिपा नहीं रह सकता था। इसे सुनकर पिता खास तौर से चिन्तित हुए। ब्राह्मण ने सुवर्णाक्षी को पहले समझाने के लिए कहा। माता ने जब कहा कि हमारे ब्राह्मण-कुल के लिए ऐसा सम्बन्ध अधर्म है, तब ब्राह्मणों के सारे वेद-शास्त्रों के ज्ञाता अश्वघोष ने माँ को पुराने ऋषियों के आचरणों के सैकड़ों प्रमाण दिये (जिनमें से कुछ को पीछे उसने

अपनी 'वज्रच्छेदिका' में जमा किया, जो आज भी 'वज्रच्छेदिकोपनिषद्' के नाम से उपनिषद्-गुटका में सम्मिलित है) किन्तु माँ ने कहा—"यह तो सब ठीक है, बेटा, किन्तु आज के ब्राह्मण उस पुराने आचरण को नहीं मानते।"

"तो ब्राह्मणों के लिए मैं एक नया सदाचार उपस्थित करूँगा।"

माँ अश्वघोष की युक्तियों से सन्तुष्ट नहीं हो सकती थी, किन्तु जब उसने कहा कि प्रभा और मेरे प्राण अलग नहीं रह सकते, तो वह पुत्र के पक्ष में हो गई और बोली—"पुत्र, मेरे लिए तू ही सब-कुछ है।"

अश्वघोष ने एक दिन प्रभा को माँ के पास भेजा। माँ ने रूप के समान ही गुण और स्वभाव में भी आगरी इस कन्या को देख आशीर्वाद दिया।

किन्तु ब्राह्मण इसे मान नहीं सकता था। उसने एक दिन अश्वघोष से सीधे कहा—"पुत्र! हमारा श्रोत्रियों का श्रेष्ठ ब्राह्मण-कुल है। हमारी पचासों पीढ़ियों से सिर्फ कुलीन ब्राह्मण-कन्याएँ ही हमारे घर में आया करती हैं। आज यदि इस सम्बन्ध को तुम स्वीकार करते हो, तो हम और हमारी आगे आने वाली सन्तान सदा के लिए जातिभ्रष्ट हो जायँगे। हमारी सारी मान-मर्यादा जाती रहेगी।"

अश्वघोष के लिए प्रभा का त्याग अचिन्तनीय था।

ब्राह्मण ने फिर प्रभा के माता-पिता से अनुनय-विनय की, किन्तु वे असमर्थ थे। अन्त में उसने प्रभा के सामने पगड़ी रखी। प्रभा ने इतना ही कहा कि मैं अश्वघोष से आपकी बात कहूँगी।

* * *

प्रभा और अश्वघोष अभिन्न सहचर थे। चाहे सरयू-तीर हो, चाहे पुष्योद्यान, यात्रोत्सव, नृत्यशाला, नाट्यशाला या दूसरी जगह, एक के होने पर दूसरे का वहाँ रहना जरूरी था। प्रभा सूर्य-प्रभा की भाँति अश्वघोष के हृदय-पद्म को विकसित रखती थी। दूध-सी छिटकी चाँदनी के प्रकाश में दोनों अकसर सरयू की रेत में जाते और प्रणय-लीला में ही अपना समय नहीं बिताते, बल्कि वहाँ कितनी ही बार जीवन की दूसरी गम्भीर बातें भी छिड़ जातीं। एक दिन उस चाँदनी में सरयू की काली धारा के पास श्वेत सिकता पर बैठी प्रभा के रूप का चित्र वह अपने मन में खींचने लगा। एकाएक उसके मुँह से उद्‌गार निकल आया—"प्रभा, तुम मेरी कविता हो। तुम्हारी ही प्रेरणा को पाकर मैंने 'उर्वशी-वियोग' लिखा। तुम्हारी यह रूपराशि मुझसे कितने ही काव्य-सौन्दर्य की रचना करायेगी। कविता भीतर की अभिव्यक्ति बाहर नहीं है, बल्कि वह बाहर की अभिव्यक्ति भीतर है, इस तत्त्व को मुझे तुमने समझाया, प्रिये!"

प्रभा अश्वघोष की बात को सुनते-सुनते शीतल सिकतातल पर लेट रही। उसके दीर्घ अम्लान केशों को बालू पर फैलते देख अश्वघोष ने उसके सिर को अपनी गोद में ले लिया। नेत्रों को ऊपर की ओर करके प्रभा अश्वघोष के मुख की रूपरेखा देख रही थी। अश्वघोष की बात को समाप्ति पर पहुँचते देख प्रभा ने कहा—"मैं तुम्हारी सभी बातों को मानने के लिए तैयार हूँ। काव्य-वस्तुः साकार सौन्दर्य से प्रेरित हुए बिना

पूर्ण नहीं होता। मैं भी तुम्हारा काव्यमय चित्रण करती, और मूक चित्रण मैं करत भी हूँ, किन्तु कविता मेरे बस की बात नही है। मैंने उस दिन कहा था कि तुम्हें अपने भीतर दो अश्वघोषों को देखना चाहिए, जिनमें युग के महान् कवि शाश्वत अश्वघोष क ही विचार मुख्य होना चाहिए; क्योंकि वह एक व्यक्ति का नहीं, बल्कि विश्व की महा निधि है। कालकाराम के उस विद्वान् भिक्षु की बात याद है न, जिसे हम परसों देखने गये थे?"

"वह अद्भुत मेधावी मालूम होता है।"

"हाँ, और बहुत दूर-दूर तक घूमा भी। उसका जन्म मिश्र की अलसन्दा (सिकन्दरिया) नगरी का है।"

"हाँ, मैंने सुना है। एक बात मुझे समझ में नहीं आती, प्रिये! यवन सारे ही बौद्धधर्म को क्यों मानते हैं?"

"क्योंकि वह उनकी मनोवृत्ति और स्वतंत्र प्रकृति के अनुकूल मालूम होता है।"

"लेकिन बौद्ध सबको विरागी, तपस्वी और भिक्षु बनाना चाहते हैं?"

"बौद्धों में गृहस्थों की अपेक्षा भिक्षु बहुत कम होते हैं और बौद्ध गृहस्थ-जीवन का रस लेने मे किसी से पीछे नहीं रहते।"

"इस देश में और भी कितने ही धर्म हैं, आखिर यवनों का बौद्ध-धर्म पर इतना पक्षपात क्यों? यह फिर भी समझ में नहीं आता।"

"यहाँ बौद्ध ही सबसे उदार धर्म है। जब हमारे पूर्वज भारत में आए, तो सब म्लेच्छ कहकर हमसे घृणा करते थे। आक्रमणकारी यवनों की बात मैं नहीं कर रही हूँ; यहाँ बस जाने वाले अथवा व्यापार आदि के सम्बन्ध से आने वाले यवनों के साथ भी बर्ताव था किन्तु बौद्ध उनसे कोई घृणा नहीं करते थे। यवन वस्तुतः अपने देश में भी बौद्धधर्म से परिचित हो गए थे।"

"अपने देश में भी?"

"हाँ, चन्द्रगुप्त मौर्य के पौत्र अशोक के समय कितने ही बौद्ध-भिक्षु यवनलोक (यूनानी लोगों) में पहुँचे थे। हमारे धर्मरक्षित इस देश में आकर भिक्षु नहीं बने। वह मिश्र में अलसन्दा (सिकन्दरिया) के विहार में भिक्षु हुए थे।"

"मैं उनसे फिर मिलना चाहता हूँ, प्रभा!"

"जरूर मिलना चाहिये। वह तुम्हें और गम्भीर बातें बतलाएँगे—बौद्धधर्म के बारे में ही नहीं, यवन-दर्शन के बारे में भी।"

"यवन भी दार्शनिक हुए हैं?"

"अनेक महान् दार्शनिक, जिनके बारे में भदन्त धर्मरक्षित तुम्हें बतलायेंगे। किन्तु प्रिय, कहीं बौद्ध-दर्शन सुन प्रभा से वैराग्य न कर लेना!"—कह प्रभा ने अपनी बाँहों में अश्वघोष को बाँध लिया, मानो उसे कोई छीने लिए जा रहा हो।

"कुछ बातें तो कालकाराम की मुझे भी बहुत आकर्षक मालूम हुईं। ख्याल

आता था, यदि हमारा सारा देश कालकाराम-जैसा होता।"

प्रभा ने बैठकर कहा—"नहीं, प्रिय! कहीं तुम मुझे छोड़कर कालकाराम में न चले जाना।"

"तुम्हें छोड़ जाना जीते-जी! असम्भव प्रिये! मैं कह रहा था वहाँ की भेद-भाव-शून्यता के बारे में। देखो, वहाँ यवन धर्मरक्षित, पार्शव (पर्सियन) सुमन जैसे देश-देशान्तरों के विद्वान् भिक्षु रहते हैं और साथ ही हमारे देश के ब्राह्मण से चण्डाल तक सारे कुलों के भिक्षु एक साथ रहते, एक साथ खाते-पीते और एक साथ ज्ञान-अर्जन करते हैं। कालकाराम के उन बूढ़े काले-काले भिक्षु का क्या नाम है?"

"महास्थविर धर्मसेन। वह साकेत के सभी विहारों के भिक्षुओं के प्रधान हैं।"

"सुना है, उनका जन्म-कुल चण्डाल है। और उनके सामने मेरे अपने चचा भिक्षु शुभगुप्त उकड़ू बैठ प्रणाम करते हैं। सोचो, कहाँ शुभगुप्त एक समृद्ध श्रोत्रिय ब्राह्मण-कुल के विद्वान् पुत्र और कहाँ चण्डाल-पुत्र धर्मसेन!"

"किन्तु महास्थविर धर्मसेन भी बड़े विद्वान् हैं।"

"मैं ब्राह्मणों के धर्म की दृष्टि से कहता हूँ, प्रभा! क्या उनका बस चलता, तो धर्मसेन मनुष्य भी बन सकते थे, देवता बनकर पूजित होने की तो बात ही और?"

"बुद्ध ने अपने भिक्षु-संघ को समुद्र कहा है। उस संघ मे जो भी जाता है, वह नदियों की भाँति नाम-रूप छोड़ समुद्र बन जाता है।"

"और बौद्ध गृहस्थ भी, प्रिये! वैसा ही क्यों नहीं करते?"

"बौद्ध गृहस्थ देश के दूसरे गृहस्थों से छिन्न-भिन्न होकर रह नहीं सकते। आखिर उनके ऊपर परिवार का बोझ होता है।"

"मैं तो बहुत अच्छा समझता, यदि कालकाराम के भिक्षुओं की भाँति सारे पुर और जनपद (देहात) के लोग भेद-शून्य हो जाते—न कोई जाति का भेद होता, न कोई वर्ण का।"

"एक बात मैंने तुमसे नही कही, प्रिये! तुम्हारे पिता ने एक दिन मेरे सामने पगड़ी रख दी, और कहने लगे कि प्रभा! अश्वघोष को तू मुक्त कर दे।"

"गोया तुम्हारे मुक्त करने पर वह अपने पुत्र को पा सकेंगे। तुमने क्या कहा, प्रभा?"

"मैंने कहा, आपकी बात मैं अश्वघोष से कहूँगी।"

"आर तुमन कह दिया। मुझ ब्राह्मणों के पाखण्डों से अपार घृणा है। घृणा से सारा गात्र जलता है। एक आर व कहत ह कि हम अपने वेद-शास्त्र को मानत ह। मैंने बड़ परिश्रम और श्रद्धा से उनकी सारी विद्याएं पढ़ीं, किन्तु वे क्या मानते हे, मुझे तो कुछ समझ मे नही आता। शायद वे केवल अपने स्वार्थ को मानते हैं। जब किसी बात को उनके पुराने ऋषियों के वचनों से निकालकर दिखलाओ, तो कहते हैं—इसका आजकल रिवाज नहीं है। रिवाज को ही मानो या ऋषि-वाक्यों को ही! यदि पुरानी वेद-मर्यादा को किसी ने तोड़ा, तभी न नया रिवाज चला! कायर, डरपोक, स्वार्थी

ऐसों को ही कहते हैं। बस, इन्हें मोटे बछड़ों का मांस और अपनी भूयसी-दक्षिणा चाहिए; ये कोई भी ऐसा काम करने के लिए तैयार हैं, जिससे इनके आश्रयदाता राजा और सामन्त प्रसन्न हों।"

"गरीबों और जिनको ये नीच जातियाँ कहते हैं, वे सभी गरीब हैं—के लिए इनके धर्म में कोई स्थान नहीं है।"

"हाँ, यवन, शक, आभीर दूसरे देशों से आई जातियों को इन्होंने क्षत्रिय, राजपुत्र मान लिया; क्योंकि उनके पास प्रभुता थी, धन था। उनसे इन्हें मोटी-मोटी दक्षिणा मिल सकती थी। किन्तु अपने यहाँ के शूद्रों, चण्डालों, दासों को इन्होंने हमेशा के लिए वहीं रखा। जिस धर्म से आदमी का हृदय ऊपर नहीं उठता, जिस धर्म में आदमी का स्थान उसकी थैली या डण्डे के अनुसार होता है, मैं उसे मनुष्य के लिए भारी कलंक समझता हूँ। संसार बदलता है; मैंने ब्राह्मणों के पुराने से आज तक के ग्रंथों में आचार-व्यवहारों को पढ़कर वहाँ साफ परिवर्त्तन देखा है; किन्तु आज इनसे बात करो, तो ये सारी बातों को सनातन, स्थिर मनवाना चाहते हैं। यह केवल जड़ता है, प्रिये!"

"मैं तो कारण नहीं हो रही हूँ इन उद्‌गारों के लिए, मेरे घोष!"

"कारण होना प्रशंसा की बात है, मेरी प्रभा! तुमने मेरी कविता में नया प्राण, नई प्रेरणा दी है। तुम मेरी अन्तर्दृष्टि में भी नया प्राण, नई प्रेरणा दे मेरा भारी हित कर रही हो। किसी वक्त समझता था कि मैं ज्ञान के छोर पर पहुँच गया। ब्राह्मण इस झूठे अभिमान के बहुत आसानी से शिकार हो जाते हैं; किन्तु अब जानता हूँ कि ज्ञान ब्राह्मणों की श्रुतियों, उनकी ताल तथा भुजपत्र की पोथियों तक ही सीमित नहीं है; वह उनसे कहीं विशाल है।"

"मैं एक स्त्री-मात्र हूँ।"

"और जो स्त्री-मात्र होने से किसी को नीच कहता है, उसे मैं घृणा की दृष्टि से देखता हूँ।"

"यवनों में स्त्रियों का सम्मान तब भी दूसरे से अधिक है। उनमें आज भी चाहे निस्सन्तान मर जाय; किन्तु एक स्त्री के रहते दूसरी से ब्याह नहीं हो सकता।"

"और ये ब्राह्मण सौ-सौ से ब्याह कराते फिरते हैं, सिर्फ दक्षिणा के लिए, छिः! मैं खुश हूँ, जो कोई यवन ब्राह्मण-धर्म को नहीं मानता।"

"बौद्ध होने पर भी पूजा-पाठ के लिए हमारे यहाँ ब्राह्मण आते हैं।"

"जब उन्होंने अपने स्वार्थ के लिए यवनों का क्षत्रिय स्वीकार कर लिया है, तो उतना क्यों नहीं करेंगे—दक्षिणा की जो बात ठहरी!"

"तो क्या मैं तुम्हारे ब्राह्मणत्व के अभिमान को दूर करने में कारण तो नहीं बनी?"

"बुरा नहीं हुआ। यदि ब्राह्मण-अभिमान मुझमें और तुममें भेद डालना चाहता है, तो वह मेरे लिए तुच्छ, घृणास्पद वस्तु है।"

"यह जानकर मुझे कितनी खुशी है कि तुम मुझे प्रेम करते हो, घोष !"

"अन्तस्तल से, प्रिये ! तुम्हारे प्रेम से वंचित अश्वघोष निष्प्राण जड़ रह जायगा।"

"तो मेरे प्रेम का पुरस्कार, वरदान भी देना चाहते हो ?"

"उसी एक प्रेम को छोड़कर सब-कुछ।"

"मेरा प्रेम यदि मेरे शाश्वत अश्वघोष, युग के महान् कवि अश्वघोष को जरा भी हानि पहुँचा सका, तो उसे धिक्कार है।"

"साफ कहो, प्रिये !"

"प्रेम मे मैं बाधा नही डालना चाहती; किन्तु मैं उसे तुम्हारे शाश्वत निर्माण में सहायक देखना चाहती हूँ। और यदि मैं न रही···"

अश्वघोष ने विक्षिप्त की भाँति खड़े हो प्रभा को उठाकर जब दृढ़तापूर्वक अपनी छाती और गले ने लगाया, तो प्रभा ने देखा, उसके गाल भीगे हुए हैं। वह अश्वघोष को बार-बार चूमती और बार-बार दुहराती रही—"मेरे घोष !" फिर थोड़ा शान्त होने पर प्रभा ने कहा—"सुनो प्यारे, मेरा प्रेम तुमसे कुछ बड़ी चीज माँगना चाहता है, उसे तुम्हें देना चाहिये।"

"तुम्हारे लिए कुछ भी अदेय नहीं है, प्रिये !"

"फिर तुमने मुझे बात भी समाप्त नहीं करने दी ?"

"किन्तु तुम तो वज्र-अक्षर अपने मुँह से निकालना चाहती थीं।"

"लेकिन उस वज्र-अक्षर को शाश्वत अश्वघोष के हित के लिए कहना जरूरी है। मेरा प्रेम चाहता है कि महान् कवि अश्वघोष अपने शाश्वत कवि-रूप की भाँति प्रभा के प्रेम को भी शाश्वत समझे, उसे सामने बैठी प्रभा के शरीर से न नापे। शाश्वत अश्वघोष की प्रभा शाश्वत तरुणी, शाश्वत सुन्दरी है। मैं बस इतना ही तुम्हारे मन से मनवाना चाहती हूँ।"

"तो वास्तविक प्रभा की जगह तुम काल्पनिक प्रभा को मेरे सामने रखना चाहती हो ?"

"मैं दोनों को वास्तविक समझती हूँ, मेरे घोष ! फर्क इतना ही है कि उनमें से एक सिर्फ सौ या पचास वर्ष रहने वाली है, दूसरी शाश्वत। तुम्हारी प्रभा तुम्हारे 'उर्वशी-वियोग' में अमर रहेगी। मेरे प्रेम को अमर रखने के लिए तुम्हें अमर अश्वघोष की ओर ध्यान रखना होगा। और अब रात बहुत बीत गई, सरयू का तीर भी सोया मालूम होता है, हमें भी घर चलना चाहिए।"

और मैंने अमर प्रभा का एक चित्र अपने मन पर अंकित किया है।"

"प्रियतम ! बस, यही चाहती हूँ।"—कहकर अश्वघोष के कपोलों पर अपने रेशम-जैसे कोमल केशों को लगा वह नीरव खड़ी रही।

* * *

एक बड़ा आँगन है, जिसके चारों ओर बरामदा और पीछे तितल्ले मकान की कोठरियाँ हैं। बरामदों मे अरगनों पर पीले वस्त्र सूख रहे हैं। आँगन के एक कोने में

एक कुआँ तथा पास ही एक स्नान-कोष्ठक है। आंगन की दूसरी जगहों में कितने ही वृक्ष हैं, जिनमें एक पीपल का है। पीपल के इर्द-गिर्द वेदी है और फिर हटकर पत्थर का कटघरा, जिस पर हजारों दीपकों के रखने के लिए स्थान बने हुए हैं। प्रभा ने घुटने टेक उस सुन्दर वृक्ष की वन्दना करके कहा—"प्रिय! इसी जाति का वह वृक्ष था, जिसके नीचे बैठकर सिद्धार्थ गौतम ने अपने प्रयत्न, अपने चिन्तन द्वारा मन की भ्रान्तियों को हटा बोध प्राप्त किया, और तब से वह बुद्ध के नाम से प्रख्यात हुए। सिर्फ उसी मधुर स्मृति के लिए हम इस जाति के वृक्षों के सामने सिर झुकाते हैं।"

"अपने प्रयत्न, अपने चिन्तन द्वारा मन की भ्रान्तियों को हटा बोध प्राप्त करने का प्रतीक! ऐसे प्रतीत की पूजा होनी चाहिये, प्रिये! ऐसे प्रतीक की पूजा अपने प्रयत्न—आत्म-विजय—की पूजा है।"

फिर दोनों भदन्त धर्मरक्षित के पास गये। वह उस वक्त आंगन के एक वकुल वृक्ष के नीचे बैठे थे, जहाँ वनपुष्पित फूलों की मधुर सुगन्धि फैल रही थी। प्रभा ने बौद्ध-उपासिका की भाँति पंच-प्रतिष्ठित से (पैर के दोनों पंजों-घुटनों, हाथ की दोनों हथेलियों और ललाट को धरती पर रखकर) वन्दना की। अश्वघोष ने खड़े-ही-खड़े सम्मान प्रदर्शन किया। फिर दोनों जमीन पर पड़े चर्म-खण्डों को लेकर बैठ गये। भदन्त के शिष्य अश्वघोष को बातचीत करने के लिए आया समझ वहाँ से हट गये। साधारण शिष्टाचार की बातों के बाद अश्वघोष ने दर्शन की बात छेड़ी। धर्मरक्षित ने कहा—"ब्राह्मणकुमार! दर्शन को भी बुद्धों—ज्ञानियों—के धर्म में बन्धन और भारी बन्धन (दृष्टि-संयोजन) कहा गया है।"

"तो भदन्त! क्या बुद्ध के धर्म में दर्शन का स्थान नहीं है?"

"स्थान क्यों नहीं, बुद्ध का धर्म दर्शनमय है; किन्तु बुद्ध उसे बेड़े की भाँति पार उतरने के लिए बतलाते हैं, सिर पर उठाकर ढोने के लिए नहीं।"

"क्या कहा, बेड़े की भाँति?"

"हाँ, बिना नाव वाली नदी में लोग बेड़ा बाँधकर उससे पार उतर जाते हैं; किन्तु पार उतरकर बेड़े की उन लकड़ियों को उपकारी समझ सिर पर ढोते नहीं फिरते।"

"अपने धर्म के लिए भी जिस पुरुष को इतना कहने की हिम्मत थी, उसने जरूर सत्य और उसके बल को देखा होगा। भदन्त! बुद्ध के दर्शन की कोई ऐसी बात बतलाएँ, जिसके जानने से हमें अपने मन से भी बहुत-सा समझ जाने में सुभीता हो।"

"अनात्मवाद है, कुमार! ब्राह्मण आत्म को नित्य, ध्रुव, शाश्वत तत्त्व मानते हैं, बुद्ध-जगत् के भीतर-बाहर किसी ऐसे नित्य, ध्रुव, शाश्वत तत्त्व को नहीं मानते, इसीलिए अनेक दर्शन को अनात्मवाद—अनित्यता, क्षण-क्षण उत्पत्ति-विनाश—का दर्शन कहते हैं!"

"मेरे लिए यह एक बात ही काफी है, भदन्त! बेड़े की भाँति धर्म तथा अनात्मवाद की घोषणा करने वाले बुद्ध को अश्वघोष शतशः प्रणाम करता है। अश्वघोष

जिसको ढूँढता था, उसे उसने पा लिया ! मैं अपने भीतर अनुभव कर रहा था कुछ ऐसी ही लहरों को; किन्तु मैं उसे नाम नहीं दे पाता था। आज बुद्ध की शिक्षा को लोक ने ठीक से माना होता, तो दुनिया दूसरी ही होती।"

"ठीक कहा कुमार ! हमारे यवन देश में भी महान् दार्शनिक पैदा हुए हैं, जिनमें पिथागोर, हेराक्लितु तो भगवान् के समय जीवित थे, सुकरात, देमोक्रितु, अफलातूँ, अरस्तू उनसे थोड़ा बाद में हुए। इन यवन दार्शनिकों ने गम्भीर चिन्तन किया; किन्तु हेराक्लितु को छोड़ सभी शाश्वतवाद—नित्यवाद—से ऊपर नहीं उठ सके। वर्तमान का उन्हें हद से ज्यादा मोह था। यही कारण था कि वे भविष्य को भी उससे बाँध रखना चाहते थे। हेराक्लितु अवश्य बुद्ध की भाँति जगत् को किसी दो क्षण भी वैसा ही नहीं मानता था; किन्तु इसमें उसका एक वैयक्तिक स्वार्थ था।"

"दर्शन-विचार में वैयक्तिक स्वार्थ !"

"पेट सभी के पास होता है, कुमार ! उस वक्त हमारे एन्थेस नगर में गण—बिना राजा का राज्य—था ! पहले हेराक्लितु के परिवार की तरह के बड़े-बड़े सामन्त गण-शासन के सूत्रधार थे, पीछे उनको हटाकर व्यापारियों—सेठों—ने शासन-सूत्र अपने हाथ में लिया। इस अवस्था से हेराक्लितु असन्तुष्ट था। वह परिवर्तन चाहता था; किन्तु आगे जाने के लिए नहीं, बल्कि पीछे की ओर लौटने के लिए।"

"हमें परिवर्तन चाहिए; किन्तु आगे बढ़ने के लिए, पीछे लौटने के लिए नहीं, मैं समझता हूँ, भदन्त ! अतीत मुर्दा है।"

"बिलकुल ठीक कहा, कुमार ! बुद्ध परिवर्तन चाहते थे, और बेहतर जगत् को लाने के लिए। भिक्षु-संघ को उन्होंने उसी भविष्य के जगत् के लिए एक नमूने के तौर पर पेश किया।"

"जहाँ जात-पाँत नहीं, जहाँ ऊँच-नीच नहीं।"

"जहाँ सबके लिए भोग समान है, जहाँ सबके लिए सेवा करना समान है। तुमने हमारे महास्थविर धर्मसेन को बाहर झाड़ू लगाते देखा होगा ?"

"वह काले-काले ?"

"हाँ, वह हममें सबसे श्रेष्ठ हैं। हम रोज पंच-प्रतिष्ठित से उनकी वन्दना करते हैं। सारे कोसल-देश के भिक्षु-संघ के वह नायक हैं।"

"सुना है, वह चण्डाल-कुल के हैं ?"

"भिक्षु-सघ कुल नहीं देखता, कुमार ! वह गुण देखता है। वह अपनी विद्या और अपने गुणों से हमारे नायक हैं, हमारे पिता हैं। उनके भिक्षा-पात्र में यदि पात्र चुपड़ने भर की भी कोई चीज मिल जाती है, तो वह बिना साथियों को दिये नहीं खाते। यही बुद्ध की शिक्षा है। पहनने के तीन कपड़ों, मिट्टी के भिक्षा-पात्र, सूई, जलछका, उस्तरा और कमरबन्द के सिवाय हमारी सारी चीजें संघ की हैं। यह घर, बाग, पंच, पीठ—सब संघ के हैं। हमारे किसी-किसी विहार में खेत भी हैं, वे भी संघ के हैं। संघ देख-सुनकर एक आदमी को भिक्षु बनाता है, किन्तु जो संघ में प्रविष्ट

हो गया—भिक्षु बन गया—वह सबके समान है।"

"इस तरह का संघ यदि सारे देश के लिए बनता!"

"वह कैसे हो सकता है, कुमार! राजा और धनी कब दूसरों को बराबर होने देंगे! भिक्षुओं ने एक दास को संघ में दाखिल कर लिया था। संघ में दाखिल होते ही वह अदास—सबके समान था; किन्तु जिसका वह दास था, उसने हल्ला मचाना शुरू किया। दूसरे दास-स्वामी भी उसके साथ शामिल हो गये। राजा स्वयं हजारों दासों के स्वामी होते हैं। वह भी अपनी सम्पत्ति पर इस तरह का प्रहार कैसे सह सकते! बुद्ध क्या करते, उन्होंने वचन दिया कि आगे से संघ दास को अपने भीतर नहीं लेगा। हमारा संघ विषमतापूर्ण समुद्र में एक छोटा-सा द्वीप है, इसीलिए वह सुरक्षित नहीं है, जब तक कि संसार में इस तरह की गरीबी, इस तरह की दासता है।"

* * *

शरत की पूनो थी। शाम से ही चन्द्रमा का थाल पूर्व क्षितिज पर उग आया था, और जैसे-जैसे क्षितिज पर फैली सूर्य की अन्तिम लाल किरणें आकाश छोड़ रही थीं, वैसे ही वैसे चन्द्रमा की शीतल श्वेत किरणें प्रसारित हो रही थीं। अश्वघोष अब अधिकतर प्रभा के घर पर रहा करता था। दोनों छत पर बैठे थे, उसी समय प्रभा ने कहा—"प्रियतम! मुझे सरयू की लहरें बुला रही हैं—वे लहरें, जिन्होंने सबसे पहले तुम्हारा स्पर्श मेरे पास पहुँचाया था, जिन्होंने हमें प्रेम-सूत्र में बाँधा था। तब से दो वर्ष हो गये, किन्तु वह दिन आज ही बीता मालूम होता है। हमने कितनी चाँदनी रातें सरयू की रेत पर बिताईं। वे कितनी मधुर होती हैं। आज फिर मधु चाँदनी है! प्रिय, चलो चलें सरयू के तीर।"

दोनों चल पड़े। धारा नगर से दूर थी। चाँदनी में चमकते सफेद बालू पर वे दूर तक चलते गये। प्रभा ने चप्पलों को हाथ में ले लिया था। उसे पैरों के नीचे दबती सिकता का स्पर्श सुखद लगता था। उसने अश्वघोष की कटि को अपने दोनों हाथों से लपेटकर कहा—"प्रिये! इस सरयू की सिकता का स्पर्श कितना आह्लादक है!"

"पैरों में गुदगुदी लगती है।"

"जिसमें हर्षातिरेक हो रोमांच हो उठता है। प्यारी सरयू सरिता!"

"मैं कई बार सोचता था, प्रिये! कि हम दोनों भाग चलें। भाग चलें उस देश में, जहाँ हमारे प्रेम से कोई ईर्ष्या करने वाला न हो। जहाँ तुम प्रेरणा दो, मैं गीत बनाऊँ और फिर वीणा पर हम दोनों गावें। यहाँ सिकता पर इस रात्रि में मैं अपनी वीणा नहीं ला सकता। लोग आ पहुँचेंगे। उनमें से कितनों की आँखें ईर्ष्या-कलुषित होंगी।"

"प्रिय! बुरा न मानना। मैं कभी-कभी सोचती हूँ; जब मैं न रही···"

अश्वघोष ने बांहों में कसकर प्रभा को छाती से लगा लिया और कहा—"नहीं प्रिये! कदापि नहीं। हम इसी तरह रहेंगे।"

"मैं दूसरे अभिप्राय से कह रही हूँ, प्रिय ! मान लो, तुम न रहे, मैं अकेली रह गई। दुनिया में ऐसा होता है कि नहीं ?"

"होता है।"

"अपनी बार तुम नहीं तिलमिलाये, घोष। तुम्हारे न रहने पर शोक का पहाड़ केवल मेरे ऊपर टूटेगा इसीलिए न ?"

"तुम मेरे साथ कितनी निष्ठुरता दिखला रही हो, प्रभा !"

प्रभा ने होंठों को चूमकर अश्वघोष को हर्षोत्फुल्ल करते हुए कहा—"जीवन की कई दिशाएँ होती हैं। सदा पूर्णिमा ही नहीं, अमावस्या भी आती है। मैं यही कह रही थी कि एक के अभाव में दूसरे को क्या करना चाहिये, तुम्हारे न रहने पर, जानते हो, मैं क्या करूँगी ?"

मुँह गिराकर लम्बी साँस ले अश्वघोष ने कहा—"कहो।"

"मैं अपने जीवन का हर्गिज अन्त न करूँगी। भगवान् बुद्ध ने आत्महत्या को मूर्खतापूर्ण निन्दनीय कर्म कहा है। तुमने देखा न मैंने इधर वीणा में बहुत सफलता प्राप्त की है।"

"बहुत। प्रभा ! कितनी ही बार तुम्हें वीणा देकर मैं निश्चिन्त हो गाता हूँ।"

"हाँ, तो उस उक्त मेरा अशाश्वत अश्वघोष मुझसे छिन जायगा; किन्तु मैं शाश्वत अश्वघोष—युग-युग के कवि—की आराधना करूँगी। तुम्हारी वीणा पर तुम्हारे गीतों को गाऊँगी, सारे जम्बूद्वीप में और उससे बाहर भी; जीवन-भर जब तक कि हमारा जीवन-प्रवाह किसी दूसरे देश-काल में साकार हो फिर न सम्मिलित हो जायगा। और मेरे न रहने पर तुम क्या करोगे, प्रियतम ?"

इन शब्दों को सुनकर अश्वघोष का अन्तस्तल से लेकर सारा शरीर काँप गया, जिसे प्रभा ने अनुभव किया। अश्वघोष बोलने का प्रयत्न कर रहा था किन्तु उसका कंठ सूख गया था और उसकी आँखें बरसना चाहती थीं। कुछ क्षण के प्रयत्न के बाद उसने क्षीण स्वर में कहा—"बड़ी निष्ठुरा होगी वह घड़ी ! किन्तु प्रभा ! मैं भी आत्म-हत्या न करूँगा। तुम्हारे प्रेम की प्रेरणा जो-जो गीत मेरे उर में पैदा करेगी, उन्हें मैं गाऊँगा जीवन के अन्त तक। मैं तुम्हारे शाश्वत अश्वघोष···"—अश्वघोष का कंठ रुद्ध हो गया।

"सरयू की धार सो रही हैं, प्रिये ! चलो, हम भी चलें।"

* * *

ग्रीष्म ऋतु थी। माता सुवर्णाक्षी बीमार हो गई। अश्वघोष दिन-रात माँ के पास रहता था। प्रभा भी दिन-भर वहीं रहती। चिकित्सा का कोई असर न हुआ, और सुवर्णाक्षी की अवस्था बिगड़ती ही गई। पूनो आई, दूध-सी चाँदनी छिटकी। सुवर्णाक्षी ने आज चाँदनी में ऊपर ले चलने को कहा। छत पर उनकी चारपाई पहुँचाई गई। उनका शरीर सिर्फ हड्डियों का कंकाल रह गया था। रह-रहकर अश्वघोष के हृदय में टीस लगती। माँ ने धीमे स्वर, किन्तु स्पष्ट अक्षरों में कहा—"पुत्र ! यह

चाँदनी कितनी सुन्दर है !"

उसी वक्त अश्वघोष के कानों में प्रभा के शब्द गूँजने लगे—"मुझे सरयू की लहरें बुला रही हैं।" उसका कलेजा सिहर उठा । माँ ने फिर कहा—"प्रभा कहाँ है, पुत्र ?"

"पिता के घर गई, माँ ! शाम तक तो यहीं थी।"

"प्रभा ! मेरी बेटी ! अच्छा पुत्र, उसे कभी न भूलना···"

शब्द समाप्त भी न होने पाये थे कि एक खाँसी आई, और दो हिचकियों के बाद सुवर्णाक्षी का शरीर निश्चल हो गया।

सुवर्णाक्षी गई। सुवर्णाक्षी-पुत्र का हृदय फटने लगा। वह रात-भर रोता रहा।

दूसरे दिन मध्याह्न तक वह माँ के दाह-कर्म में लगा रहा। फिर उसे प्रभा याद आई। वह दत्तमित्र-भवन गया। माँ-बाप समझते थे, प्रभा अश्वघोष के पास होगी। अश्वघोष का हृदय रात के प्रहार से जर्जर हो रहा था, अब और चिन्तित हो उठा। वह प्रभा के शयनकक्ष में गया। वहाँ सभी चीजें सँभालकर रखी हुई थीं। उसने पलंग पर फैलाई सफेद चादर को हटाया। वहाँ उसने अपने चित्र को देखा। प्रभा ने उसे एक आगन्तुक यवन चित्रकार से तैयार करवाया था, और इसके लिए अनिच्छावश अश्वघोष को कितने ही घण्टों बैठना पड़ा था। चित्र पर एक म्लान जूही की माला पड़ी थी। चित्र के नीचे प्रभा की मुद्रा से अंकित लपेटा ताल-पत्र लेख था। अश्वघोष ने उसे उठा लिया। रस्सी के बन्धन पर मुहर लगी काली मिट्टी अभी सूखी न थी। अश्वघोष ने रस्सी को काटकर प्रभा की मुहर लगी मिट्टी को रख लिया। लम्बे पत्ते को फैलाने पर प्रभा के सुन्दर अक्षरों में वहाँ पाँच पंक्तियाँ थीं—

"प्रियतम ! प्रभा विदाई ले रही है। मुझे सरयू की लहरों ने बुलाया है। मैं जा रही हूँ। तुमने मेरे प्रेम के लिए कोई वचन दिया है, याद है ? मैं प्रभा के चिर-तारुण्य, उसके सदा एक-से रहने वाले सौन्दर्य को दिये जा रही हूँ। अब तुम्हारी आँखों को पके बालों, टूटे दाँतों, वलित कटिवाली प्रभा कभी नहीं देखने को मिलेगी। मेरा प्रेम, यह शाश्वत यौवन तुम्हें प्रेरणा देगा। तुम उस प्रेरणा की अवहेलना न करना। प्रियतम ! यह न सोचना कि मैं तुम्हारे कुटुम्ब की कलह की चिन्ता कर आत्महत्या कर रही हूँ—सिर्फ तुम्हें काव्य-प्रेरणा देने के लिए मैं अपने अक्षुण्ण यौवन को प्रदान कर रही हूँ। प्रियतम ! प्रभा तुम्हारा अन्तिम मानस आलिंगन और चुम्बन कर रही है।"

कई बार आँखों से आँसुओं को पोंछकर अवश्घोष ने पत्र को समाप्त किया। उसके बाद पत्र उसके हाथ से गिर गया। वह खुद चारपाई पर बैठ गया। उसका हृदय सुन्न हो रहा था। हृदय की गति के रुकने की वह तन्मय हो प्रतीक्षा कर रहा था। वह मिट्टी की मूर्त्ति की भाँति शून्य आँखों से ताकता रहा। कितनी ही देर तक इन्तजार करने के बाद प्रभा के पिता-माता आये। उसकी उस अवस्था को देख वे बहुत शंकित हो गये। फिर पास में पड़े पत्र को उन्होंने पढ़ा। माँ के मुँह से चीत्कार निकली और वह धरती पर गिर पड़ी। दत्तमित्र नीरव अश्रुधारा बहाने लगे। अश्वघोष वैसी ही टकटकी लगाए

देखता रहा। प्रभा के माँ-बाप देर तक उसकी वह अवस्था देख चुपचाप चले गये। शाम हुई, रात आई; किन्तु वह वैसे ही बैठा रहा। उसके आँसू सूख गये और हृदय को काठ मार गया था। बड़ी रात गये वह वैसे ही बैठे-बैठे ऊँघकर लेट गया।

सवेरे जब प्रभा की माँ आई तो देखा कि अश्वघोष प्रकृतिस्थ हो किसी चिन्ता में बैठा है। माँ ने पूछा—"मन कैसा है?"

"माँ! अब मैं बिलकुल ठीक हूँ। प्रभा ने जो काम मुझे सौंपा है, अब मैं वही करूँगा। मैंने नहीं समझा था, किन्तु प्रभा जानती थी। वह मेरे कर्तव्य को बतला गई है। आत्महत्या नहीं, प्रभा ने आत्मदान दिया। हाँ, उस आत्मदान को आत्म-हत्या में बदलना मेरे हाथ में है; किन्तु मैं ऐसा कृतघ्न नहीं हो सकता।"

माँ ने अश्वघोष के भाव को समझा। अश्वघोष उठ खड़ा हुआ। माँ ने देखकर पूछा—"कहाँ चले, बेटा?"

"भदन्त धर्मरक्षित से मिलना चाहता हूँ और सरयू को देखना भी।"

"भदन्त धर्मरक्षित नीचे बैठे हैं, और सरयू देखने मैं भी चलूँगी।" कहते-कहते उसका गला भर आया।

अश्वघोष ने नीचे जा भदन्त धर्मरक्षित को पंचप्रतिष्ठित से वन्दना करके कहा—"भन्ते! मुझे अब संघ में शामिल कीजिये।"

"वत्स! तुम्हारा शोक दारुण है।"

"दारुण है; किन्तु मैं उसके कारण नहीं कह रहा हूँ। प्रभा ने मुझको इसके लिए तैयार किया है। मैं जल्दी नहीं कर रहा हूँ।"

"तो भी तुम्हें कुछ दिन ठहरना होगा, संघ इतनी जल्दी नहीं करेगा।"

"मैं प्रतीक्षा करूँगा, भन्ते! किन्तु संघ की शरण में रहकर।"

"पहले तुम्हें अपने पिता से आज्ञा लेनी होगी। माता-पिता की आज्ञा के बिना संघ किसी को भिक्षु नहीं बनाता।"

"तो मैं आज्ञा लेकर आऊँगा।"

अश्वघोष घर से निकला। माँ उसके स्वस्थ मस्तिष्क-जैसे वचन सुनकर भी शंकित हृदया थीं, इसलिए वह भी पीछे-पीछे चलीं। सरयू पर नाव कर दोनों ने दिन-भर नीचे की ओर धार को ढूँढा, किन्तु कुछ पता नहीं मिला। अगले दिन और नीचे गये, किन्तु कहीं कुछ न था।

अश्वघोष ने घर जा पिता से भिक्षु होने के लिए आज्ञा माँगी, किन्तु इकलौते बेटे को वह क्यों आज्ञा देने लगे! फिर उसने कहा—"मैं माँ और प्रभा के शोक से पीड़ित हो ऐसा नहीं कर रहा हूँ, तात! मैंने अपने जीवन के लिए जो कार्य चुना है, उसका यही रास्ता है। तुम देख रहे हो मेरे स्वर, मेरी चेष्टा में किसी प्रकार के चित्त-विकार की छाप नहीं है। मुझे इतना ही कहना है—यदि मुझे जीवित रखना चाहते हो, तो आज्ञा दे दो, तात!"

"अच्छा तो कल शाम तक सोचने का अवसर दो।"

"मैं सात दिन तक इन्तजार कर सकता हूँ, तात !"

दूसरे दिन शाम को पिता ने आँखों में आँसू भरकर भिक्षु बनने की आज्ञा दे दी।

साकेत के आर्य सर्वास्तिवाद संघ ने अश्वघोष को भिक्षु बनाया। महास्थविर धर्मसेन उनके उपाध्याय और भदन्त धर्मरक्षित आचार्य बने। भदन्त धर्मरक्षित उसी समय नाव से पाटलिपुत्र (पटना) जाने वाले थे, उनके साथ ही अश्वघोष ने भी साकेत छोड़ा।

* * *

भिक्षु अश्वघोष को पाटलिपुत्र के अशोकाराम (मठ) में रहते दस साल हो गये थे। उसने बौद्ध-धर्म के साथ बौद्ध-दर्शन तथा यवन-दर्शन का गम्भीर अध्ययन किया। मगध के महासंघ के विद्वानों में अश्वघोष का बहुत ऊँचा स्थान था। इसी समय पश्चिम से शक सम्राट् कनिष्क पूर्व की विजय करता पाटलिपुत्र पहुँचा। पाटलिपुत्र और मगध इस वक्त बौद्ध-धर्म के प्रधान केन्द्र थे। कनिष्क की बौद्ध-धर्म में भारी श्रद्धा थी। उसने भिक्षु-संघ से गन्धार ले जाने के लिए एक योग्य विद्वान् माँगा। संघ ने अश्वघोष को प्रदान किया।

राजधानी पुरुषपुर (पेशावर) में जाकर अश्वघोष ने अपने को एक ऐसे स्थान में पाया, जहाँ शक, यवन, तरुष्क (तुर्क), पारसी तथा भारतीय संस्कृतियों का समागम होता था। यवन-नाट्यकला को अश्वघोष पहले ही भारतीय साहित्य में स्थान दिला चुके थे। यवन-दर्शन के गम्भीर विवेचन के बाद उसने उसकी कितनी ही विशेषताओं, विश्लेषण-शैली तथा अनुकूल तत्त्वों को ले भारतीय दर्शन—विशेषकर बौद्ध-दर्शन—को यवन-दर्शन की देन से समृद्ध किया। अश्वघोष ने बौद्धों के लिए यवन-दर्शन से विचार लेने का रास्ता खोल दिया। फिर तो दूसरे भारतीय विचारक भी मजबूर हुए, और वैशेषिक तथा न्याय इस रास्ते में सबसे आगे बढ़े—परमाण, सामान्य, द्रव्य, गुण, अवयवी आदि तत्त्व इन्होंने यवन-दर्शन से लिए।

प्रभा ने हृदय को विशाल कर दिया था, इसलिए भदन्त अश्वघोष को निज-पर का विचार नहीं था। प्रभा की प्रेरणा से उसने अनेक काव्य, नाटक कथानक लिखे, जिनमें कितने ही लुप्त हो गये। फिर भी प्रकृति उससे विशेष प्रसन्न मालूम होती है, तभी तो मध्य-एशिया की महाबालुका-राशि गोबी ने सत्रह सौ वर्ष बाद उनके 'सारिपुत्र-प्रकरण' (नाटक) को प्रदान किया। उसके 'बुद्ध-चरित' और 'सौन्दरानन्द' अमर काव्य हैं। उसने प्रभा के दिये वचन को अच्छी तरह निबाहा, और प्रभा के अम्लान सौन्दर्य ने उसके काव्य को सुन्दरतम बनाया; जन्मभूमि साकेत और माता सुवर्णाक्षी को उसने कभी विस्मृत नहीं होने दिया और अपनी कृतियों में सदा अपने लिए 'साकेतक आर्यसुवर्णाक्षी-पुत्र अश्वघोष' लिखा।

१८

देवदसी

रांगेय राघव



बहुमुखी प्रतिभा के धनी डा० रांगेय राघव जन्म और कुल से दक्षिणात्य हैं। आपकी लिखने की गति बड़ी तीव्र है। उपन्यास, कहानी, कविता, नाटक, आलोचना, इतिहास—साहित्य के सभी अंगों को आप अपनी प्रखर लेखनी से समृद्ध कर रहे हैं।

अब तक कई दर्जन पुस्तकें प्रकाश में आ चुकी हैं। अनेक प्रकाशन के पथ पर हैं। कई पुस्तकों पर पुरस्कार भी मिल चुके हैं। आप कुशल चित्रकार भी हैं।

रचनाएँ

'कब तक पुकारूँ', 'पाँच गधे', 'छोटी-सी बात', 'पथ का पाप', 'पक्षी और आकाश', 'मेरी प्रिय कहानियाँ', 'राई और पर्वत', 'बन्दूक और बीन', 'ऐयाश मुर्दे', 'अँधेरे के जुगनू', 'रूपछाया', 'हुजूर', 'विषाद-मठ', 'मुर्दों का टीला', 'सीधा-सादा रास्ता', 'बोलते खण्डहर', 'अँधेरे की भूख', 'प्रतिदान', 'चीवर', 'अंगारे न बुझे', 'इंसान पैदा हुआ', 'बौने और घायल फूल', 'धूनी और धुआँ', 'यशोधरा जीत गई', 'देवकी का बेटा', 'रत्ना की बात', 'लोई का ताना', आदि।

उस समय मन्दिर निर्जन हो चुका था। निस्तब्धता सनसना रही थी। बाहर घोर अन्धकार था। आकाश मे बिजली कड़क रही थी। उस युवक ने तलवार को टेका और उठ खड़ा हुआ। भीतर सब काम कर चुकने पर पुजारी ने सोचा कि अब शीघ्र ही उसे प्रतिमा के चरणों पर शीश रखकर सोने जाना चाहिए।

पल्लव-राज के इस विशाल मन्दिर में कामाक्षी का यह भव्य स्वरूप देखने के लिए दक्षिण पथ के अनेक भागों से लोग आ-आकर एकत्रित होते थे। तीन-सौ वर्ष पूर्व सातवाहनों के अन्त पर सम्राट् विष्णुगोप ने पल्लव साम्राज्य को स्वतन्त्र कर दिया था। उनके उत्तराधिकारी आज कदम्बों और गांगेयों के भी प्रभु थे। पेलार नदी के पास कांची का भव्य नगर भुवन-विख्यात था। राजप्रासाद के विराट् अलिन्दों में दिन में अगरु-धूप जलता, रात्रि में दीपाधारों से प्रकाश जगमगाता। बाजार-हाट में सुदूर जावा-सुमात्रा के व्यापारी आ-आकर बैठते। समुद्र-तीर पर अनेक सफेद पाल वाले जहाज खड़े रहते, प्रकाश-स्तम्भों से रात को किरणें फूट-फूटकर अथाह सागर की चंचल जलराशि पर खेल उठतीं। महेन्द्र के समान विक्रमी सम्राट् सिंहविष्णु के चरणों पर आज प्राचीन चोल और पाण्ड्य के रत्नजटित मुकुट रखे थे, चालुक्यराज ने मैत्री का कर बढ़ा दिया था। सम्राट् सिंहविष्णु युवावस्था को आज से अनेक वर्ष पूर्व पार कर चुके थे। राजकुमार महेन्द्र वर्मा की सन्त अप्पारस्वामी के प्रति श्रद्धा होना प्रजा में प्रसिद्ध हो चुका था, क्योंकि वह पिता की आज्ञा के बिना ही नगर के ईशान कोण में शैव मन्दिर बनवा रहे थे।

पुजारी रत्नगिरि ने इधर-उधर देख भक्ति से प्रतिमा को प्रणाम किया और सोने चला गया। प्रायः आधी रात बीत गयी। आकाश में बादल गरज रहे थे। मन्दिर का विशाल प्राङ्गण पानी से भीग गया था। उसी समय बिजली बड़े वेग से कड़क उठी। मन्दिर का विशाल गोपुर अन्धकार में एक बार चमक उठा। युवक तलवार लिए कुछ देर खड़ा रहा, फिर बाह्य परिवेष्टि को लाँघकर भीतर अलिन्द में आ गया। वह एक स्तम्भ के पीछे हो गया और अन्धकार में कुछ देखने का प्रयत्न करने लगा।

किसी ने उसके कन्धे पर हाथ रखकर धीरे से कहा—"आ गये, रंगभद्र ?"

रंगभद्र ने मुड़कर कहा—"तुम बुलातीं और मैं न आता, रुक्मिणी ! देवदासी का कहना तो भगवान् भी नहीं टाल सकते, फिर मैं तो साधारण मनुष्य हूँ।"

"तुम सचमुच बड़े साहसी हो, कुमार !" देवदासी ने धीरे से कहा। युवक ने उसका यह दीर्घ निश्वास भी सुना। उसने उद्वेग से उसका हाथ पकड़ लिया और

कहा—"रुक्मिणी, मैं कब तक तुम्हारी अवहेलना में तड़पता रहूँगा ? कब तक मैं भविष्य के सागर में लहरों की दया पर अपना पोत भटकाता रहूँगा ? आज प्रायः एक वर्ष बीत गया। अब मुझे फिर सिंहल लौट जाना होगा। अब मैं सिंहल के बहुमूल्य मोती काशी भेजने का व्यापार करना चाहता हूँ। चलोगी मेरे साथ ?"

देवदासी ने कुछ नहीं कहा। वह चुपचाप देखती रही। युवक ने फिर कहा—"सुन्दरी, तुम किस चिन्ता में डूब गयी हो ! धन की कमी नहीं, धर्म की कमी नहीं, अधिकार की कमी नहीं, प्रेम की कमी नहीं, और तुम रूपशालिनी हो तो फिर मुझे रूप की कमी नहीं—फिर तुम्हें कौन-सी चिन्ता खाये जा रही है ?"

देवदासी काँप उठी। उसने धीरे से कहा—"धीरे कुमार, धीरे; कहीं देवता न सुन लें। मैं जाती हूँ।"

वह सचमुच एकदम चली गयी और युवक के कंठ में उसका स्वर अटक कर रह गया।

मन्दिर का विशाल अलिन्द सूना हो गया। युवक लौट चला।

* * *

दूसरे दिन पुजारी ने पूजा समाप्त करके बाह्य प्रवेश-द्वार के पास आकर देखा—सूर्यमणि भक्ति से नमस्कार कर रही थी। उसने गद्‌गद् होकर उसे आशीर्वाद दिया। सूर्यमणि के श्याम मुख पर उस स्वर्ण मुकुट की हल्की प्रभा छिटककर उसे किंचित् हरिताभ बना रही थी। उसके सफेद चीनांशुकों में वह सुघर अंग-संगठन किसी चतुर शिल्पी की कला का अद्‌भुत प्रमाण लगता था। रत्नों और आभूषणों से लदी वह कुमारी, मानसरोवर के मांसल इन्दीवर-सी पुलक उठी। उसके विशाल नयनों की कोरों में शतदल के काँपते दलों की लालिमा, चपल चितवन की विद्युत्-वाहिनि तृष्णा को सहला देती थी। उसने कहा—"देव, आप आजकल मुझे कभी रामायण नहीं सुनाते ? पहले तो आपका स्वर गूँजता था; रुक्मिणी नृत्य करती थी; समस्त मन्दिर गूँज उठता था, माता कामाक्षी की प्रतिमा के अधरों पर मुसकान छा जाती थी···"

"बेटी", पुजारी ने मन्द-स्मित से कहा—"रत्नगिरि तो तत्पर है, किन्तु तू जब से राजमाता की सेवा में जाने लगी है तब से तुझे देव-सेवा का समय ही कहाँ मिलता है ? अब तो तू सेनापति के पुत्र धनञ्जय की पत्नी होने जा रही है न ?"

"हाँ, भगवन् !" सूर्यमणि ने अपने पाँव के अँगूठे को लाज से देखते हुए कहा—"लेकिन मैं आज रामायण सुने बिना नहीं जाऊँगी।"

"अरे, तेरा हठ नहीं गया, पगली !" रत्नगिरि ने हर्षित हो कहा। और फिर उसने आवाज दी—"रुक्मिणी !"

रुक्मिणी स्तम्भ के पीछे से निकलकर आ गयी।

वृद्ध पुजारी ने कहा—"बेटी, सूर्यमणि रामायण सुनना चाहती है।"

"ओह !" रुक्मिणी ने पुलकते हुए कहा—"मुझसे ही क्यों न कह दिया ? अभी लो।"

कुछ ही देर बाद उस अलिन्द में लोगों की भीड़ इकट्ठी हो गयी। सूर्यमणि ने देखा—धनञ्जय भी खड़ा था।

वृद्ध रत्नगिरि ने स्वस्तिवाचन किया और मृदङ्ग पर थाप पड़ी। उधर देवदासी रुक्मिणी का नूपुर बज उठा। द्रिम-द्रिम के उस अप्रतिहत नाद पर यौवन से स्फीत कमल-चरण का मंथर चलन स्तम्भों से टकराकर समस्त अन्तराल में काँप उठा। युवक धनञ्जय के नयन गड़ गये। देवदासी आज मेनका-सा नृत्य कर रही थी। रत्नगिरि गाने लगे। उनके गम्भीर स्वर से लोगों के हृदयों में एक पवित्र भावना छा गयी। नर्तकी के अंगचालन का मादक उल्लास धनञ्जय की धमनी-धमनी में डोल उठा। सूर्यमणि ने एकाएक दृष्टि उठाकर देखा—धनञ्जय मन्त्र-मुग्ध-सा लोलुप दृष्टि से देवदासी के उच्छृङ्खल यौवन को खा रहा था। वह चञ्चल हो गयी। शंका और ईर्ष्या ने उसके हृदय पर आघात किया। देवदासी नृत्य करती रही, रत्नगिरि गाता रहा और सूर्यमणि ने देखा, धनञ्जय के नयनों के पक्ष्म गिरना भूल गये थे। वह धीरे से उठी और धनञ्जय के पास गयी। धनञ्जय ने उसे मुड़कर भी नहीं देखा। सूर्यमणि के लिए समस्त सौन्दर्य विष हो गया। वह एकाएक चिल्ला उठी—"रोक दो यह नृत्य! यह नृत्य रोक दो! नहीं, नहीं, यह नृत्य नहीं है···!"

देवदासी विभोर होकर नाच रही थी। एकाएक उसके पैर ठिठक गये, जैसे किसी ने उस पर वज्र का आघात किया हो। उसने देखा, सूर्यमणि उसे ज्वलन्त नेत्रों से देख रही थी। रत्नगिरि गाना रोककर उठ खड़ा हुआ। एकत्रित जनसमुदाय कोलाहल करने लगा।

देवदासी क्रोध से पुकार उठी—"देवदासी का अपमान करना देवता का अपमान करना है, मूर्ख लड़की! यदि तेरे हृदय में पाप है तो तू मन्दिर छोड़कर चली जा।"

इससे पूर्व कि रत्नगिरि कुछ कहे रुक्मिणी परिक्रमा की ओर चल पड़ी। उन्मत्त-सा धनञ्जय उसके पीछे चल दिया। सूर्यमणि कटे वृक्ष-सी भूमि पर गिरकर रोने लगी। समुदाय तितर-बितर होने लगा। रत्नगिरि कुछ भी नहीं समझा। इस प्रकार अकारण व्याघात से उसका चित्त सूर्यमणि से उदासीन हो गया। वह उठकर भीतर चला गया। सूर्यमणि स्तम्भ के किनारे रोती रही।

* * *

वृद्ध सिन्धुनाद कवि था। सूर्यमणि उसकी एकमात्र पुत्री थी। जब वह गाता था साम्राज्य का बड़े-से-बड़ा कठोर हृदय सेना का उच्च पदाधिकारी झूम उठता था। उसके गीतों को आज पल्लव ही नहीं, चोल और पाण्ड्य के घर-घर की स्त्रियाँ गातीं, पुरुष मुग्ध होकर सुनते और सम्राट् सिंहविष्णु उसे अपने भाई के समान प्यार करते। देवदासियाँ उसके गीतों पर जिस तन्मयता से नृत्य करतीं उसे देखकर लगता जैसे वे सचमुच देवकन्या हों। उसके गीतों की प्रवाहमान लय प्राची से पश्चिम तक गगन में अनन्त वर्णों से भरी नीलिमा की छाया-सी काँपती रहतीं और प्रेम और करुणा का वह

स्रोत कहीं भी समाप्त नहीं होता, कहीं भी जैसे विश्रान्ति को आवास न मिलता।

सिन्धुनाद इस समय वीणा के तारों पर अंगुलियाँ फेरकर यौवन के खोये हुए स्वर का उत्ताल ढूँढ रहे थे। उनके शरीर पर बहुमूल्य रेशम मन्द-मन्द वायु में फहरा रहा था। उनके प्रकोष्ठ की दीवारों पर सुदूर ताम्रलिप्ति के प्रसिद्ध चित्रकारों ने अद्भुत चित्र अंकित किये थे। स्फटिक के स्तम्भों पर दीपों का झिलमिल प्रकाश प्रतिध्वनित हो रहा था, जैसे बादलों में बिजली चमक रही थी। मादक सुरभि-वाही समीर जब अगरुधूम की कवरी खोलकर नृत्य करने लगता था तो दीवारों पर छायाएँ मुद्रा बनाने लगतीं और वीणा के करुण स्वर रुमझुम करते वायु की लहर-लहर पर गा उठते।

सिन्धुनाद इस समय दमयन्ती का विलाप गा रहे थे। उनकी यह कविता अजर-अमर हो जायेगी। आज उनके भाव सीमा में नहीं थे। नल चला गया है। दमयन्ती पेड़-पेड़ से पूछ रही है, मृग-मृगी कातर होकर रो पड़े हैं, आकाश में प्रतिपदा का चन्द्र उग आया है, सघन वनस्पति पर उसकी विलोल-मुखरा किरणें काँप रही हैं जैसे सागर पर फेन काँप रहे हों, जैसे श्यामा सुन्दरी के कर्णफूलों की आभा से कपोलों पर प्रकाश रणरण करता अवगुण्ठन खींच रहा हो।

सिन्धुनाद तन्मय होकर विभोर हो गये। एकाएक भारी-भारी श्वास लेती सूर्यमणि ने प्रवेश किया और चुपचाप पास बैठकर सुनने लगी।

दमयन्ती उस समय आकाश के तारों से पुकार-पुकारकर पूछ रही थी—'हे नील असीम के बुद्बुदों! हे अनन्त कवरी के शोशफूलों! कहाँ है वह मेरे हृदय की एकमात्र सान्त्वना?'

सूर्यमणि रो उठी। वृद्ध का स्वप्न टूट गया। गीत के आवर्त्तों में पड़कर सूर्यमणि के टूटे प्यार की भग्न नौका झटके खाने लगी। वह पिता की गोद में सिर रखकर रोने लगी। वृद्ध ने एक हाथ से वीणा को हटा दिया और फिर उसने कहा—"क्या हुआ वत्से?" पहले उसने समझा शायद गीत को सुनकर रो रही है। सूर्यमणि ने कुछ नही कहा। वह रोती रही। उसके मुख की पत्र-लेखा बिगड़ गयी। वृद्ध ने उसका सिर उठाया। वेदना से उसका मुख कातर हो उठा था। वृद्ध का हृदय विह्वल हो उठा। उसने कहा—"पुत्री, तुझे किस बात का शोक है? मैंने आज तक कभी तेरी इच्छा के विरुद्ध कोई कार्य नहीं किया। आज तक तू ही मेरे जीवन का एकमात्र सहारा रही है। फिर तेरे नयनों में यह व्याकुल अश्रु किसलिए! करुण रात्रि की भाँति तेरे इन पङ्कज दलों पर यह नीहार-कण क्यों?"

सूर्यमणि ने कुछ उत्तर नहीं दिया। वह रोती रही। उस समय कवि को ऐसा प्रतीत हुआ जैसे साक्षात् कामाक्षी आज गलपयित कण्ठ से उच्छ्वास रुद्ध-सी आर्त्तमना सिसक उठी थी। उसके नयनों में आँसू छा गये। देर तक दोनों कुछ न बोले। सिन्धुनाद अपनी पुत्री के सिर पर हाथ फेरते रहे, जैसे उन्होंने कविता को सहला दिया था। सूर्यमणि के सघन सुचिक्कण केशों पर वृद्ध का वात्सल्य से भरा आर्द्र श्वास ऊष्मा से भरकर बिखर गया। सूर्यमणि का हृदय उद्वेग से बार-बार ठोकर खाकर

गिर जाता और आँसू बह-बह आते।

वृद्ध ने आन्दोलित होकर कहा—"सूर्ये, कह न ? क्या कष्ट है तुझे, जो पावस की नदी की भाँति तेरे आँसू अज्ञातवास करने निकले जा रहे हैं ?"

सूर्यमणि ने सिर उठाया। आँखों में आँसू चमक रहे थे, जैसे हीरक के चषक में वारुणी छलक रही थी। डबडबाते अश्रु प्रभात के उज्ज्वल प्रकाश के समान काँप रहे थे अथवा जैसे सीप में मोती जगमगा उठे हों।

"सूर्यमणि !" वृद्ध ने फिर कहा—"पल्लव के इस समुद्र पर्यन्त साम्राज्य में मैं तेरे अतिरिक्त किसी को भी इतना भाग्यशाली नहीं गिनता था। आज तेरी आँखों में यह अश्रु क्यों ? सिन्धुनाद ने वही किया जो तूने चाहा। जिसके लिए राजकुमारियाँ लालायित थीं उस कामदेव के सदृश लावण्य-मनोहर धनञ्जय की तू पत्नी होने वाली है, फिर तुझे कैसा दुःख ?"

सूर्यमणि ने धीरे से कहा—"पिता, वह मेरी उपेक्षा कर रहा है। आज देवमन्दिर में एक साधारण नर्त्तकी के पीछे पागल-सा घूम रहा था। मैं हृदय की साक्षी करके कहती हूँ, उसने मुझे एक बार भी मुड़कर नहीं देखा।"

"यह नहीं हो सकता, सूर्यमणि, यह नहीं हो सकता !" वृद्ध सिन्धुनाद उठ खड़े हुए। "किन्तु", उन्होंने कहा—"प्रेम में बल नहीं चल सकता। मैं जानता हूँ धनञ्जय युवक है। यौवन प्रेम के अतिरिक्त लोभ में भी पड़ सकता है। किन्तु बल-प्रयोग भी तो नहीं किया जा सकता। मैं उसे समझाऊँगा पुत्री, इतनी व्याकुल न हो।"

"नहीं पिता", उच्छ्वसित सूर्यमणि ने कहा—"नर्त्तकी मुझसे भी सुन्दर है। उसका रंग तुहिन-सा श्वेत, कमल-सा लालिम, रेशम-सा चिकना है और सागर-सा गम्भीर रूप है। उसमें अनावृत यौवन है, मादकता में वह मेनका-जैसी है। उसके नयनों में त्रिभुवन काँपते हैं, मेखला की प्रभा से उसकी मन्द-मन्द गति में भुवनमोहिनी वशीकरण की शक्ति आ जाती है। उसकी कोमल बाहु जब नृत्य करने में लचकती हैं तब स्वर्ग का सुख जैसे तुला पर टँग जाता है। उसके केशों की सुरभि से देवमन्दिर कमल-वन की भाँति सुगन्धित रहता है, उसकी मांसल गरिमा पर चीनांशुक ऐसे दिखायी देता है जैसे शरद् के प्रसन्न आकाश में धवल स्वर्ग-गंगा का मुखरित प्रवाह हो···"

सिन्धुनाद हठात् बोल उठे—'सूर्यमणि, वह कौन है ?"

सूर्यमणि ने पराजित स्वर में कहा—"पिता, वह देवदासी रुक्मिणी है।"

"देवदासी रुक्मिणी !" उनके मुख से आश्चर्य से निकल गया।

"हाँ, पुजारी रत्नगिरि की पुत्री रुक्मिणी।"

"ओह !" कहकर कवि सिन्धुनाद बैठ गये जैसे एकाएक चलते-चलते महानद थम जाय और समस्त लहरों का कलकल नाद क्षण-भर के लिए रोककर स्तब्ध हो जाय। उन्होंने कहा—"सूर्यमणि, तू जा। मुझे सोचने दे।"

सूर्यमणि चकित-सी लौट आयी। वृद्ध सिन्धुनाद को कुछ भी नहीं सूझा।

वह चुपचाप वैसे ही बैठे शून्य दृष्टि से सामने जलते दीपाधार में काँपती शिखाओं को देखते रहे।

* * *

रात्रि के निरावण नीलाकाश में सहस्रों नक्षत्र टिमटिमाने लगे। पुजारी रत्नगिरि सोच में पड़ गया। उसके वृद्ध मुख पर चिन्ता की रेखाएँ खिंच गयीं। कुछ देर वह टहलता रहा। वृद्ध सिन्धुनाद ने कहा—"तुम जानते हो रत्नगिरि, सब कुछ जानते हो। पर देवदासी के प्रति धनञ्जय का हृदय आकर्षित है यह तुम भी नहीं जानते, मुझे इसका विस्मय है।"

"तुम भी वृद्ध हो गये हो, सिन्धुनाद! जीवन-भर जिसने अटूट विश्वामित्र-सा दर्प कभी नीचा नहीं होने दिया, जिसके पवित्र जीवन से संसार विस्मित हो उठा था, जिसके सामने सम्राट् सिंहविष्णु एक साधारण नागरिक की भाँति सिर झुकाकर खड़ा रहता है उसकी बात पर तुम सन्देह कर रहे हो? जिसने तुम्हारे जीवन के महानतम पाप को छिपाने के लिए अपने युग-युग के संचित तप और यश को ठुकरा दिया, जिसने ब्रह्मचारी होकर भी केवल तुम्हारी मित्रता के लिए रुक्मिणी को अपनी पुत्री कहकर प्रसिद्ध कर दिया, उसकी बात पर तुम अविश्वास कर रहे हो?"

सिन्धुनाद ने कम्पित कण्ठ के कहा—"मित्र, यह तुम क्या कह रहे हो?"

रत्नगिरि ने कहा—"तुम मेरे बाल-सखा ही नहीं, गुरुभाई भी हो। तुम कवि हो। सौन्दर्य को छलना ही तुम्हारे अन्तस्तल की अन्तिम प्रेरणा है। जिस दिन तुमने राजकुमारी इन्दिरा को देखा था उसी दिन मैंने तुमसे कहा था कि तुम भूल कर रहे हो। किन्तु तुमने कुछ भी नहीं सुना। आज से बीस वर्ष पूर्व जब तुम रुक्मिणी को गोद में लेकर आये थे मैंने उसे बिना हिचकिचाये गोद में उठा लिया था। रामकुमारी इन्दिरा आज राजमाता इन्दिरा है। आज संसार उसके पुण्य की गाथा गा रहा है। वह नहीं जानती कि उसका पाप आज भी जीवित है। उससे कह चुका हूँ कि रुक्मिणी मर चुकी है। किन्तु सिन्धुनाद, आज जब वह पाप मानव-सत्ता के परम पुण्य के रूप में मुझे एकमात्र सान्त्वना दे रहा है, तुम उस पर लांछन लगा रहे हो? रुक्मिणी की पवित्रता तुषारधौत शतदल के समान है, देवता में उसकी भक्ति सुमेरु के समान है। उसने अपना तन-मन-धन केवल देवता की सेवा में अर्पित कर दिया है। वह मनुष्य से प्रेम नहीं कर सकती। मैं उसे नहीं दे सकता। देवी कामाक्षी की शपथ है, मैं उसे नहीं दे सकता।"

"तब तो सूर्यमणि रो-रोकर मर जायगी!" सिन्धुनाद ने करुण स्वर से कहा—"बोलो रत्नगिरि, मेरा इस संसार में और कौन है? किसलिए मैं इतनी माया-ममता को परवश-सा आज भी सहेजे बैठा हूँ। यश नहीं चाहिये, धन नहीं चाहिये। सांसारिक भोगों से मैं तृप्त हो चुका हूँ। देवदासी रुक्मिणी को कुछ दिन के लिए तुम छिपा नहीं सकते? धनञ्जय उसके पीछे पागल हो रहा है। यदि यह दीपशिखा उसके सामने रहेगी तो वह शलभ की भाँति परिभ्रमण करके अपने पंख जला लेगा। देवदासी से कभी भी

उसका विवाह नहीं हो सकता। फिर सूर्यमणि के जीवन पर आघात किसलिए ?"

रत्नगिरि गम्भीर स्वर से चिल्ला उठा—"सिन्धुनाद, रुक्मिणी भी तुम्हारी पुत्री है। क्या तुम एक पुत्री के लिए दूसरी का अहित करना चाहते हो ? जब संसार में तुम्हें राजकुमारी इन्दिरा से बढ़कर कुछ भी नहीं था उस समय रुक्मिणी ही तुम्हारी सन्तान थी। क्या अब तुमको उससे तनिक भी स्नेह नहीं ? क्या संसार के नियमों में तुम्हारा हृदय इतना कायर हो गया है कि यदि संसार नहीं कह सकता तो तुम भी उसे पुत्री नहीं मान सकते ?"

सिन्धुनाद उद्भ्रान्त से इधर-उधर घूमने लगे। उनके मुख पर आशंका काँप रही थी। वह दो पाषाणों के बीच में भिंच गये थे। उन्होंने मुड़कर कहा—"तो देवदासी को मुझे दे दो। मैं साम्राज्य के नियमों को ठोकर मारकर, देवता का रत्नगिरि, अपमान करके, अपने प्राणों का मोह छोड़कर उसे अपनी पुत्री घोषित करूँगा और उसका कहीं विवाह कर दूँगा।"

रत्नगिरि ने धीरे से कहा—"यह नहीं हो सकता, सिन्धुनाद !"

"तुम डरते हो, रत्नगिरि ?" सिन्धुनाद ने आगे बढ़कर कहा—"राजमाता इन्दिरा का सतीत्व डूब जायगा ? पांड्य, चोल और चालुक्य देशों में पल्लवराज के कुटुम्ब की निन्दा के गीत गाये जायेंगे ? सिन्धुनाद का पाप प्रकट हो जायगा ? रत्नगिरि की घोर मिथ्या सूर्य की तरह जगमगा उठेगी, इसलिए ?"

"नहीं", रत्नगिरि ने कहा—"रुक्मिणी फिर से पाप में लिप्त नहीं हो सकती। वह देवता को निष्काम रूप से अर्पित हो चुकी है। वह लौटाई नहीं जा सकती। उसका जीवन धर्म का एक महान् छन्द है, उसको अपौरुषेय कहकर ही गाया जा सकता है। वह कोई साधारण हाटों में नाचने वाली स्त्री नहीं है, वह कलाओं में पारङ्गत होकर पुरुषों से पुष्कल के लिए विलास करने वाली गणिका नहीं है। वह उत्सर्ग कर चुकी है अपना स्त्रीत्व, अपना मातृत्व, आजन्म कुमारी रहने के लिए। वह नहीं लौट सकती। वह देवता की सम्पत्ति है। सिन्धुनाद, तुम कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का भेद नहीं समझ पा रहे हो। तभी तुम कविता का प्रथम चरण प्रेम भूल गये हो। जाओ, लौट जाओ ! देवदासी तुम सबसे अस्पृश्य आकाश-मन्दाकिनी का कमल है। उसे तुम नहीं पा सकते।"

सिन्धुनाद आर्त्त-से बैठ गये। उनसे कुछ भी नहीं कहा गया। उन्हें चारों ओर अँधेरा-ही-अँधेरा छाता हुआ दिखने लगा। उनके सामने सूर्यमणि का आतुर स्वरूप बार-बार घूम गया, जो उनकी प्रतीक्षा करती होगी, जिसे नहीं मालूम कि रुक्मिणी उसी की बहन है। जिस पिता की कीर्ति से आज पल्लव साम्राज्य में स्थित सरस्वती का अञ्चल श्वेत से भी अधिक उज्ज्वल हो उठा था, उसी का पाप वह कैसे सुन सकेगी। कैसे सह सकेगी वह यह घोर अन्धकार की गाथा ?

वह कुछ भी नहीं सोच सके। एक दीर्घ निश्वास छोड़कर वह मन्दिर से बाहर चल दिये और बाहर खड़े स्वर्ण-रथ पर जा बैठे। सारथि ने रथ हाँक दिया। वृद्ध

सिन्धुनाद की आँखों में आँसू भर आये। उनके हृदय मे आँधी चल रही थी।

रात्रि के घनघोर अन्धकार में एक छाया-सी चलने लगी। दूसरी ओर से दूसरी छाया का अङ्गचालन हुआ। एक ने दूसरे के पास आकर कहा—"कौन ! रंगभद्र, तुम आ गये !"

"हाँ देवी !" रंगभद्र ने धीरे से कहा—"क्या तुम तत्पर हो ?"

रुक्मिणी ने कुछ नही कहा। रंगभद्र बोला—"देवि ! यहाँ तुम्हारा मान तब हो सकता है जब तुम अर्घ्य के फूल के समान अपनी गन्ध स्वयं नहीं पहचान पाओगी। तुम्हारी मनुष्यता के हनन पर तुम्हारा यह स्वर्ग है। किन्तु क्या तुम्हारे हृदय में कोई कोमलता शेष नहीं है ? क्या केवल पाषाण हो ? किन्तु कामाक्षी के मन्दिरों में प्रस्तर गाते हैं, प्राचीरें बोलती हैं। एक तुम हो जो अपने जीवन को देव-सेवा की छलना में बिताये जा रही हो। कभी किसी से दो पल प्रेम की बात नहीं, तुम तो स्त्रीत्व के प्रारम्भिक चिह्न तक भूल गयी हो। किसलिए यह सब, रुक्मिणी ?"

"देवता के लिए, रंगभद्र। क्या यह सब त्याग करना मेरे लिए पाप नहीं होगा ?"

"पाप ?" रंगभद्र ने हँसकर कहा—"पाप यह नहीं है कि जीते-जागते मनुष्य को एक कठपुतली बना दिया है ? उससे उसकी दृष्टि छीनकर दूसरों को लूटने के लिए उसे नयन दे दिये हैं, उससे उसके हृदय का अपहरण करके उसे दूसरों के हृदयों पर दस्युवृत्ति करने के लिए छोड़ दिया है ? यदि मनुष्य को झूठे प्रलोभन देकर उसे मनुष्य नहीं रहने दिया तो इससे बढ़कर और कौन-सा पुण्य होगा ?"

"रंगभद्र ! पिता ने तो देव-सेवा को संसार का सबसे बड़ा सुख बताया है। फिर तुम क्या कह रहे हो ? मैं तुम्हारे मुख से पाप को बोलता हुआ सुनकर काँप उठती हूँ। किन्तु न-जाने तुम जो कहते हो अचानक ही क्यों मेरे हृदय पर आघात कर उठता है। मैं नहीं जानती तुम मुझे इतने अच्छे क्यों लगते हो ?"

रंगभद्र का मुख प्रफुल्लित हो गया। उसने कहा—"रुक्मणी, वह स्त्री नहीं जो अपने प्रेमी के आलिङ्गन में बद्ध होकर विभोर नहीं हो सकती, जो आँखों में आँखें खोकर एक बार कलकण्ठ से उसे अपना स्वामी कहने को उद्यत नहीं हो सकती। कहाँ है तुम्हारे जीवन की नीरव हाहाकार करती वेदना का अन्त, कुमारी ! जिस देवता के पीछे तुम पागल हो रही हो, क्या कभी उसने तुम्हारे हृदय पर हाथ रखकर उसकी धड़कन को सुना ? क्या वसन्त के मलयानिल मे पुंसकोकिल की कुहू सुनकर कभी तुम्हारे हृदय में हूक नहीं उठी ? बोलो देवदासी ! यदि प्रेम पाप है तो किसलिए कालिदास का नाम आज प्रातःस्मरणीय है ? किसलिए इस समस्त भूलोक में प्राणी एक दूसरे के लिए कातर हैं ? यदि प्रेम पाप है तो तुम्हें क्यों आजीवन देवता से प्रेम रखने का दुरभिमान सिखाया गया है ?"

देवदासी सोच में पड़ गयी। रंगभद्र उन्मत्त-सा कहता रहा—"क्या यह माधवी रजनी की अनन्त सुलगन शून्य में केवल हाहा खाने के लिए है ? तुम्हारा यह अनिन्दित रूप, जिसको आज संसार उपेक्षा के भयावह गर्त्त में डाले बेसुध है, किसलिए

यौवन की भुजाएँ फैलाकर हृदय में उतरता चला जाता है ? पल्लव साम्राज्य की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी नहीं जानती कि यौवन क्या है ? नहीं है ज्वालामुखियों में वह ताप, नहीं है आकाश के नक्षत्रों में वह रूप जो तुम्हारे श्वास में है, जो तुम्हारे नयनों मे है ? काञ्ची की कुल नारियों के रूप का गर्व तुम्हारी अनन्त रूपराशि के सामने धूल के तुल्य है, देवी !"

देवदासी ने कहा—"यही तो सेनापति-तनय धनञ्जय कहते थे।"

"धनञ्जय ?" रंगभद्र ने काँपते स्वर से पूछा—"क्या वह आया था ? तुम्हें कब मिला ?"

देवदासी ने सिर उठाकर कहा—"कल दिन में नृत्य हुआ था। सूर्यमणि ने अचानक नृत्य रोक दिया। उससे रोषित होकर मैं भीतर चली गयी। पीछे-पीछे ही वह भी आ गया।"

"फिर ?" रंगभद्र ने आशंकित होकर पूछा।

"फिर वह कहने लगे—"सुन्दरी, तुम्हारे सामने सूर्यमणि कुछ भी नहीं है। मैं उसे तनिक भी नहीं चाहता। मैं तो तुमसे प्रेम करता हूँ। संसार में मेरी कोई अभिलाषा नहीं, केवल तुमको प्राप्त करना चाहता हूँ।"

रंगभद्र ने उत्सुक होकर आवेग से पूछा—"और देवदासी, तुमने क्या कहा ?"

रुक्मिणी ने उत्तर दिया—"और देवदासी ने क्या कहा यह भी जानना चाहते हो ? मैंने कहा—'तुम मूर्ख ही नहीं पतित हो। एक देवदासी से तुम्हें ऐसी बात करते लज्जा नहीं आती ? क्या तुम अपने का राजवंश का उच्चारित करने का साहस करते हो ? तुम्हारे वाक्यों में भीषण हलाहल है जिससे देवमन्दिर की ईंट-ईंट मूर्छित होती जा रही है। तुम नारायण की पवित्र विभूति को अपमानित करने का दुस्साहस कर रहे हो ? जिससे तुम बात कर रहे हो वह साधारण स्त्री नहीं, एक देवदासी है।"

उसका श्वास फूल गया। वह चुप हो गयी। रंगभद्र मन्त्रमुग्ध-सा उसकी ओर देख रहा था। उसने कहा—"धन्य हो तुम देवदासी ! तुम प्रेम करना जानती हो। किन्तु जिस पाषाण को तुम जीवन का सर्वस्व बनाती हो वह आत्मा का हनन है। मनुष्य की चरम शान्ति शुष्क ज्ञान नहीं, भक्ति है। वह भक्ति नहीं जिसमें त्याग का दम्भ हो, देवदासी ! मैं तुम्हें व्यर्थ ही यह जीवन नष्ट नहीं करने दूँगा। कहो रुक्मिणी, तुम मुझसे प्रेम करती हो ?"

रुक्मिणी ने कुछ नहीं कहा। अन्धकार में ही उसके हाथ ने रंगभद्र के दृढ़ हाथ को पकड़ लिया। रंगभद्र ने उसे अपने पास खींच लिया। दोनों देर तक एक-दूसरे की आँखों में झाँकते रहे। रंगभद्र ने धीरे से कहा—"तुम्हारे चरणों पर जीवन का समस्त वैभव उठाकर भिक्षा माँगेगा। तुम्हारे पाँव मेरे हृदय पर चलेंगे। तुम पल्लव साम्राज्य की सबसे बड़ी धनवती, सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी, सबसे अधिक भाग्यशालिनी स्त्री होगी, रुक्मिणी ! असमय का यह वैराग्य जैनियों को शोभा दे सकता है जो अपने शरीर को कष्ट देना ही जीवन का निर्वाण समझने की भूल करते हैं। तुम वैकुण्ठ की

लक्ष्मी हो। काशी में मोती बेचकर मैं दक्षिण पथ का सबसे धनवान व्यक्ति हो जाऊँगा। भूल जाओ यह परिमित सीमाओं के बन्धनों को ही अन्तिम सत्य समझने की कलुषभरी छलना। तुम देवदासी नहीं हो, नारी हो। स्त्रीत्व का अधिकार तुमसे कोई नहीं छीन सकता।"

देवदासी का हृदय धड़क उठा। उसका कण्ठ वाष्पस्फीत हो गया। अन्धकार में दूर, बहुत दूर, कुछ हल्के-से तारे टिमटिमा रहे थे। और कुछ नहीं। विशाल प्राङ्गण, दीर्घ स्तम्भ, वक्राकार अलिंद—द्वार सब अंधकार में एक हो गये थे। निर्जनता से चारों ओर वायु कोलाहल-सा मचा रही थी। देवदासी की आशङ्का मन-ही-मन भयभीत हो गयी। उसने अपना हाथ रंगभद्र के वक्ष पर रख दिया और विभोर-सी खड़ी रही। रंगभद्र ने कहा—"परसों मैं सिंहलद्वीप जा रहा हूँ। प्रतिज्ञा करो कि तुम मेरे साथ पोत पर आरुढ़ होकर मेरी अर्द्धाङ्गिनी के रूप में चलोगी। परसों काञ्ची के देव-मन्दिर में महोत्सव होगा। उस दिन लोग अपने-अपने काम में संलग्न होंगे। किसी को भी अधिक चिन्ता नहीं होगी। हम तुम परिक्रमा के पीछे वाली पुष्करिणी के पास मिलेंगे और तुम निर्भीक, पाप की भावना से हीन मेरे साथ चली चलोगी, क्योंकि तुम मुझे प्रेम करती हो।"

देवदासी ने अपना सिर रंगभद्र के सुदृढ़ वक्षस्थल पर टेक दिया। उसकी आँखें बन्द हो गईं और मुँह से धीरे से उच्छ्वसित हुआ—"मैं प्रतिज्ञा करती हूँ रंगभद्र, मैं चलूँगी। तुमने मेरी नीरवता में जो वीणा बजायी है उससे मेरा रन्ध्र-रन्ध्र गूँज रहा है। मैं अवश्य चलूँगी।"

रंगभद्र ने अन्धकार में उसके केशों को चूम लिया। देवदासी लाज से मुसकरा उठी।

* * *

राजमाता इन्दिरा उद्यान-मन्दिर में विष्णु के चरणों पर सहस्र शतदल कमलों का धीरे-धीरे विसर्जन कर रही थी। उनका हृदय पवित्र और स्निग्ध था। जब वह पूजा समाप्त करके उठीं उन्होंने देखा सूर्यमणि उदास-सी सामने खड़ी थी। राजमाता के मुख पर करुण प्रभा फैल गयी। उन्होंने कहा—"सूर्यमणि, आज तू इतनी उदास क्यों लगती है? श्याम मेघ की तरलच्छाया आज तेरे नयनों में आश्रयहीना-सी क्यों काँप रही है? आज तू निदाघ के कानन की भाँति क्यों यह दीर्घ निश्वास छोड़ रही है! सिकता पर चञ्चल क्रीड़ा करने वाली लहर के समान तेरी स्मित आज एकदम ही कहाँ लुप्त हो गयी?"

सूर्यमणि ने सिर झुका लिया। राजमाता ने स्नेह से फिर कहा—"महाकवि की तनया को ऐसी कौन-सी पीड़ा व्याकुल कर उठी है? बोल बेटी!"

सूर्यमणि ने कहा—"कुछ नहीं माता, ऐसे ही आज कुछ चित्त में अनबूझ-सी ग्लानि छा गयी थी।"

राजमाता चुप हो गयीं। उन्हें याद आया कि एक दिन वह भी सिन्धुनाद के

प्रेम में ऐसी ही व्याकुल हो उठी थीं। आज बीस वर्ष बीत गये। वह अब चालीस वर्ष की थीं। सिन्धुनाद पचास से ऊपर था।

उन्होंने मन-ही-मन अपने उस पाप को भूलने के लिए नारायण का स्मरण किया। हृदय निर्मल हो गया। आज वह राजमाता थीं। उनके पवित्र आचरणों पर दक्षिणापथ को गर्व हो सकता था। उनके पति ने अपार विक्रम से चोलराज के दाँत खट्टे कर दिये थे। सम्राट् सिंहविष्णु ने तभी से विधवा को अपने संरक्षण में ले लिया था। उन्होंने कहा—"सूर्यमणि, तेरा विवाह कब का निश्चित हुआ है?"

सूर्यमणि ने मुँह फेरकर उत्तर दिया—"बसन्त पंचमी को," और वह वहाँ से चली गयी।

एक दासी ने झुककर कहा—"महाकवि आये हैं देवी!"

"महाकवि!" राजमाता ने विस्मय से सिर उठाकर पूछा।

"हाँ देवी!" दासी ने सिर झुकाकर उत्तर दिया।

"उनको उद्यान में ही ले आओ।"

दासी चली गयी। राजमाता शंकित होकर इधर-उधर घूमने लगीं। उनका हृदय भीतर-ही-भीतर काँप उठा। आज वह उस व्यक्ति को बीस वर्ष बाद फिर देखेंगी जिसकी स्मृति भी उनके जीवन का एक महान् पाप है।

इसी समय वृद्ध सिन्धुनाद ने दासी के साथ प्रवेश किया। राजमाता इन्दिरा ने आगे बढ़कर उनका स्वागत दिया। एक संगमरमर की चौकी पर सिन्धुनाद बैठ गये। दासी चली गयी। राजमाता ने दृष्टि उठाकर देखा और फिर उनका शीश झुक गया। सिन्धुनाद के नयनों में आज वही चमक थी जो बीस वर्ष पूर्व उनके सर्वनाश का कारण बन गयी थी। उन्होंने सारंगपाणि का मन-ही-मन फिर स्मरण किया और कहा—"कवि, आज आपने कैसे कष्ट किया?"

सिन्धुनाद ने धीरे-धीरे कहना प्रारम्भ किया—"एक दिन अनेक वर्ष पूर्व हम-तुम इसी उद्यान में अपना सब खो बैठे थे। किन्तु उस दिन भी तुमने मुझे अपना सब-कुछ दिया था। आज मैं फिर तुमसे तुम्हारा सब-कुछ माँगने आया हूँ।"

राजमाता ने कहा—"कवि, मैं कुछ भी नहीं समझी। तुम मुझसे क्या लेना चाहते हो? सूर्यमणि के लिए मैंने स्वयं धनञ्जय-जैसा उपयुक्त वर खोज दिया है, फिर और तुम मुझसे क्या माँगना चाहते हो?"

सिन्धुनाद ने कहा—"देवी, धनञ्जय एक देवदासी की ओर आकृष्ट है। वह सूर्यमणि की उपेक्षा कर रहा है।"

राजमाता निष्प्रभ हँसी हँस उठीं। उन्होंने कहा—"तो इतने मर्माहत क्यों हो, कवि! एक बात कहूँ, बुरा तो न मानोगे?"

"नहीं देवी, आज मैं सभी कुछ सुनूँगा।"

"तो सिन्धुनाद", राजमाता ने कहा—"देव-सेवा के लिए अर्पित इन सहस्रों बालिकाओं के जीवन में और एक साधारण गणिका के जीवन में भेद ही क्या है?

साम्राज्य का धर्म भले ही इसे स्वीकार न करे, किन्तु जिन सामन्तों के यहाँ नगर की प्रजा की ललनाएँ कुछ दिन दासी बनने आती हैं और अपने यौवन की भेंट देकर लौट जाती हैं उन सामन्तों के यहाँ क्या देवदासियाँ वेश्या ही नहीं होतीं ? क्षमा करो कवि, दिन में वे देव-सेवा करती हैं, रात को छिपकर पुरुष-सेवा ! कवि, यौवन कभी भी सत्पथ पर नहीं चल सकता। उसकी ठोकर से विक्षत अंगुलियों का रक्त सदा के लिए पथ पर छूट जाता है। फिर तुम्हें इतनी चिन्ता क्यों ? कौन है वह देवदासी जो धनञ्जय के रूप की अवहेलना कर सकेगी ? कौन है वह साधारण नर्तकी जो धनञ्जय के बल और यश के अंक में सब-कुछ खोल न देगी ? दो दिन की यह भूख मिटा लेने दो उन्हें। जब हमारा समय था तब हम भी तो पीछे नहीं हटे। धनञ्जय का यह लोभ एक आलिंगन में प्रवाहित हो जायगा। फिर पुरुष के लिए तो कोई पवित्रता नहीं, वह तो अनेक स्त्रियों में मत्त गजराज की भाँति क्रीड़ा कर सकता है। वसन्त-पंचमी को यदि वह सूर्यमणि के साथ अग्नि की प्रदक्षिणा न करे, पुजारी फिर से पुरुषस्य भाग्य का उन्माद न गुँजा दें तो आकर इस पापिनी से जो मन आये कहना—जो विवाह के पूर्व माता हो चुकी थी किन्तु जिसके छल से आज भी साम्राज्य उसकी पवित्रता के सम्मुख वैदेही और अनुसूया को तुच्छ समझने लगा है। बोलो सिन्धुनाद, नारी का मोल ही क्या है ? पुरुषों के हाथों खेलने वाली कठपुतली ! पुरुष भूमि पर मरता है वह आकाश को चूमने का प्रयत्न करती है। यही तो है सबसे बड़ी दासी गृहस्वामिनी का रूप—जिसकी सत्ता अपने आप में कुछ नहीं !"

"देवी !" सिन्धुनाद ने क्षुब्ध होकर कहा—"बीस वर्ष पूर्व मैंने कहा था मर्यादाओं का संकोच जीवन की वास्तविकता नहीं है। आओ, हम-तुम इस देश को छोड़कर कहीं चले जायँ। किन्तु तुमने स्वीकार नहीं किया।"

"लेकिन कवि", राजमाता ने कहा—"पाप तो मिट गया, पाप की स्मृति अवश्य हृदय में चुभती है। किन्तु कभी-कभी जब तुम्हारी कविता पढ़ती हूँ तब लगता है कि वह पाप नहीं था, यह परवश जीवन सबसे बड़ा पाप है।"

"पाप ! देवी !"—सिन्धुनाद ने कहा—"मेरे तुम्हारे जीवन का पाप ही आज फिर इस समस्त वैभव को भस्म कर देना चाहता है। मैं इसी से काँप रहा हूँ। तुम देवदासी को साधारण वेश्या कहने तक में नहीं झिझकीं, तो सुनो कि जिस साधारण नर्तकी की पवित्रता को रुँदते देखकर भी तुम्हारा गर्व कुण्ठित नहीं होता वह तुम्हारी औरस पुत्री है। सूर्यमणि तुम्हारे प्रेमी की पुत्री है, किन्तु देवदासी रुक्मिणी तुम्हारी पुत्री है, तुम्हारे यौवन-तरु का प्रथम पुष्प है, तुम्हारे जीवन-सागर में प्रतिबिम्बित होने वाली प्रथम बालारुण की दीप्ति है।"

राजमाता ने काँपते हुए कहा—"किन्तु रत्नगिरि ने तो मुझसे कहा था कि वह मर चुकी है।"

"रत्नगिरि नहीं जानता था कि एक दिन बलशाली साम्राज्य के एक विशाल-स्तम्भ सेनापति का पुत्र उसके पीछे व्याकुल हो उठेगा। सहस्रों देवदासियों के बीच

उसने उसे छिपा दिया था। किन्तु यदि धनञ्जय उसकी पवित्रता को अपनी उच्छृङ्खलता में विध्वस्त करेगा रत्नगिरि उसे कभी भी नहीं सह सकेगा। उसने कठोर तप से अपना जीवन बिताया है। उसने दूसरों की भूलों को सरल चित्त से क्षमा किया है। उसे रुक्मिणी से पुत्री का-सा स्नेह हो गया है। जिसने आजन्म अखण्ड स्फटिक-जैसा धवल ब्रह्म तेजस् अपने चारों ओर प्रकाशित किया है वह क्रोध से पल्लव साम्राज्य को खण्ड-खण्ड कर देगा। राजमाता, वह वैभव और सुख की इन दीवारों की नींव में पलते पाप को समूल उखाड़कर फेंक देगा। उसके दुर्वासा के-से अग्नि-क्रोध को ठण्डा कर सके ऐसा साहस, ऐसी पवित्रता किसमें है? प्रजा क्या कहेगी? देवता की पवित्र सम्पत्ति पर वह कभी पदाघात नहीं सह सकेगा। राजमाता, मेरा मन भय से काँप उठता है।"

राजमाता सिहरकर खड़ी हो गयीं। उन्होंने कहा—"कवि, चलो। मैं रत्नगिरि से मिलना चाहती हूँ। देवदासी मेरी पुत्री है। उसे मैं अपने पास ले आऊँगी। वह मेरी शरीर का संचय है। रत्नगिरि माता की आज्ञा की उपेक्षा नहीं करेगा। मेरा वक्ष-स्थल में एक स्नेह काँप रहा है। मेरी पुत्री भुवन-सुन्दरी है? वह मेरी है? मैं उसे देखना चाहती हूँ, कवि!"

सिन्धुनाद उठ खड़े हुए। उन्होंने कहा—"रत्नगिरि पाषाण है, देवी! उसके हृदय में एक सोता है और वह केवल देवदासी रुक्मिणी के लिए है। वह उसकी पवित्रता पर मुग्ध है। जिस दिन उसे उसमें अपवित्रता की गन्ध आयेगी वह अपने हाथ से उसका वध करके देव-प्रतिमा के चरणों में उसे समर्पित करके आत्मघात कर लेगा। आत्मघात का पाप भी उसके सामने देवता के प्रति विश्वासघात की तुलना में कुछ नहीं। वह कठोर तपस्वी है। ममता के झूठे आवरण से उसकी आँखें कभी नहीं चौधतीं। आज जो माता बनकर जा रही हो वह तुम्हारे मातृ-स्नेह को ठुकरा देगा। वह पूछेगा, 'कहाँ था वह प्रेम उस दिन जब मद्यःजात शिशु को स्तन से लगाने के स्थान पर तुमने रातों-रात बाहर कर दिया था! एक राजकुमारी को तुमने पाप बना दिया और जब मैंने पाप को भगवान् की छाया बना दिया है तुम फिर उसे अपवित्र करना चाहती हो?"

राजमाता ने कहा—"फिर क्या होगा, कवि?"

सिन्धुनाद ने कहा—"रथ बाहर खड़ा है देवी, चलिए।"

राजमाता ने आवाज दी—"नीला!"

दासी ने आकर शीश झुकाया।

राजमाता ने कहा— "शीघ्र ही रथ तैयार कराओ।"

"जो आज्ञा!" कहकर दासी चली गयी।

थोड़ी देर बाद राज-मार्ग पर दो बहुमूल्य रथ दौड़ने लगे। एक पर महाकवि थे, दूसरे पर राजमाता। रथ राज-मन्दिर के बाहर रुक गये। दोनों उतर पड़े।

जब वे भीतर पहुँचे उन्होंने देखा रत्नगिरि सूर्यमणि के सिर पर हाथ रखकर

कह रहा है—"पुत्री, यह संसार अत्यन्त कुटिल है। सत्य का उन्मीलन आज के संसार में प्रलय का सूत्रपात हो जायेगा। मैं तुझे कुछ भी बताना नहीं चाहता। किन्तु तू पवित्र है। तेरी पवित्रता की रक्षा करना, तुझे सत्य-पथ पर चलाना, तेरे जीवन को श्रेष्ठ और मनोहर बनाना मेरा कर्त्तव्य है। मैं तेरी सदा सहायता करूँगा। तेरे सुखों के लिए मै कुछ भी उठा नहीं रखूँगा। तुझे डरने का कोई कारण नहीं। धनञ्जय को लाचार होकर तुझसे प्रेम ही नहीं, पवित्र परिणय करना होगा। महोत्सव के बाद मैं देवदासी रुक्मिणी को लेकर काशी चला जाऊँगा। मैं तुझे अपने ब्राह्मणत्व की साक्षी देकर यह शपथ करता हूँ।"

राजमाता ने दौड़कर रोते हुए पुजारी के चरण पकड़ लिए। सिन्धुनाद गद्‌गद् से रोने लगे। सूर्यमणि कुछ भी नहीं समझी।

अविचलित स्वर से रत्नगिरी ने कहा—"परसों राजमाता! परसों कवि! कल महोत्सव है। अन्तिम बार कल मैं कामाक्षी की अपने हाथों से पूजा करूँगा। कल मैं अपने जीवन के सारे पापों के लिए समस्त शक्ति से देवता के चरणों पर क्षमा माँगूँगा। मैं जीवन की इस लुका-छिपी से ऊब गया हूँ, कवि! मैं कहीं दूर चला जाना चाहता हूँ। अपराध का सबसे बड़ा प्रतिदान ब्राह्मण की क्षमा है। ब्राह्मण वह नहीं है जो अपनी पवित्रता की स्वर्ण और राजमद के सामने बलि दे दे, ब्राह्मण वह है जो पाप को पुण्य बना दे, पुण्य को साक्षात् नारायण बना दे। उठो राजमाता, उठो! राजमाता को यदि एक पुजारी के चरणों पर लोग देखेंगे तो विस्मय करेंगे।"

राजमाता के मुख से निकला—"तुम मनुष्य नहीं हो, रत्नगिरि! तुम देवता हो!"

रत्नगिरि ने कहा—"नहीं राजमाता! मैं केवल देवता का एक पुजारीमात्र हूँ।"

सूर्यमणि आश्चर्यचकित-सी देखती रही। पुजारी मुसकरा रहा था।

* * *

राजमन्दिर की शोभा आज अनुपम थी। द्वार-द्वार पर आम्रपल्लव बाँधे गये थे। स्थान-स्थान पर घट स्थापित करके केले के मांसगर्भा वृक्ष लगाये गये थे। समस्त भन्दिर गन्ध से सुवासित था। सम्राट् सिंहविष्णु आज अपने पूरे वैभव के साथ आये थे। एक ऊँचे मण्डप में उनका स्वर्णसिंहासन दमक रहा था। कुमारपादीय युवराजों के बाद यथायोग्य आसनों पर सामन्तगण आकर बैठ रहे थे। कुलीन स्त्रियाँ एक ओर एकत्रित हो रही थीं। राजकुमार महेन्द्रवर्मा चुपचाप अपने आसन पर बैठे आते-जाते मनुष्यों को देख रहे थे। श्यामा सुन्दरियों की किलकारियाँ गवाक्षों में से झंकारती वायु के साथ बाहर निकल जातीं और उनके अङ्गचालन पर विभिन्न आभूषणों की मधुर ध्वनि फूट निकलती। योद्धाओं के भारी चरणों से आहत चमकती भूमि विक्षुब्ध हो उठती और उनके हास्य-तरल स्वरों में मादकता विलोल छाया बनकर प्रभा से दीप्त दंत पंक्तियों में छिप जाती। मेखलाओं की मदिर-मदिर क्वणन-ध्वनि यौवन की द्रिमिक-द्रिमिक हुंकार बनकर चन्दन-लेपित स्तनों के उभार के डुलन पर ताल दे रही थी।

एक विराट् स्तम्भ के पीछे देवदासी रुक्मिणी प्रतिक्षा कर रही थी। रंगभद्र पास

आ गया। देवदासी ने कहा—"नृत्य के बाद मैं भीतर जाकर पहले वस्त्र बदलूँगी, फिर पुष्करिणी के पास जाऊँगी। तुम प्रायः एक प्रहर के बाद वहाँ पहुँच जाना। क्या सब तैयार हैं?"

रंगभद्र ने धीरे से कहा—"तुम्हें चिन्ता करने की कोई आवश्यकता नहीं, देवी! पेलार नदी पर श्रेष्ठि रंगभद्र के अमूल्य वस्तुओं से भरे चौबीस पोत खड़े हैं। बस, हमारे पहुँचने का विलम्ब है। कल हम स्वतन्त्र होंगे।"

"अच्छा, अब मैं जाती हूँ।" और वह भीतर चली गयी। रंगभद्र कुछ देर वहीं खड़ा रहा और फिर भीड़ में मिल गया। प्रसाधन प्रायः समाप्त हो चुका था। बाहर वाद्य आदि लिए सब स्थान सज्जित करके गायक आ गये थे। नृत्य प्रारम्भ होने वाला था। सब सामने के पट की ओर देख रहे थे। धीरे-धीरे यवनिका उठने लगी। जन-समुदाय स्तब्ध होकर देखने लगा।

अनन्य सुन्दरी देवदासी को देखकर सबके नयन चकाचौंध हो गये। वह साक्षात् उर्वशी-सी अङ्गचालन कर रही थी। मृदंग का निर्घोष प्रतिध्वनित हो उठा। नर्तकी की नूपुर-ध्वनि का मधुर प्रवाह सुनकर सभा चित्रलिखित-सी देखती रही। आज वह अद्भुत नृत्य कर रही थी। उसके अंग-अंग में मदन हुंकार रहा था, रति कोमल कण्ठ से अपना अजस्र रूप बहाये दे रही थी। उसके प्रवाल-से अधरों पर उन्माद की मोहक गन्ध तड़प रही थी। उसके विशाल नितम्बों को देखकर महादेव का सहस्रों वर्षों का तप आज हाथ खोलकर चिल्ला उठा था।

एकाएक नूपुर मिलकर बज उठे। नृत्य तीव्र गतिमय हो गया। सभा स्तम्भित-सी बैठी रह गयी। उन्होंने देवदासी को देखा जैसे प्रलय के अनन्तर वसुंधरा बाहर आ रही थी। मृगमद का टीका उसके स्निग्ध वर्ण पर स्वर्ण की भाँति दमक रहा था।

आज नृत्य में विभोर वह हीरक की किरण उस मणिकुट्टिम रंगमंच पर ऐसे डोल रही थी जैसे शिव के ललाट पर चन्द्र की स्निग्ध रश्मि कैलाश के शिखरों पर आलोड़ित हो रही हो, जैसे वीणा पर अंगुलियाँ द्रुत गति से झंकारमुखर होकर तन्मय हो गयी हों! उसका उन्नत वक्षस्थल यौवन का अपराजित गर्व बनकर, अपनी पीवर मांसल सुकोमलता में चन्दन से लिप्त ऐसा लग रहा था ज्यों युगचन्द्र पर चाँदनी बार-बार झूम-झूमकर अपने-आपको भूल जाती हो। वह इस प्रकार अपनी मादकता में अपने आप खो गयी जैसे मन्दाकिनी में परिमल खाकर कलकण्ठ निनादित कूजन में राजहंसिनी स्वयं आपको भूलकर मृदुल लहरियों पर अपने रेशम-सदृश पंखों को खोलकर क्रीड़ा करने लगती है। क्षण-भर को प्रतीत होने लगा मानो नर्तकी के साथ समस्त वसुमती आज स्वर्ग की ओर उड़ जायेगी और भारालस वासना का यह मदिर उत्साह वारुणी की झूम में अपना अनन्त विसर्जन कर देगा।

नृत्य रुक गया। सब अविश्वास से चारों ओर देख उठे। सम्राट् सिंहविष्णु ने गद्गद् होकर कहा—"पुजारी, तुम धन्य हो। देवदासी तुम्हारी पुत्री है?"

"हाँ, सम्राट्!" पुजारी ने गर्व से सिर झुका लिया।

राजमाता इन्दिरा और महाकवि सिन्धुनाद के नयनों में आनन्द के अश्रु छा गये। सूर्यमणि भयार्त-सी मौन बैठी रही। देवदासी ने एक बार देवता को झुककर प्रणाम किया और गर्व से सिर उठा लिया। उस समय उसके मुख पर स्वर्गीय आभा खेल उठी। रंगभद्र हर्षित होकर देखता रहा। धनञ्जय अपने स्थान से उठ गया और अन्धकार में कहीं खो गया।

सम्राट् ने फिर कहा—"कवि, रुक्मिणी पर पल्लव को अभिमान है। क्या तुम्हारे हृदय में इस रूप को देखकर सरस्वती का संगीत नहीं उमड़ता?"

सिन्धुनाद ने कहा—"मेरा कविल रूप की इस अपार राशि को देखकर विक्षुब्ध हो उठा है। मैं असमर्थ हूँ।"

मन्थर-गति से चलती देवदासी ने प्रांगण पार करके, बाह्य परिक्रमा को लांघकर, भीतरी परिक्रमा में पाँव रखा। उसी समय उसने सुना—"सुन्दरी!"

उसके पाँव ठिठक गये। सामने ही धनञ्जय खड़ा था। उसके नयनों से वासना ने अवगुण्ठन हटा दिया। वह लोलुप दृष्टि से उसकी ओर देख रहा था।

देवदासी ने कहा—"क्या है सेनापति-तनय?" धनञ्जय मन्त्रमुग्ध-सा उसे देखता रहा। देवदासी ने फिर कहा—"क्या है कुमार? आप क्यों मुझे निष्कारण घूर रहे हैं?"

धनञ्जय ने उच्छ्वसित स्वर में कहा—"देवी, मैं तुम्हें प्यार करता हूँ।"

"धनंजय!" देवदासी हुँकार उठी। बाहर प्रांगण में उस समय कोई कलकण्ठ से प्रेम का मनोहर और करुण गीत गा रहा था। धनञ्जय फिर भी देखता रहा। देवदासी ने आगे चलने को पग उठाया। नूपुर बज उठा। धनञ्जय को लगा जैसे रति का विजयी डमरू आकाश, वसुन्धरा और पाताल में एक घोष भरता हुआ गूँज उठा। वह पागल हो उठा और उसने आगे बढ़कर उसके कन्धों को पकड़ लिया। देवदासी क्रुद्ध-सी चिल्ला उठी—"धनञ्जय, तुम दुस्साहस कर रहे हो।"

धनञ्जय व्याकुल होकर बोला—"रुक्मिणी, तुम भूल रही हो। मैं तुम्हारी पवित्रता से धोखा नहीं खा सकता। मैंने तुम्हें उस युवक से छिपकर बातें करते देखा है। मेरे हृदय मे आग जल रही है। आज तुम्हारे नृत्य ने हविष्य डालकर उसे धधका दिया है। सुन्दरी, आज मैं तुम्हें नहीं छोड़ सकता।"

देवदासी काँप उठी। उसने कहा—"तुम पागल हो गये हो, धनञ्जय! मैं तुमसे भीख माँगती हूँ। मुझे छोड़ दो।"

किन्तु धनञ्जय हँस उठा। उसने उसे खींचकर अपनी छाती से लगाकर उसके सुन्दर मुख को चूम लिया। देवदासी क्रोध से उसके मुँह पर हाथ से आघात कर उठी। विक्षुब्ध धनञ्जय को एक धक्का मारकर भागने लगी। धनञ्जय उसे पीछे से पकड़कर चिल्ला उठा—"मैं तुझे नहीं जाने दूँगा, स्त्री! तुझे मेरी प्यास बुझानी ही होगी। धनञ्जय आज तक कभी स्त्री से अपमानित नहीं हुआ।"

"नहीं! नहीं! नीच पशु! मैं चिल्ला-चिल्लाकर सम्राट् को बुला दूँगी, तू मुझ

पर बलात्कार नहीं कर सकता···"

धनञ्जय ने हँसकर कहा—"तो तू चिल्लाकर ही देख ले।"

देवदासी के मुँह खोलते ही धनंजय की कठोर अँगुलियों ने उसकी कोमल ग्रीवा को कस लिया—"चिल्ला! जितनी शक्ति हो उतना चिल्ला-चिल्लाकर आकाश सिर पर उठा ले। देखें कौन तेरी रक्षा के लिए आता है!"

धनञ्जय ने उन्माद में भरकर पूरी शक्ति से उसका गला दबा दिया। अपने बोलने में वह रुक्मिणी का आर्त स्वर नहीं सुन सका। देवदासी का शरीर झूल गया। धनञ्जय ने अपने हाथ खींच लिए। देवदासी का मृत शरीर पृथ्वी पर धड़ाम से गिर गया। धनञ्जय व्याकुल-सा देखता रहा। भय से उसका शरीर जड़ हो गया। यह उसने क्या किया?

इसी समय एक कठोर स्वर सुनायी दिया—"धनञ्जय, तू ने स्त्री की हत्या की है क्योंकि वह तेरे प्रलोभन में नहीं फँस सकी! कुलांगार!"

धनञ्जय काँप उठा। उसने मुड़कर देखा। पुजारी रत्नगिरि द्वार पर खड़ा था। धनञ्जय लड़खड़ा उठा। रत्नगिरि ने हँसकर कहा—"भूल गया अपना समस्त बल और वैभव के अत्याचार का बर्बर रूप? स्त्री की हत्या करके भागना चाहता है? तू एक देवदासी की पवित्रता को कलुषित करना चाहता था क्योंकि तुझे सेनापति का पुत्र होने का गर्व था! तेरी शक्ति के सामने देवता का अपमान एक साधारण वस्तु है! तेरे बल के सामने एक पवित्र नारी का सतीत्व कुछ भी नहीं! धिक्कार है ऐसे वैभव को! धिक्कार है ऐसे साम्राज्य को! ब्राह्मण तुझे शाप देता है···"

किन्तु एकाएक पुजारी की जिह्वा रुक गयी। मस्तिष्क में तीन बार कुछ चोट कर उठा। पुजारी ने कहा—"मैं सूर्यमणि को वचन दे चुका हूँ, पापी। जा, भाग जा। अन्यथा अभी यहाँ भीड़ हो जायगी और तू पकड़ा जायगा। तूने अनेक हृदयों का सर्वनाश कर दिया है। किन्तु तेरे लिए जैसे युद्धभूमि में यश के लिए अनेक हत्या करना है वैसे ही एक यह भी सही! वहाँ तू अनेक स्त्रियों को धन और भूमि के लिए विधवा बनाता, यहाँ तूने ब्राह्मण और देवता की सम्पत्ति पर पदाघात किया है।"

धनञ्जय वज्राहत-सा खड़ा रहा। पुजारी ने उसे धकेलकर बाहर कर दिया। उसने पास जाकर देखा देवदासी की आँखें उलट गयी थीं, जिह्वा बाहर निकल आयी थी। धनञ्जय ने पीछे से उसका गला घोट दिया था। तभी उसके नयनों में कोई चिह्न नहीं था।

कैसा कठोर होगा उसका हृदय जो इस फूल-सी बालिका की हत्या कर सका? सूर्यमणि एक हत्यारे से विवाह करेगी? और वह देखता रहेगा? किन्तु राजमाता का मान, सिन्धुनाद की उज्ज्वल देदीप्यमान कीर्ति!

वृद्ध शव पर रो उठा। उसने कहा—"उन्हें क्षमा कर दे, रुक्मिणी! सिन्धुनाद तेरा पिता है, राजमाता इन्दिरा तेरी माता है, सूर्यमणि तेरे पिता की पुत्री है और मैं सूर्यमणि को वचन दे चुका हूँ। तू बिलकुल पवित्र है, आकाश की शरद पूर्णिमा की

ज्योत्स्ना से भी अधिक श्वेत ! उन्हें क्षमा कर, पुत्री ! मैंने तुझे बचपन से पाला था, अपना वैराग्य मैंने तेरे कारण त्याग दिया। क्षमा कर रुक्मिणी ! ब्राह्मण, देवता और देवदासी को सब-कुछ खोकर भी क्षमा करना चाहिए, पुत्री !"

उसने देवदासी के शरीर को स्पर्श करके ऊपर हाथ करके कहा—"देवता, नारायण, कामाक्षी ! देवदासी को स्वर्ग में बुला लो। वह बिलकुल पवित्र है।" पुजारी उठा। उसने अपने आँसू पोंछ लिये और बाहर निकल आया। बाहर कोई वीणा बजा रहा था। रत्नगिरि ने कहा—"मैंने देवदासी रुक्मिणी की हत्या की है। मैंने देवदासी रुक्मिणी को गला घोंटकर मार डाला है। भीतर परिक्रमा में उसका शव पड़ा है।"

गीत रुक गया। वीणा की सिसक बन्द हो गयी। महा सम्राट् सिंहविष्णु हठात् उठ खड़े हुए। उनके उठते ही समस्त सभा हड़बड़ाकर खड़ी हो गयी। चारों ओर निस्तब्धता छा गयी। प्रांगण का बिल्लौर का मध्य भाग एक उदासीनता और किंकर्त्तव्यविमूढ़ता से स्तब्ध हो गया। महोत्सव रुक गया। स्त्रियों के आभूषण चुप हो गये, पुरुषों के नयन विस्मय से खुल गये। प्राचीन राजमन्दिर की विशाल प्राचीरें विक्षुब्ध हो गयीं।

कुछ देर तक सब चुपचाप देखते रहे। सम्राट् ने कहा—"कौन ? वही जिसने अभी-अभी अप्सराओं का-सा नृत्य किया था ?"

"हाँ, वही, सम्राट्!" रत्नगिरि ने दूर से उत्तर दिया और प्रांगण की ओर बढ़ चला।

चारों ओर कोलाहल मच उठा—'पुजारी रत्नगिरि ने अपनी पुत्री की हत्या कर दी !' 'ब्राह्मण होकर उसने पवित्र देवता की सम्पत्ति को मार डाला !' 'जन्म से जिसे उसने पाला उसी पर हाथ उठाया !' 'उसने निरपराधिनी स्त्री का ध्वंस कर दिया !' 'ब्राह्मण ने आज यह घोर पाप किया !' 'रत्नगिरि ने पल्लव के गौरव-वृक्ष को फल और फूलों से लदा देखकर भी कुठार चला दिया !' प्रांगण में आकर अकेला रत्नगिरि सुनता रहा। उसको चारों ओर से सम्राट्, राजकुमार, सामन्तों, नागरिकों, कुलीन ललनाओं और जनसमुदाय ने घेर लिया। सब कुछ-न-कुछ उसके विरुद्ध कह रहे थे। सम्राट् कुछ सोच रहे थे। किसी को भी विश्वास न था। पुजारी रत्नगिरी साम्राज्य का सबसे पवित्र ब्राह्मण था। चारों ओर से प्रश्नों की भरमार होती रही। जनसमुदाय विक्षुब्ध होकर उसे धिक्कार रहा था। सामन्तों की भृकुटी खिंच गयी थी। सब उसे क्रुद्ध दृष्टि से, घृणा से व्याकुल होकर देख रहे थे, किन्तु पुजारी रत्नगिरी निर्भीक खड़ा रहा।

रंगभद्र ने उसके पास जाकर कहा—"पुजारी ! तुमने रुक्मिणी को मार डाला ? तुमने उसके मनुष्य होने के प्रयत्न को देखकर उसका वध कर दिया ? ब्राह्मण ! तुम युग-युग तक रौरव की यातना भोगोगे। तुमने एक मनुष्य को पशु बनाना चाहा था, और जब उसने मनुष्य होने का प्रयत्न किया तुमने उसे कुचल दिया ? क्योंकि वह मेरे साथ भागने वाली थी ?"

राजकुमार महेन्द्रवर्मा ने आगे बढ़कर कहा—"ब्राह्मण होने से तुम अबध्य हो, पुजारी। किन्तु ब्राह्मण आज तक पशु-बलि देते थे तुमने नरमेध किया है। मैं आज उस धर्म के नाम पर पूछता हूँ क्या वैष्णव-भक्ति में पिता पुत्री की हत्या करके नहीं मर सकता ?"

रंगभद्र की ओर संकेत कर सम्राट् सिंहविष्णु ने कहा—"यदि यह युवक सत्य कहता है तो पुजारी का कोई दोष नहीं। उसने देवता की सम्पत्ति को अपवित्र होते देखकर उसका ध्वंस करके पवित्र भागवत धर्म की रक्षा कर दी। रत्नगिरि! बोलो, कहो, देवदासी अनाचारिणी थी ?"

रत्नगिरि ने अविचलित स्वर से कहा—"यह युवक झूठ बोलता है। मैंने इसे कभी भी उससे बात करते नहीं देखा। देवदासी सदा अकलुष, पवित्र और पुण्य से भी मधुर थी। उसकी आत्मा प्रभात के नीहार की भाँति उज्ज्वल कल्मषहीन थी।"

सम्राट् सिंहविष्णु ने क्रोध से कहा—"तब तू ब्राह्मण नहीं है, रत्नगिरि, तू चाण्डाल है। अपनी पुत्री को निष्कारण मारकर तू पत्थर की तरह मेरे सामने खड़ा है। राजकुमार महेन्द्रवर्मा सच कहता है कि ब्राह्मण को अबध्य कहना धर्म का सबसे बड़ा दुराचार है।"

रत्नगिरि ने कहा—"सम्राट्, रत्नगिरि पुत्री की हत्या करके अब ब्राह्मण नहीं रहा, वह हत्यारा है।"

इसी समय राजमाता धीरे-धीरे रत्नगिरि के सम्मुख आ खड़ी हुईं। उनकी आँखों में अश्रु छा रहे थे जिनमें वात्सल्य और भय-मिश्रित घृणा चमक रही थी। उन्होंने कहा—"पुजारी, सच कहो, पुत्री को तुमने ही मारा है ?"

पुजारी ने कुछ उत्तर नहीं दिया। राजमाता फूट-फूटकर रो उठीं। उनका हृदय टुकड़े-टुकड़े हो रहा था। उन्होंने कहा—"तुम रक्षक नहीं हो, तुम हिंस्र पशु हो। जन्म से तुमने उसे पाला, फिर क्या इसी अन्त का तुमने उसके लिए निर्णय किया था ? पैदा होते ही क्यों न मार दिया, पिशाच ? स्वर्ग की उस अमूल्य पवित्र प्रतिमा का तुमने अन्त कर दिया, तुम्हें क्या मालूम मेरे हृदय की वेदना···"

उनका कण्ठ रुँध गया। पुजारी ने उनकी ओर देखा। वह रोती-रोती पीछे हट गयीं। आगे बढ़कर कवि सिन्धुनाद ने कहा—"पुजारी, यह तुमने क्या किया ? सच कहो, तुमने यह हत्या क्यों की ? तुम तो उसे लेकर काशी जा रहे थे ! रत्नगिरि, तुमने क्या यही मित्रता दिखायी है ? आजीवन पवित्र रहे हो तुम। तुमने स्त्री-हत्या ही नहीं की, तुमने देवदासी की हत्या की है ! ब्राह्मण होने के कारण तुम्हारी हत्या नहीं की जा सकती, क्या इसी से तुमने ऐसा किया ? आज तक तो तुमने कभी अपने अधिकारों का दुरुपयोग नहीं किया ? क्या देवदासी पापिनी थी ?"

उस समय रत्नगिरि ने दृढ़ स्वर में कहा—"नहीं कवि !"

सिन्धुनाद की आँखों में आँसू छा गये। उन्होंने धीरे से कहा—"तुमने सबसे बड़ा पाप किया है। तुमने अनेक हृदयों पर ठोकर मारकर चूर कर दिया है। तुम मेरे मित्र हो। रत्नगिरि, क्या तुम अब जीवन-भर अपने इस भीषण पाप की ज्वाला

में जीवित ही नहीं मर जाओगे ? कैसे सह सकोगे यह सब, ब्राह्मण ? किन्तु तुम अब सब-कुछ सह सकोगे, वज्र-हृदय ! तुमने हत्या की है। तुमने विश्वासघात किया है। तुमने इस वृद्ध का हृदय बिलकुल ध्वस्त कर दिया है। क्या चिता की भस्म को अपने पापी नयनों से घूर रहे रहो ? रत्नगिरि, यह तुमने क्या किया ?"

पुजारी ने नीचे का होंठ दाँत से काट लिया और चुपचाप खड़ा रहा।

सम्राट् सिंहविष्णु ने कहा—"ब्राह्मण को राजमन्दिर से बाहर निकाल दो ! उसको पल्लव साम्राज्य से निर्वासित कर दो ! मैं आज्ञा देता हूँ कि पल्लव का कोई भी नागरिक, सैनिक अथवा जो कोई भी हो इसको एक मुट्ठी अन्न न दे, एक बूँद पानी न दे और इसके पाप से काले मुख को देखकर चिल्ला उठे—'नारायण ! नारायण !!"

समस्त समुदाय पुकार उठा—"नारायण ! नारायण !!"

सम्राट् सिंहविष्णु ने फिर कहा—"मन्दिर को यज्ञ से पवित्र करना होगा। यहाँ ब्राह्मण के वेश में एक चाण्डाल रहता था। इसे निकाल दो !"

रत्नगिरि धीरे से मन्दिर के बाहर निकल गया। सहस्रों हृदय एक स्वर से उसे धिक्कार उठे।

* * *

उस समय मन्दिर निर्जन हो चुका था। निस्तब्धता सनसना रही थी। नागरिक समुदाय अपने-अपने घरों को लौट चुका था। दीप बुझ चुके थे। घोर नीरवता छा रही थी। स्तम्भ के सहारे खड़े युवक की तन्द्रा टूट गयी। वह धीरे-धीरे बाहर आया और पेलार नदी की ओर चल पड़ा।

प्रभात का मधुर प्रकाश सिकता पर डोलने लगा। धीवरों की वंशी की करुण लहरियाँ सिन्धु-मिलन के लिए अधीर ऊर्म्मियों पर फहरने लगीं। सहसा युवक ने पोत पर चढ़कर पुकारा—"कदम्ब !"

सेवक ने झुककर कहा—"प्रभु !"

"हमारे पास कितने पोत हैं ?" युवक ने अविचलित स्वर से पूछा।

"चौबीस, प्रभु !" सेवक ने विनीत उत्तर दिया।

"उनकी सम्पत्ति बाँट दो, कदम्ब ! काञ्ची की भूखी प्रजा को वह सब दान कर दो।"

"प्रभु !" कदम्ब ने विस्मय से कहा।

"विस्मय न करो, कदम्ब ! आज महाश्रेष्ठि रंगभद्र प्राणों का व्यापार करने सिंहल जा रहा है। जिस मोती को खोजने वह महासमुद्र में गोता मारने जा रहा था, वह उसे भीषण-से-भीषण समुद्र का मन्थन करके भी अब नहीं मिल सकता।"

"प्रभु !" सेवक ने फिर निवेदन किया—"स्वामी का चित्त आज कुछ अस्थिर है।"

"नहीं कदम्ब ! रंगभद्र अब कभी विचलित नहीं हो सकता। जिस धन को मैं आज एकत्रित करने जा रहा था आज उसी धन और अधिकार के मद ने मुझे आमरण

जीवित ही जलने का महान् वरदान दिया है। रंगभद्र कभी भी अब काञ्ची की अभिशप्त नगरी को नहीं लौटेगा। पल्लव साम्राज्य का यह भीषण नरमेध आज पाषाणों के चरणों को अपने रक्त से रंग चुका है। मैं इससे घृणा करता हूँ, कदम्ब! मैं इससे जी भरकर घृणा करता हूँ।"

कदम्ब चला गया। युवक थोड़ी देर तक खड़ा रहा और फिर सहसा ही पुकार उठा—"माँझी, पोत को बहने दो।"

कठोर मांसपेशियों वाले नाविकों की पतवारों ने अथाह नदी की लहरों को काटना प्रारम्भ किया। फेन उठकर पोत के किनारे पर छींटे मारने लगे। अकेला पोत सागर की ओर बह चला। निराधार, अनन्त जलराशि पर डगमगाता, काँपता, भयभीत होता। पाल हवा से भरकर फैल गये। उज्ज्वल प्रकाश लहरों पर भागने लगा। तीर दूर छूट गये। पोत की गति तीव्र होने लगी।

रंगभद्र एक बार जोर से हँस उठा और फिर सिर थामकर अर्द्धमूर्छित-सा बैठ गया। वह न-जाने कौन-सा मोती ढूँढने जा रहा था? चारों ओर महानद का ऊर्म्मिजाल अट्टहास कर उठता था और ऊर्ज्जस्वित प्रतिध्वनि आकाश में मँडराने लगती थी।

प्रवाह पर पोत मन्थर गति से बहा जा रहा था। दूर-सुदूर केवल जलराशि के अतिरिक्त आज चारों ओर कहीं भी कुछ न था। क्षितिज जैसे सन्निपात में कुछ मर्मर कर रहे थे, और रंगभद्र बैठा रहा, बैठा रहा, विश्रांत, पराजित, विध्वस्त···अवसाद का टूटा हुआ स्तम्भ···अभिलाषाओं की धधकती भस्म का उन्माद···!

१९

माँ के आँसू

वृन्दावनलाल वर्मा

श्री वृन्दावनलाल वर्मा का जन्म सन् १८८९ में झाँसी के मऊरानीपुर ग्राम में हुआ। हिन्दी-उपन्यास-जगत् में वर्मा जी को कौन नहीं जानता! हिन्दी-जगत् को आपकी उपन्यास-कला पर अभिमान है। ऐतिहासिक कथानकों को अत्यन्त सजीव और रोचक ढंग से पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करना आप ही का कार्य है। आपके कथानक खोजपूर्ण और प्रामाणिक होते हैं जिनमें रोचकता लाने के लिये आप कल्पना का सहारा लेते हैं। आपके लिखने की गति अत्यन्त तीव्र है। कई पुस्तकों पर पुरस्कार मिल चुके हैं। हाल ही में आगरा विश्वविद्यालय ने डॉक्टरेट की उपाधि देकर आपको सम्मानित किया है।

रचनाएँ

'झाँसी की रानी-लक्ष्मीबाई', 'मृगनयनी', 'गढ़कुंढार', 'विराटा की पद्मिनी,' 'माधवजी-सिंधिया', 'कचनार', 'अचल मेरा कोई', सोना', 'अमरबेल', 'भुवन-विक्रम', 'टूटे काँटे', 'कुण्डली-चक्र', 'राखी की लाज', 'झाँसी की रानी', 'हंस-मयूर', 'पूर्व की ओर', 'मंगल-सूत्र', 'जहाँदारशाह', 'दबे पाँव', 'शरणागत', 'कलाकार का दण्ड', आदि।

होली जल चुकी थी। रागरंग की मस्ती को जंभाइयाँ आने लगी थीं। अपने-अपने काम पर जुट पड़ने के लिए लोग झींकने-से लगे थे, परन्तु छत्रपति साहू की मौज अब भी करवटें ले रही थी।

आधी रात की घड़ी आने में थोड़ा-सा विलम्ब था। सतारा के किले के नीचे दूर तक का ऊबड़-खाबड़ मैदान, बस्ती और जंगल लगते चैत की चाँदनी में षड्यन्त्र-सा रच रहे थे। किले के भीतर महल की छत पर पक्के चंदोवे के नीचे चन्द्रमा की धुँधली किरणें शमादानों के दीपों के प्रकाश में लजा-सी रही थीं। उस चंदोवे के नीचे ऊँचे मंच के तकिये के सहारे साहू का मन मन्द-मन्द बहने वाली पश्चिमी घाटों की शीतल पवन के साथ लहरा रहा था।

मंच के नीचे बढ़िया कालीन पर साहू का प्रधान सेनापति त्रिंबकराव दमाड़े कुछ देर से नीचा सिर किये कभी उठते हुए चन्द्रमा, कभी शमादान के दीपों और कभी साहू के खिलते-सिकुड़ते मुँह की ओर देख रहा था। चाँदी के हुक्के की निगाली का सिरा साहू की अंगुलियों में था, पर वह कश नहीं खींच रहा था। त्रिंबकराव दमाड़े कुछ कह डालने के अवसर की खोज में था।

साहू पहले बोला, "शेर, तेंदुए और रीछ का शिकार तो बहुत खेल लिया। सोचता हूँ कि अफ्रीका से धारीदार गधे और उड़ने वाले ऊँटों को मँगवाकर अपने जंगलों में छुड़वा दूँ और जब वे बढ़ जायें तब उनका शिकार खेलूँ।"

"हाँ, श्रीमंत!" इससे अधिक त्रिंबकराव ने और कुछ नहीं कहा।

कुछ क्षण बाद साहू ने कहा, "इन जानवरों का अफ्रीका से स्वदेश में लाना असाध्य भी नहीं है। अंग्रेजों और फ्रांसीसियों के जहाज वहाँ होकर आते-जाते हैं। उनकी मार्फत तय कर लिया जाय। क्या कहते हो?"

त्रिंबकराव को अवसर मिला—"श्रीमंत, ये दोनों कौमें यहाँ रुपया बटोरने और मुल्कगीरी करने के लिए आई हैं। धारीदार गधे और उड़ने वाले ऊँट मँगवाकर बदले में उन्हें जागीर देनी पड़ेगी या बहुत-सा रुपया, जिसकी अपने यहाँ इन दिनों कमी है।"

"काई कमी नहीं, दमाड़े। गुजरात का इलाका हमने जीत ही लिया है, बाजीराव इत्यादि सरदार काफी देश और दौलत कमा रहे हैं—उसमें से थोड़ा-सा इस काम के लिए भी सही।"

त्रिंबक के भावों की दबी हुई बाढ़ को मार्ग मिल गया। बोला—"श्रीमंत, गुजरात की मेरी कमाई हुई सम्पत्ति पर बाजीराव ने हाथ डाल दिया है। वह अपने को पेशवा क्या कहने लगा है मानो सभी के सिरों पर जा बैठा हो। अंग्रेज और

फ्रांसीसी त्रिचनापली की नवाबी को हथियाने की फिक्र में हैं, निजाम दिल्ली पर आँख गड़ाये है, राजस्थान के राजपूत अपना संघ बनाने की धुन में हैं, उत्तर में जाट और सिखों ने अपनी धाक जमा ली है, और एक हम हैं जो···"

"तुमने भी क्या पोखरे में पत्थर फेंका ! कहाँ शिकार की चर्चा, कहाँ ये सब झंझट की बातें ! मेरा सिर दुखने लगेगा।"

"श्रीमंत, अपराध क्षमा हो, बाजीराव और उसके सहवर्गी सिर की ऐसी पीड़ा हम सबके लिए तैयार कर रहे हैं जिसका उपचार बहुत दुर्लभ हो जायेगा।"

साहू का स्वर तीखा हुआ, "इस प्रसंग का न तो यह समय है और न सुनने की मेरे मन में इच्छा।"

त्रिंबकराव कहता रहा, "श्रीमंत, बाजीराव और उसके सजातियों की उठती हुई आँधी को रोकिये, अन्यथा वह तीव्र गति पाकर हम सबों को तिनकों की तरह उड़ाकर इधर-उधर फेंक देगी।"

साहू को ताव आ गया। बोला, "तुम मूर्ख ही रहे ! बाजीराव-जैसा स्वामी-धर्मी ढूँढे नहीं मिलेगा।" आगे क्या कहे, क्या न कहे इस उलझन में साहू को शब्द नहीं मिले। निगाली को होंठों से लगाया, पर कश खींचने के लिए बल नहीं लगाया। चढ़ते हुए चन्द्रमा की ओर देखने लगा और देखता रहा।

* * *

त्रिंबकराव के माथे पर शिकनें पड़ गई थीं, परन्तु साहू चन्द्रमा की धुँधली किरणों और शमादानों की तेज रोशनी में भी उन्हें नहीं देख पाया। त्रिंबक ने विदा लेनी चाही। जब वह चलने लगा तो साहू ने उसे सीख दी मानो जो कुछ नहीं कह पाया था उसकी कमी को पूरा कर लिया हो—

"तुम जानते हो कि जात-पाँत के आपसी झगड़ों से मुझे घृणा है। मैं केवल योग्यता का आदर करता हूँ, वह चाहे ब्राह्मण में हो चाहे अब्राह्मण में। तुम भी इस स्वभाव को पकड़ लो तो बाजीराव के प्रति तुम्हारे मन में हिंसा नहीं रहेगी।"

त्रिंबक का रोम-रोम जल उठा, परन्तु वह साहू को प्रणाम करके चुपचाप चला गया···मैं मूर्ख हूँ ! बाजीराव स्वामीधर्मी है ! काम की बात की तो उबल पड़े ! मैंने पोखरे में पत्थर डाल दिया ! कितना बढ़ावा दे रहे हैं महाराज उस दुष्ट बाजीराव को ! गुजरात को मैंने अधीन किया, पर मालगुजारी दबा बैठा है बाजीराव ! बाजीराव के रहते महाराष्ट्र कभी नहीं पनप सकता, कदापि समृद्धिशाली नहीं हो सकता। यदि बाजीराव को मैंने दुनिया से नहीं मिटाया तो मेरा नाम त्रिंबकराव दमाड़े नहीं !··· उसने जाते-जाते निश्चय किया।

एक दिन बाजीराव साहू के पास घबराया हुआ आया। उस समय साहू मौज के ओज में न था। फिर भी अपने स्वभाव के अनुसार वह निश्चल-सा दिखलाई पड़ रहा था।

"श्रीमंत ! श्रीमंत, त्रिंबकराव दमाड़े ने बहुत बुरा किया !" बाजीराव ने

दरबारी स्तब्धता का संकोच न करके कहा।

साहू ने सोचा कि त्रिंबकराव ने बाजीराव की सम्पत्ति लूट ली होगी। मुसकराकर बोला, जैसे कोई बात ही न हो, "क्या किया है सेनापति ने?" साहू तकिये से टिका था जैसे निद्रा का आवाहन करने वाला हो।

"सेनापति त्रिंबकराव निजामुल्मुल्क से जा मिला है," बाजीराव ने तड़ाक से उत्तर दिया।

साहू ने चिहुँककर तकिया छोड़ दिया। काँपते हुए स्वर में उसने पूछा, "कब? कैसे? क्यों?"

बाजीराव ने तुरन्त उत्तर दिया, "अभी-अभी समाचार मिला है। वह स्वदेश का वैरी होकर, बहुत-सी सेना के साथ निजाम की तरफ हो गया है और अब महाराष्ट्र पर आक्रमण करेगा।"

"इन दिनों कहाँ है?"

"उत्तर की दिशा में।"

"महाराष्ट्र पर कब तक आक्रमण करेगा?"

"जब चाहे तब कर डाले।"

साहू सन्नाटे में था, परन्तु अधिकांश दरबारियों को कोई आश्चर्य नहीं हुआ। वे दमाड़े और बाजीराव को तो जानते ही थे; महाराष्ट्र के अनेक सरदार उन दिनों किस प्रकार चल-विचल हो जाते थे, यह भी जानते थे।

थोड़ी देर तक दरबार में स्तब्धता रही। उसी समय बाहर से एक पत्रवाहक आया। साहू के खासकलम ने पत्र पढ़कर सुनाया। पत्र सेनापति त्रिंबकराव दमाड़े ने भेजा था। प्रचुर शिष्टाचार के उपरान्त त्रिंबक ने पत्र में लिखा :

"मैं श्रीमंत का स्वामीभक्त सेवक हूँ, परन्तु बाजीराव की दुष्टता को और अधिक सहने में असमर्थ हूँ। बाजीराव को नष्ट करने के बाद फिर श्रीमंत के चरणों की सेवा करूँगा।"

बाजीराव को नष्ट करने के उपरांत श्रीमंत के चरणों की या सिर की सेवा त्रिंबकराव किस तरह करेगा, यह न तो उस पत्र में था और न किसी की समझ में आया। साहू ने यह कल्पना अवश्य की कि सेनापति दमाड़े उसका शत्रु नहीं है, बाजीराव का विरोधी है।

बाजीराव बहुत चतुर था। उसने साहू के भाव को भाँप लिया। बोला, "श्रीमंत! उसका दमन तुरन्त किया जाना चाहिए, अन्यथा उसकी देखा-देखी महाराष्ट्र में वह आग लगेगी जो किसी के भी बुझाए न बुझेगी।"

आग लगने, आग की लपटों, भस्मीभूत होने के चित्र साहू की आँखों के सामने घूम गये। उन जंगलों में राख ही-राख दिखलाई पड़ेगी, जिनमें अफ्रीका के धारीदार गधों और उड़ने वाले ऊँटों को छुड़वाने के स्वप्न वह देखा करता था।

"श्रीमंत, क्या आज्ञा है ?" बाजीराव ने अनिश्चय में उतराते हुए साहू से दीन स्वर में प्रश्न किया।

साहू ने आज्ञा दी, "सेनापति त्रिंबकराव को दम-दिलासा देकर आदर के साथ पकड़ लाओ।"

जिसने म्यान के बाहर तलवार खींच ली और महाराष्ट्र के शत्रु का पक्षपाती हो गया उसको दम-दिलासा कैसी ? और वह भी आदर के साथ ! परन्तु पकड़ने के आदेश में कुछ प्रेरणा थी। बाजीराव ने कहा, "सम्भव है, श्रीमंत, कि दमाड़े की खिंची हुई तलवार का जवाब तलवार से देना पड़े। कदाचित् उससे मुझे लड़ना पड़े।"

साहू की अचलता डगमगा गई। बोला, "दमाड़े को पकड़ने के लिए छुटपुट लड़ाई लड़नी पड़े तो लड़ लेना। परन्तु देखो, वह अपना ही आदमी है, मेरा निजी— उसके साथ कठोरता का बरताव न हो।"

बाजीराव ने इतने में सब-कुछ पा लिया। उसने निश्चय कर लिया और दरबार से अविलम्ब अपनी छावनी में चला गया। साहू की किसी दूसरी उलटने-पलटने वाली आज्ञा की प्रतीक्षा के लिए उसने अपना समय नष्ट नहीं किया।

सेनापति त्रिंबकराव दमाड़े ने महाराष्ट्र पर आक्रमण नहीं किया। महाराष्ट्र में बाजीराव की जागीर को लूटता हुआ वह गुजरात में जा घुसा, जिसे वह कई अंशों में अपनी जागीर समझता था। यहीं की मालगुजारी तो बाजीराव ने हड़पी है। मेरी संपत्ति !

बाजीराव उसकी अपेक्षा कहीं बड़ा सेनानायक और चतुर लड़ाका था। बड़ौदा के निकटवर्ती गाँव दमोई में युद्ध हुआ। त्रिंबकराव को उसके एक साथी ने गोली से मार दिया। उस समय इसका भेद नहीं उघड़ा। त्रिंबक के वध का अपराध बाजीराव के सिर मढ़ा गया।

त्रिंबक की माता उमाबाई रोती-बिसूरती साहू के सामने पहुँची। रोने-बिसूरने की तली में उमाबाई की उग्र, सहज ही भावों में डूबने-उतराने की प्रकृति और पुत्र-वध का बदला चुकाने की प्रवृत्ति भी थी।

उमाबाई की पहली ही अश्रुधारा और हिचकियों से साहू विचलित हो गया। जब आँसू थमे, हिचकी बन्द हुई और उमाबाई अपनेपन पर आ गई, तब साहू ने सान्त्वना देते हुए कहा, "बाई, जो हो गया सो हो गया। भगवान ने सेनापति के भाग्य में जितनी आयु लिख दी थी उन्हें उतनी ही मिल पाई।"

"कैसे जो हो गया सो हो गया, श्रीमंत ! जो हो जाता है वह सांकल की एक कड़ी मात्र ही तो है। यह कौन कह सकता है कि बाजीराव के भाग्य में विधाता ने सहस्र वर्ष की आयु लिख दी है ? बाजीराव ने आपका दायाँ हाथ काट दिया। आपको क्या अपने बाएँ हाथ में फुरफुरी भी न आयेगी !"

"बाजीराव ने बहुत बुरा किया, बाई। मैंने उसे सेनापति को आदर के साथ लाने की आज्ञा दी थी।"

"बाजीराव ने मेरे लाल को जंगली जानवर की तरह मार डाला और आपकी भौंह तक न फड़की ? मैं अभी और यहीं सिर पटक-पटककर प्राण दे दूँगी। छत्रपति साहू के न्याय का प्रक्षालन पुत्र और माता के रक्त से होना भगवान ने कैलाशवासी शिवाजी के सिंहासन के भाग्य में लिखा है।"

उमाबाई की आँखों में प्रण की दृढ़ता ऐसी आकर जमी कि क्षण-भर में उसने साहू को चुनौती-पर-चुनौती दे डाली। साहू काँप गया।

कुछ क्षणों में अपने को संभालकर साहू ने निश्चय के स्वर में कहा, "बाजीराव को इस अपराध के लिए प्राणदंड दिया जायेगा।"

उमाबाई को संदेह हुआ। उसकी आँखों में आत्मघात की वह दृढ़ता न रही। हिंसा के संतोष और हर्ष का एक आँसू झलक आया और गले में कंप। बोली, "कब ?"

"समय तुम्हें नियुक्त करना होगा। जब कहो तब बाजीराव को प्राणदंड दे दिया जायेगा। एक क्षण का भी विलम्ब न होने पायेगा।"

उमाबाई कुछ सोचने लगी। साहू के चेहरे पर उसके सहजसुखी भाव की रेखाएँ लौटने लगीं।

उमाबाई ने दिन और घड़ी नियुक्त की।

साहू ने कहा, "देखो, बाई, बाजीराव पंतप्रधान है। किसी अन्य जन के हाथ से उसका मारा जाना अशोभन होगा। बाजीराव का सिर तुम्हारे हाथ से कटेगा।"

"मेरे हाथ से !"

"हाँ, बाई, तुम्हारे हाथ से। मैं जानता हूँ तुम तलवार चलाना जानती हो।"

"मेरे ही हाथ से, श्रीमंत ! आप क्या कहते हैं !" उमाबाई के स्वर में रोष की कटुता आई।

साहू दृढ़ता के साथ बोला, "माता से बढ़कर अपने पुत्र का बदला लेने वाला और कौन हो सकता है ? पर हाँ, तुम्हारे हाथ में साहू के न्याय का प्रतीक और दंड का साधन दिया जाता है। उसी से बाजीराव का सिर काट डालना।" और साहू ने अपनी तलवार उमाबाई के हाथ में दे दी।

साहू कुछ पैनी दृष्टि से उमाबाई के भाव को नापने लगा। वह अपने प्रण की खरी उतरी। बोली, "हाँ, श्रीमंत, मैं अपने हाथ से ही उस दुष्ट का गला काटूँगी। उमर में बूढ़ी होने पर भी शक्ति में बूढ़ी नहीं हूँ।"

* * *

बाजीराव भी वहीं था। नीचा सिर किये सब सुन रहा था। अनेक युद्धों में उसने मौत का सामना किया था। अपने राजा की तलवार के सम्मुख झुककर सिर कटवाने के लिए वह तैयार था। फिर भी उसने इतना कहना उचित समझा— "मैंने सेनापति पर गोली नहीं चलाई थी।"

उमाबाई की आँखों में विकट तरेर आई। उसने दाँत भींचे। साहू ने देखा।

"तुमने मेरी आज्ञा का उल्लंघन करके सेनापति को मारा या मरवा डाला," साहू ने क्षुब्ध स्वर में कहा।

इसके बाद उसने बाजीराव को पकड़वाकर बंदी बना लिया। उमाबाई ने बाजीराव को प्राणदंड देने के लिए जो समय नियुक्त किया था वह कुछ दूर था।

साहू ने संयत स्वर में आदेश दिया, "बाजीराव का वध सेनापति त्रिंबकराव दमाड़े के गाँव तालेगाँव में मेरे सामने होगा।"

उमाबाई प्रसन्न थी।

* * *

वह दिन आ गया। त्रिंबकराव का गाँव तालेगाँव पूना के निकट था। गाँव में त्रिंबकराव की कोठी थी। उसी कोठी के एक बड़े कमरे में बाजीराव को प्राणदंड दिया जाना था।

साहू का सिंहासन सतारा के किले में था। तालेगाँव में वह नहीं लाया जा सकता था। साहू ने त्रिंबकराव की कोठी के उस कमरे में अपने लिए सिंहासन तैयार करवाया। सिंहासन चाँदी के सिक्कों का बनाया गया था। लगभग पचीस हजार रुपए के ढेर पर साहू दंड-दान की साखी के लिए आ बैठा। बन्दी बाजीराव भी वहाँ लाया गया। उमाबाई साहू की तलवार लिए वहाँ पहले से ही तैयार थी।

साहू ने कहा, "पंतप्रधान बाजीराव, तुमने मेरी आज्ञा का उल्लंघन किया तो मुझे उसका कोई दुख नहीं—काम करने वाले अधिकारियों को परिस्थितियों की माँग के अनुसार मूल निर्देश में हेर-फेर करना ही पड़ता है। परन्तु तुमने सेनापति त्रिंबकराव को मरवा डाला, यह बहुत बुरा किया।"

बाजीराव ने प्रतिवाद करने के लिए हाथ जोड़े, सिर उठाया और सूखे होंठों को जीभ से गीला करने का प्रयास किया। साहू ने हाथ उठाकर वर्जित कर दिया। बाजीराव पत्थर की तरह गड़कर रह गया—वही बाजीराव जिसके नाम से हैदराबाद का निजाम काँप जाता था; अंग्रेजों और फ्रांसीसियों को खाई रोटी नहीं पचती थी। साहू ने उस विस्तृत कमरे के एक बाहरी द्वार की ओर झाँका। उसने एक जँभाई ली और हाथ से जोर की चुटकी बजाई, जैसा कि लोग जँभाई के अपशकुन का मार्जन करने के लिए करते हैं।

तुरन्त उस द्वार पर एक स्त्री लाल लुंगी की साड़ी पहने एक बालक का हाथ पकड़े सामने आई। यह बाजीराव की पत्नी थी और बालक बालाजीराव था।

बाजीराव उस क्षण उनको नहीं देख पाया। सिर नीचा किये खड़ा था।

साहू ने उमाबाई से कहा, "बाई, म्यान से तलवार निकालो। पंतप्रधान बाजीराव, तुम उमाबाई के सामने घुटने टेककर सिर झुकाओ जिससे उन्हें तुम्हारा सिर काटने में कठिनाई न पड़े।"

बाजीराव ने तुरन्त वैसा ही किया। उमाबाई ने तलवार खींच ली। बालक बालाजी चीख पड़ा—"काका! काका, हमें भी अपने साथ लेते चलो।"

बालक की माँ हिचकियों रो रही थी। आँखों से आँसू बह रहे थे।

बाजीराव के गले से फटे स्वर में निकला, "मारो, माँ !"

त्रिंबक की माता उमाबाई ने ही उन शब्दों को सुन पाया। बालक बालाजी के क्रंदन को भी चीरकर वे शब्द उसके कान में धँस गये। बालक की माँ के आँसुओं ने उन शब्दों को उमाबाई के कलेजे तक धकेल दिया जैसे किसी नदी के प्रवाह के साथ तिनके बह जाते हों।

झन्न ! उमाबाई के हाथ से तलवार छूटकर कमरे के फरश पर गिर पड़ी। उमाबाई ने दोनों हाथों से अपनी आँखें मूँद लीं।

"मारो, माँ !" बाजीराव के शब्द उसके कलेजे को छेद रहे थे और बालाजी-राव की माँ के आँसू जैसे उमाबाई को किसी नदी के गहरे दह में डुबा दे रहे हों।

बाजीराव घुटने टेके अब भी नतमस्तक था। साहू मुसकरा रहा था। उसने बालाजी और उसकी माँ को अपने निकट बुलाकर कहा, "उमाबाई तुम्हारी दादी हैं। जाओ उनके पैरों में !"

बालाजी होशियार था। उमाबाई के पैरों की ओर दौड़ा। वह हट गई। फिर उसने बालाजी को अपने हाथों में भर लिया। बोली, "महाराज ! महाराज !"

"क्यों ? क्या हो गया, बाई ?"

"जो होना था वह हो गया, आपने मुझे बहुत बड़े पाप से बचा लिया," उमाबाई ने कहा।

"क्योंकि, बाई, मैं तुम्हें पहचानता था।" साहू इतना हँसा कि उसकी आँखों में आँसू आ गये। बाजीराव ने खड़े होकर सिर उठाया और उसने जो कुछ देखा वह उसे देख नहीं पा रहा था।

साहू ने रुपयों से बने सिंहासन का दान उमाबाई को कर दिया।

२०

केसर का रंग

विश्वदेव शर्मा

●

श्री विश्वदेव शर्मा का जन्म इलाहाबाद में हुआ। प्रथम रचना सन् १९४५ में प्रकाशित हुई। हिन्दी और अंग्रेजी में एम० ए० और साहित्य-रत्न किया। पंजाब विश्वविद्यालय की 'डिप्लोमा-इन-जर्नलिज्म' और हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की 'सम्पादन-कला-विशारद' परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं। कालिज में प्रायः हर कहानी-प्रतियोगिता में प्रथम रहे। 'जनसत्ता' द्वारा आयोजित अखिल भारतीय विद्यार्थी-कहानी-प्रतियोगिता में भी आपकी कहानी ने प्रथम पुरस्कार प्राप्त किया। १८५७ पर उत्तर-प्रदेश-सरकार द्वारा आयोजित अखिल भारतीय कविता प्रतियोगिता में भी प्रथम पुरस्कार पाया। पत्रकारिता में आरम्भ से ही रुचि है। आपने विद्यार्थी मासिक-साप्ताहिक और 'सत्य' नाम से साप्ताहिक पत्र भी निकाला था। 'नवभारत टाइम्स' में भी कुछ दिन कार्य किया। आजकल भारत-सरकार के केन्द्रीय सांख्यिकी-विभाग में प्रवर हिन्दी अनुसन्धाता के पद पर कार्य कर रहे हैं।

कीरतसिंह ने घायल शेर की-सी हुँकार को दबाते हुए कहा—"हूँ ! सहसराम, बंगाल, दिल्ली और अब कालंजर ! आकांक्षाओं का क्षितिज बेतहाशा भगाये लिए जा रहा है।" फिर जरा दीवान की ओर मुड़कर बोला—"चींटी के जब मरने के दिन आते हैं तो उसके पंख निकल आया करते हैं, दीवानजी !"

सारा दरबार निस्तब्धता के आवरण में ढँक गया। सबके नेत्र उठते पर कीरतसिंह के फड़कते होंठों तक आकर रह जाते। उसके नेत्रों से नेत्र मिलाने का किसी को साहस ही न होता।

दीवान ने गहरा साँस खींचकर जैसे अपना मन्तव्य प्रकट करने का साहस अपने मन में भरा, हाथ जोड़े और सिर झुकाकर बोला—"अन्नदाता ! सेवक की राय में इस विषय पर ठहरकर विचार किया जाय। इतना बड़ा फैसला किसी उत्तेजना में···"

दीवान के शब्द उसके मुँह में रह गये। कीरतसिंह ने बात काटकर, तड़पकर कहा—"समय की थपकियाँ हमें कर्त्तव्य से भुलावा नहीं दे सकतीं, दीवानजी ! राजपूतों से ऐसे प्रश्नों के उत्तर भिन्न-भिन्न नहीं हुआ करते।"

दीवान के मुख पर आदरयुक्त विनय थी पर आकृति की दृढ़ता पर जड़ी हुई विशाल आँखों से उत्तरदायित्व रह-रहकर झाँक उठता था। संयत, पर दृढ़ शब्दों में वह धीरे-धीरे बोला—"मैंने भी राजपूतों का ही नमक खाया है, अन्नदाता ! और इतने दिन की दीवानी में ऐसे प्रश्नों और उनके उत्तरों से भी परिचित हो गया हूँ।" फिर आये हुए, शेरशाह के दूत पर से उड़ती हुई दृष्टि ले जाकर कीरतसिंह पर टिकाता हुआ बोला—"प्रस्ताव पर परिषद् में विचार होगा। तब तक आज्ञा हो तो शाही ऐलची के आराम का प्रबन्ध कर दिया जाय।"

दीवान की दृढ़ता ने कीरतसिंह को संयत किया। कुछ अप्रतिभ-सा होकर बोला—"अवश्य ही दूत का समुचित आदर हो। शीघ्र ही परिषद् बुलाई जाये।"

* * *

नारी विलास की वस्तु के साथ-साथ पुरुष की स्थायी सम्पत्ति भी बहुत दिनों से समझी जाती रही है। यह बर्बर युग की थाती उनमें बाद तक भी सुरक्षित रही जो वीरता के नाम से अपने आदिम पशुत्व को इंसानियत का हलका-सा मुलम्मा दे चुके थे। राजपूतों में, जब कोई राजकुमारी किसी राजा से ब्याही जाती, राज्य की कुछ और कुमारियाँ भी दहेज में दे दी जातीं। उनकी संख्या कन्या-पक्ष की क्षमता और वैभव का पैमाना होती।

कालिंजर के राजा कीरतसिंह की नारी-सम्पत्ति में केसर ऐसा ही रत्न थी। उसके सौन्दर्य की चर्चा उसके नृत्य और गान के माधुर्य की प्रशंसा में मिलकर परी की कहानी बन गयी थी जिसे देश की नानी-दादियाँ अपने बच्चों के सपनों में लोरियों के साथ उतार देती थीं।

कीरतसिंह केसर के लिये प्रेम और मोह से अधिक गौरव का अनुभव करता था। वह जानता था कि उसके पास ऐसी वस्तु है जो औरों की ईर्ष्या की वस्तु है, जिसे दूसरे नहीं पा सकते। और आज शेरशाह के दूत ने उसके इस गौरव पर आघात किया था। उससे कर के साथ केसर भी माँगी गयी थी।

परिषद् हुई तो उसे प्रस्ताव के किसी भाग पर विचार नहीं करना। प्रश्न केवल यह था कि युद्ध किसी प्रकार टाला जा सकता है या नहीं और यदि वह हो ही तो उसमें विजय की कुछ सम्भावना प्रकट की जा सकती है या नहीं।

दूत को वही उत्तर देकर लौटा दिया गया जिसकी सम्भावना शेरशाह भी किये बैठा था। दोनों ओर युद्ध की पूरी तैयारियाँ शुरू हो गयीं।

* * *

"राजपूत कौम एक ऐसा साज है, ईसा खाँ! जिसे जब भी छेड़ोगे उसमें से मारू राग ही निकलेगा। मारना और मर जाना इनकी मौरूसी आदत है।" शेरशाह ने दूर क्षितिज पर नजर जमाये धीरे से कहा। दृष्टि के उस छोर पर जहाँ धरती और आकाश मिल रहे थे कालिंजर का दृढ़ दुर्ग अपना मस्तक ऊँचा उठाये खड़ा था। निरभ्र चन्द्र की ज्योत्स्ना ने किले की सफेदी पर चाँदी मढ़ दी थी। पर्वत के शिखर पर वह हिमकिरीट-सा लग रहा था।

ईसा खाँ ने अपनी अलसाई हुई दृष्टि क्षितिज से हटाकर शेरशाह पर डालते हुए कहा—"ठीक फरमाते हैं, जहाँपनाह। मगर बहादुरी के साथ-साथ भले-बुरे की तमीज भी इंसानियत का जरूरी पहलू है जो शायद इन लोगों में···"

"नहीं है'—यही कहना चाहते हो न?" शेरशाह ने सहसा गर्दन घुमाते हुए कहा—"जरा दूसरे के नुक्ते-निगाह से भी देखना सीखो। तुम्हारे ईमान और आजादी के साथ कोई तुम्हारी बीवी भी माँगे तो तुम क्या···?" शेरशाह अपनी भावुकता की झोंक मे कही बात के अनौचित्य का समझकर हिचकिचाकर चुप हो गया।

ईसा खां का मुँह कान तक लाल हो गया।

"वह बात दूसरी है, जहाँपनाह! बीबी और नाचने वाली में कुछ फर्क भी तो होता है।" उसने अप्रतिभ होकर कहा।

स्थिति को साधारण बनाने के लिये शेरशाह खिल-खिलाकर हँस पड़ा। फिर जरा गम्भीर होकर बोला—"कीरतसिंह तो खिराज (कर) के लिये ही तैयार न होता, तुमने केसर का अड़ंगा लगाकर तो उम्मीद की कोई गुंजाइश ही न छोड़ी।"

"सल्तनत की मजबूती के लिये हमें कालिंजर की जरूरत है। मैं चाहता था कि उससे लड़ाई में कोई शक बाकी न रहे। इसी से यह करना पड़ा, आलमपनाह!"

"तो यों कहो भेड़िये ने मेमने को खाना तय कर लिया है!" शेरशाह ने मुसकराकर कहा—"मगर किले को कमजोर करके ही जीतने की कोशिश होनी चाहिये—तोड़-फोड़कर नहीं।"

"ऐसा ही होगा, हुजूर!" ईसा खाँ ने कहा।

* * *

कालिंजर को घेर लिया गया, पर उस पर एकदम हमला नहीं किया गया। खास-खास मुहानों से तोपें गोलाबारी करती रहतीं, पर सेना आगे बढ़कर किले पर चढ़ दौड़ने का कोई लक्षण न दिखाती। राजपूत अपने इतिहास में पहली बार इस प्रकार का युद्ध कर रहे थे।

कीरतसिंह ने खीझकर दीवान से कहा—"अजीब मक्खी मारने का काम हो रहा है, दीवानजी! कभी हमारी तोप बोलकर चुप हो जाती है, कभी दुश्मन की बन्दूकें चीखकर रह जाती हैं। कोई जान नहीं, कोई गर्मी नहीं।"

दीवान के विशाल मस्तक पर भी चिन्ता स्पष्ट थी। कुछ रुककर बोला—"मैंने समझा था शायद हमारा अन्न संग्रह समाप्त होने की प्रतीक्षा की जा रही है कि हम भूख से विवश होकर घुटने टेक दें। मगर देखता हूँ यहाँ तक बस नहीं है।"

कीरतसिंह चौंक पड़ा। हड़बड़ाकर बोला—"क्यों, कोई और चाल मालूम हुई क्या?"

"अभी कल दक्षिणी प्राचीर के प्रहरियों ने सूचना दी थी कि वहाँ मजदूरों का एक दल मिट्टी ला-लाकर इकट्ठी कर रहा है। आज चारों ओर से समाचार मिले हैं कि सब ओर वैसे ही टीले बनाये जा रहे हैं।" कुछ रुककर दीवान बोला—"उन पर से हमारे घर में ही हम पर निशानेबाजी की जा सकेगी।"

"परन्तु, क्या इन मजदूरों को शाह दिल्ली से अपने साथ लाया है?" कीरतसिंह ने पूछा।

दीवान ने निराशापूर्ण मुसकान के साथ कहा—"राज्यों का स्वाभिमान राजा और दरबारियों की व्यक्तिगत सम्पत्ति समझा जाता है, अन्नदाता! शेष प्रजा तो पैसे को अपना राजा समझती है।"

कीरतसिंह एक दीर्घ निश्वास लेकर रह गया।

दुर्ग से होने वाली तीर और गोले-गोलियों की बौछार के बीच टीले ऊँचे उठते चले। भुखमरी और गरीबी की गोद में पलते हुए इंसानों के लिए कुछ सोना-चाँदी जेब में लिए हुए मरना शायद अधिक सुखकर होता है। जितने मजदूर मरते उनसे दुगुने आ जाते। टीलों पर तोपें चढ़ा दी गयीं। दुर्ग की गिनती की तोपें अनगिनत शाही तोपखाने का जवाब कहाँ तक देतीं? धीरे-धीरे प्राचीरें ढहने लगीं।

कीरतसिंह ने झुंझलाकर कहा—"ऐसे घर में हाथ पर-हाथ रखे भुनने से तो बाहर निकल मारकर मरना अच्छा है। हम लोग दुश्मन का मुँह तोड़कर मरेंगे।"

दीवान ने मन में कुछ निश्चय-सा किया।

"मरने के लिए इतना सोच-विचार करते मैंने पहले कभी आपको नहीं देखा, दीवानजी !" कीरतसिंह ही बोला।

दीवान ने अपनी मुसकान को और रहस्यमय बना लिया—"सब मालूम हो जायेगा, अन्नदाता ! इस समय तो जरा केसरबाई से मिलना चाहता हूँ।"

* * *

और उस रात जब चाँद अपनी सोलहों कलाओं से वातावरण को रुपहला बनाये हुए था दुर्ग का द्वार तनिक-सा खुला। पहले उसमें से एक सफेद झंडे ने बाहर झाँका और फिर सफेद घोड़े पर एक घुड़सवार ने बाहर कदम रखा।

शाही शिविर के प्रहरी चौकन्ने हो गये। शाही डेरे को मशालों से संकेत किया गया।

संकेत का उत्तर आया—"अकेला है, सफेद झण्डे के साथ है, आने दो।"

दिल्ली की सेना की पंक्तियों में आते ही अश्वारोही को सैनिकों की एक टुकड़ी ने घेर लिया। सबने आश्चर्य से देखा—आगन्तुक पुरुष नहीं स्त्री है। लम्बे केशों का जूड़ा पीछे बँधा था। अपने गोरे शरीर के अन्य भागों को उसने सफेद दुशाले से ढक रखा था। आते ही बोली—"शाही डेरा !"

"इधर से !" एक सैनिक आगे बढ़ा। सैनिकों से घिरी स्त्री पीछे चल रही थी।

शेरशाह ने निगाह गड़ाकर स्त्री को देखा। वह अपना दुशाला उतार चुकी थी। शमादानों की तीखी रोशनी में उसका शरीर कुन्दन-सा चमक रहा था। साँचे में ढले हुए-से अंग। लाल पतले होंठों पर खेलती मुसकराहट देखने के लिये ही जैसे नाक कुछ आगे बढ़ आयी थी। बड़ी-बड़ी आँखों के झरोखों पर बरौनियाँ अधखुले कपाटों-सी स्थिर। शेरशाह विस्मयविमुग्ध-सा हो गया।

"तो तुम्हारा ही नाम केसर है ! रंग तो सचमुच केसर-सा सुनहरा है। शायद खुशबू भी वही हो।" वह मुसकराकर बोला।

गले तक उठ आने वाले किसी गोले को सटकती हुई-सी केसर बरबस मुँह पर मुसकराहट लाती हुई बोली—"हुजूर की जर्रानवाजी है।"

"ओह, शाही अदब भी जानती हो ! खूब !"

"मैं महाराज कीरतसिंह के दरबार में रही हूँ और दरबारों के अदब-कायदे अलग-अलग नहीं होते।" उसने सगर्व कहा। फिर जरा नम्र होकर बोली—"मै दूत बनकर हाजिर हुई हूँ। किला बेतरह बर्बाद हो रहा है। फाटक तो बस टूटने-टूटने पर है। सल्तनत का सामना रजवाड़ा कहाँ तक करेगा ! हमारे महाराज जानना चाहते हैं कि सन्धि के नियम क्या हो सकते हैं ?" फाटक की कमजोरी पर उसने अधिक बल दिया था।

ईसा खाँ ने अर्थभरी दृष्टि से शेरशाह की ओर देखा। आँखों ही आँखों में कुछ इशारा हुआ।

ईसा खाँ ने गम्भीरता से कहा—"एक तो आपको माँगा गया था सो आप आ ही गयीं। कुछ खिराज और दोस्ती का यकीन दिला दिये जाने पर शहंशाह कालिंजर को बख्श देंगे।" फिर कुछ शोखी से बोला—"आप चलकर आराम करें। शाही ऐलची बाकी पैगाम किले में पहुँचा देगा।"

केसर का मुँह तमतमा उठा। दाँत भिंच गये। पर परिस्थिति को सँभालने के लिये कृत्रिम कोमलता से बोली—"शुक्रिया! जवाब मुझे ही ले जाना होगा···"

"आप अब या तो शाही मेहमान हैं या फिर शाही कैदी! अब लौटकर जाना···" ईसा खाँ ने कहना चाहा।

"आप भी खूब मजाक करते हैं, वजीर साहब। मरने को खेल समझने वालों को यह धमकी! मेरी यह छुरी मुझे हर वक्त आजाद कर सकती है।" केसर ने चोली में से एक छोटी-सी छुरी निकाल ली थी।

सिपाहियों ने अपने हथियार सँभालकर घेरा छोटा कर लिया। मगर केसर के शब्दों में कुछ ऐसी दृढ़ता थी कि उससे ईसा खाँ हतप्रभ और शेरशाह चकित हो गया।

स्थिति को सँभालने के लिये शेरशाह बोला—"बिलकुल ठीक कहती हैं आप! भला दूत को भी कोई कैद करता है!" फिर जरा गम्भीर होकर बोला—"मगर शर्तें हमारी वही हैं। कल तक यदि वे पूरी न हुईं तो पूरे जोर से हमला करके किले की ईंट से ईंट बजा दी जायेगी।"

केसर ने भी अपने को कोमल बना लिया। बोली—"ठीक ही तो फर्माते हैं आप! महाराज को ये शर्तें माननी ही पड़ेंगी यदि वह किले को बचाना चाहते हैं।"

"तो फाटक वाले मोर्चे पर ही मैं राजा साहब के फैसले का इन्तजार करूँगा।" शेरशाह को केसर द्वारा कही हुई फाटक की कमजोरी की बात याद थी। उसी का लाभ उठाते हुए बोला—"अगर एक पहर दिन चढ़े तक फाटक की बुर्जी पर सफेद झण्डा लग गया तो ठीक है, नहीं तो···" और अगले शब्दों की भयंकरता दिखाने के लिये ही जैसे शेरशाह चुप हो गया।

केसर की आँखें एक क्षण को चमककर बुझ गयीं। कोई उसे देख न पाया। वह नम्र स्वर में ही बोली—"शायद मैं स्वयं झण्डा लहराने आऊँ। आप जरूर इन्तजार करें।"

* * *

उस दिन के प्रभात में एक अजीब सनसनी थी। किला जैसे बेहोशी में पड़ा था। कोई हलचल नहीं, कोई जीवन नहीं। प्राचीरों-प्रहरी सन्नद्ध पर अलसाये-से। बाहर शाही सेना भी रात-भर की अशान्ति के बाद अब शान्त हो चली थी। तोपें कुछ किले की ओर सरका दी गयी थीं। टीलों पर सैनिकों की संख्या बढ़ा दी गयी थी। आज कालिंजर के भाग्य का फैसला होना था।

सबसे ऊँचे टीले पर, जहाँ से किले का अधिक-से-अधिक भाग दीखता था शाही संकेतक-विभाग ने अड्डा जमाया। यहाँ से फाटक की बुर्जी और फाटक के सामने

वाले शाही मोर्चे की तोपें स्पष्ट दीख रही थीं।

संकेतक ने संकेत करने के विशाल शीशे को सूर्य के सामने किया और उसकी चमक को शाही मोर्चे के टीले पर स्थिर कर दिया। फिर दृष्टि गड़ाकर किले में झाँका, सूर्य ऊपर उठ रहा था। संकेतक ने देखा कि केसरिया साड़ी पहने कोई स्त्री महलों से निकल रही है। संकेतक के हाथों ने शीशे को हिलाया और उसकी चमक ने शाही मोर्चे पर हिलकर संकेत दिया—"स्त्री अकेली है···उसके हाथ में सफेद झण्डा है···वह फाटक की बुर्जी पर आ गयी है, वह बुर्ज पर रखी तोप के पास से···" और संकेतक कुछ अचकचा गया। वह संकेत देने को था कि "आगे बढ़ गयी" पर उसने देखा कि वह वहीं अटक गयी। शायद उसकी साड़ी तोप में उलझ गयी है। तभी तो वह झुकी। पर नहीं, तोप तो हिल रही है जैसे मुहाना बदले···और वह मशाल। और क्षण-भर को वह संकेत देना भूल गया। वह काँप उठा। उसने जोर से संकेत दिया—"खतरा!"

मगर खतरे के संकेत से भी पहले खतरा शाही मोर्चे पर जा टूटा। भीषण धड़ाके के साथ शाही मोर्चा उड़ गया। संकेतक ने किंकर्तव्यविमूढ़ होकर देखा कि किले की तोप का निशाना आशा से अधिक भयंकर बैठा क्योंकि उससे शाही तोपों के पास रखे बारूद में आग लग गयी थी। बारूद के धड़ाकों, ज्वालाओं और धुएँ से सारा वातावरण भर गया। तभी दुर्ग से भी एक ज्वाला-सी निकली, पर वह ज्वाला आग की नहीं—केसरिया कपड़े पहने राजपूतों की थी।

* * *

स्थान-स्थान पर झुलसे अंगों पर पट्टियाँ बँधाये शेरशाह पड़ा कराह रहा था। सामने दूर घमासान युद्ध छिड़ा हुआ था। सहसा ईसा खाँ का घोड़ा आकर रुका।

"अब कैसी तबीयत है, जहाँपनाह? बस, हमारी जीत में कुछ लमहों की देर है।" उसने कहा।

पीड़ा से विकृत मुँह पर एक वेदनापूर्ण मुसकराहट उभारकर शेरशाह ने आह भरते हुए कहा—"मेरी जीत भी आ पहुँ···ची···है।" सहसा उसने किले की ओर देखा। चौंककर वह बिस्तरे पर निढाल हो गया—"वह देखो, ईसा खाँ, मेरी फतह! मेरी फतह का भयानक मजाक!"

और ईसा खाँ ने घूमकर देखा—दुर्ग से लपटें उठ रही थीं—लाल-लाल, पीली-पीली।

"जौहर!" उसके घबराये कण्ठ से निकला।

"राजपूत···एक ऐसा साज जिसे जब भी छेड़ोगे मारू राग ही निकलेगा···एक सुर···एक ताल···" शेरशाह बेहोशी में बड़बड़ा रहा था। सहसा एक हिचकी और शेरशाह भी राजपूती साज द्वारा छेड़े गये स्वर पर अन्तिम ताल देकर सदा के लिए मौन हो गया।

दूसरे दिन जब शाही सेना ने दुर्ग में प्रवेश किया तब भी राख के विशाल ढेर के नीचे केसरिया अंगारे दहक रहे थे।

२१

जीवन-दीप

विष्णु प्रभाकर

●

श्री विष्णु प्रभाकर का जन्म सन् १९१२ में मुजफ्फर-नगर जिले के मीरापुर कस्बे में हुआ था। आप सन् १९३४ से लिख रहे हैं। प्रारम्भ में आपने लेख, गद्यकाव्य और कविताएँ लिखीं, पर शीघ्र ही आप केवल कहानियाँ लिखने लगे। सन् १९३९ से आपने नाटक और रेखाचित्र भी लिखने शुरू कर दिये। सन् १९४८ से आप रेडियो के सम्पर्क में आये और शीघ्र ही रेडियो-नाटक-लेखक के रूप में प्रसिद्ध हो गये। आपकी रचनाओं का प्रान्तीय और विदेशी भाषाओं में भी अनुवाद होता रहता है; कई पुस्तकें विभिन्न सरकारों और संस्थाओं द्वारा पुरस्कृत हो चुकी हैं। १९५५ में आपको आकाशवाणी में ड्रामा-प्रोड्यूसर नियुक्त किया गया, लेकिन डेढ़ वर्ष बाद त्यागपत्र देकर आपने फिर स्वतन्त्र लेखन अपना लिया।

रचनाएँ

'निशिकान्त', 'तट के बन्धन', 'स्वप्नमयी', 'नवप्रभात', 'समाधि', 'होरी', 'डॉक्टर', 'चन्द्रहार', 'इन्सान', 'क्या वह दोषी था ?', 'प्रकाश और परछाईं', 'बारह एकांकी', 'दस बजे रात', 'आदि और अन्त', 'रहमान का बेटा', 'जिन्दगी के थपेड़े', 'संघर्ष के बाद', 'धरती अब भी घूम रही है', आदि।

संघमित्रा ने अशोक के सामने अपनी दुर्बलता को एक क्षण के लिये भी प्रकट नहीं होने दिया, तब भी नहीं, जब अपने स्वभाव के अनुसार अशोक ने कलिंगकुमार को सूर्योदय से पूर्व प्राणदण्ड दिये जाने की आज्ञा दी, लेकिन एक बात वह स्पष्ट रूप से देख रही थी कि कई दिन से अशोक के स्वभाव में परिवर्तन होता आ रहा है। रक्त-पिपासु अब रक्त से कुछ भय खाने लगा है। अपने हाथों को रक्त से सना देखकर वह रह-रहकर चौंक उठता है। विशेष कर कलिंगकुमार को मृत्यु-दण्ड देने के बाद तो उसके मस्तिष्क की अवस्था बहुत ही विचित्र हो गई है···

यही सोचती-सोचती संघमित्रा कुछ आत्मविभोर-सी हो उठी। कलिंगकुमार का नाम मस्तिष्क में आते ही स्मृति के कुछ बन्द द्वार खुल गये। पुरानी बातें हृदय-पटल पर उभर आईं। तब सुन्दरी संघमित्रा का अरुणाभा वाला मुख रक्तिम हो उठा, नयन प्रेम की पीड़ा से मदिर हो आये, उच्छ्वासों ने वक्षस्थल को आलोड़ित कर दिया। कुमार की मूर्ति पृथ्वी और आकाश को घेरकर उसके सामने खड़ी हो गई··· प्रशस्त ललाट, उन्नत वक्षस्थल, किंचित श्यामल वर्ण, अदम्य विश्वास से पूर्ण नयन और आजानबाहु, एक साथ रक्षा और दण्ड के प्रतीक। उस दिन सिंह का आखेट करते समय स्वयं सम्राट् ने कहा था—"कुमार! तुम्हारा हस्तलाघव देखकर हम प्रसन्न हुए, तुम वीर हो!" कुमार ने तब किंचित मुसकराहट से मस्तक नवाते हुए उत्तर दिया था—"मगध-सम्राट् का हृदय विशाल है।"

तब संघमित्रा का रोम-रोम जैसे उद्वेलित हो उठा था। उसने अपने नयनों में समस्त तृष्णा संचित करके कुमार को देखा था, ऐसे जैसे उसे अपने अन्तस में संजो लेगी। एकान्त पाकर जब उसने स्वयं कुमार की वीरता को सराहा था, तब वह यौवन का प्रतीक, मदिर हास्य बिखेरता हुआ बोला—"राजकुमारी! मुझे खुशी है मगध के लोग वीरों का सम्मान करना जानते हैं।"

राजकुमारी ने उत्तर दिया—"वे स्वयं वीर जो हैं।"

"और सुन्दर भी।"

"सुन्दर?"

"हाँ।"

"सच?"

"क्या तुम्हें साक्षी देना होगा। अपने को ही देखो। तुम्हारे नयन शरत की ज्योत्स्ना को लजाते हैं। तुम्हारा हास्य हिम-शिखर के प्रभात से अधिक मनोरम है। तुम्हारी वाणी में मलय का संगीत है और तुम्हारी गति में यौवन का नृत्य!"

और कहकर राजकुमार हँस पड़ा था। संघमित्रा तब जैसे सुध-बुध खोकर प्रेमल मूर्ति-सी उसे देखती ही रह गई थी। आज भी वह खोई-खोई-सी हो गई, सोचने लगी—"यह सब क्या है ? यह आकर्षण क्यों है ? हृदय में यह धड़कन कैसी है ? यह स्पन्दन किसका है ?"

तब किसी ने कहा था—"यह प्रेम है।"

"प्रेम ?"

संघमित्रा सहसा जाग उठी—"प्रेम ! वह शत्रु से प्रेम करती है। शत्रु उसके हृदय-सिंहासन पर आ बैठा है। शत्रु···उसके भाई का शत्रु ! उसके राजा का शत्रु ! उसके देश का शत्रु···!" वह जैसे रो पड़ेगी। क्षण-भर पूर्व जो अशोक के सामने दृढ़ और स्थिर थी, वही अब प्रेम की ऊष्मा के कारण मोम की भाँति पिघल चली। वह कुमार से प्रेम करती है। उसने महामात्य से कहा था—"कुमार के साथ वही व्यवहार होना चाहिये जो एक वीर पुरुष के साथ होता है।" ठीक है, उसने महामात्य से यह सब कहा था परन्तु उसका अर्थ झुकना नहीं था। नहीं, उसने भइया के सामने अपनी दुर्बलता को तनिक भी प्रकट नहीं होने दिया था···

इसी क्षण न-जाने क्या हुआ ? उसके अन्तस में बैठा हुआ कोई अट्टहास कर उठा—"संघमित्रा ! अपने को इतना धोखा मत दो। निस्सन्देह, तुमने अशोक से सीधी दया की प्रार्थना नहीं की परन्तु जब तुमने उनसे यह कहा था—'सम्राट्, भूलिये नहीं, हृदय की विशालता का नाम ही शौर्य है'—तब उसका आशय यही था—कुमार को क्षमा कर दो।"

जैसे भूचाल आया हो, संघमित्रा ने बड़ी तीव्रता से गरदन को झटका दिया। वह गिरते-गिरते बची, पर दूसरे ही क्षण उसने तीव्रता से कहा—"हाँ ! मैं कुमार को बचाना चाहती हूँ। मैं उससे प्रेम करती हूँ। मैं उससे प्रेम करती हूँ। मैं उसे बचाऊँगी। अवश्य बचाऊँगी। भइया स्वयं बड़े दुखी हैं। कुमार के व्यवहार ने उन्हें आलोड़ित कर दिया है। वह मुझसे कह रहे थे—"क्या शस्त्र के अतिरिक्त किसी का वध करने की कोई और भी रीति होती है ?" क्या इससे स्पष्ट नहीं है कि भइया स्वयं कुमार को मारना नहीं चाहते। हाँ, वह उसे मारना नहीं चाहते। मैं इस दुर्बलता से लाभ उठाऊँगी और कुमार को बचाऊँगी। कलिंग की रणभूमि से उठते हुए चीत्कार ने भइया के वज्र हृदय को हिला दिया है। मैं अब उन्हें और न गिरने दूँगी। कलिंग के नाश के ऊपर नये कलिंग का निर्माण होगा। कलिंग फिर जियेगा और उसके साथ जियेगा मेरा प्रिय कुमार···"

संघमित्रा इस समय बड़ी तीव्रता से आगे बढ़े जा रही थी। वह भूल गयी थी कि उसने सम्राट् से गायिका भेजने की बात कही थी। नहीं, नहीं, वह भूली नहीं। वह सब कुछ जानती है। वह अशोक को संगीत-माधुरी में डुबो देना नहीं चाहती। वह उसके भीतर पश्चात्ताप की आग को धधका देना चाहती है। वह जानती है पश्चात्ताप बढ़ेगा तभी अशोक, कुमार को क्षमा कर सकेगा। प्राणदण्ड की आज्ञा पाकर कुमार ने उनसे

कहा था—"बस, यही तुम्हारी बीरता है ! यही तुम्हारा शौर्य है ! इसी बूते पर सम्राट् बने हो ! एक बन्दी का सिर नहीं झुका सके ! खोपड़ियों को ठुकराने को तो गीदड़ भी श्मशान में घूमा करते हैं। लेकिन वह मानवों का मार्ग नहीं है।" इस बात ने अशोक को बहुत ही विचलित कर दिया है, फिर भिक्षु-श्रेष्ठ उपगुप्त भी सम्राट के पास गये हैं। महेन्द्र भइया भी आ पहुँचे हैं। क्या ये सब उन्हें मानवता के मार्ग पर न ले आयेंगे ? नहीं, नहीं, वे अवश्य सफल होंगे। हो सकता है कुछ देर हो जाये। इसीलिए मैं कुमार के पास रहना चाहती हूँ जिससे आवश्यकता पड़े तो चण्डगिरी को कुछ देर रोक सकूँ।

तब रात बहुत गहरी हो चुकी थी। छावनी में गहन अन्धकार छा रहा था। आकाश में जो प्रकाश था उसने धरती की ओर से नयन मूँद लिये थे। रह-रहकर पहरुये की पुकार दूसरी पुकारों को दबा देती थी। राजकुमारी ने इसी समय उस शिविर के गुप्त द्वार पर आहट की जिसमें कलिंगकुमार बन्दी था। आहट पाकर चण्डगिरी ने अन्दर से पूछा—"कौन ?"

"संघमित्रा।"

चण्डगिरी बाहर आकर बोला—"देवी, इस समय ?"

"हाँ, चण्डगिरी ! राजकुमार से कुछ बातें करनी हैं।"

"आवश्यक ?"

"अति आवश्यक।"

"महाराज···"

बात काटकर संघमित्रा ने कहा—"महाराज एकान्त में हैं। मैं अभी गायिका को भेजकर आ रही हूँ।"

चण्डगिरी ने क्षण-भर सोचा, फिर वह संघमित्रा को अन्दर ले गया। भीतर जाकर संघमित्रा बोली—"बाहर बैठो, चण्डगिरी ! भिक्षु उपगुप्त आयें तो उन्हें आने देना।"

"भिक्षु यहाँ आयेंगे ?"

"हाँ चण्डगिरी ! सम्राट् जो न कर सके उसे भिक्षु करना चाहते हैं।"

चण्डगिरी फिर क्षण-भर सोचता रहा। बाद में बोला—"दण्ड तो स्थिर है।"

"हाँ, जब तक सम्राट् उसे बदल न दें तब तक वह स्थिर है।"

चण्डगिरी ने अब कुछ नहीं कहा। वह बाहर जा बैठा। संघमित्रा प्रकोष्ठ का द्वार खोलकर अन्दर पहुँची। वहाँ दीपक का मन्द प्रकाश मानो सिमटकर बैठा था और कलिंगकुमार की छाया प्रकोष्ठ की एक भित्ति पर ऐसे पड़ रही थी जैसे किसी कुशल चित्रकार ने विश्वास को चित्रित किया हो। आहट पाकर छाया हिली। कुमार ने दृष्टि उठाकर देखा, देखता ही रहा। द्वार पर संघमित्रा निहारती ही रही। कई क्षण इसी अन्तर्द्वन्द्व में बीते, मानो युग बीते। बाद में कुमार ने दृढ़ पर मधुर स्वर में कहा—"बन्दी कलिंगकुमार देवि संघमित्रा को प्रणाम करता है।"

संघमित्रा अब भी नहीं बोली, काँपकर रह गई। कुमार ने फिर कहा—"कोई आज्ञा है?"

संघमित्रा मौन ही रही।

कुमार कहते रहे—"भाई जो नहीं कर सका वह क्या बहन करने आई है?"

संघमित्रा ने अब दो पग धरे और बोली—"तो कुमार मुझे पहचानते हैं?"

कुमार हँसा—"देवि! कलिंगकुमार की स्मृति इतनी मन्द नहीं है कि वह अपने शत्रु को भी न पहचान सके!"

"शत्रु!" संघमित्रा काँप उठी।

"तुम्हें शंका है? कलिंग-भूमि को कलिंग-पुत्रों के रक्त से प्लावित करने वाले अत्याचारी अशोक की बहन क्या मित्र हो सकती है?"

"हो सकती है!" संघमित्रा ने एकदम स्वयं अपने को चकित करते हुए कह दिया।

राजकुमार पहली बार काँपा, पर दूसरे ही क्षण सुस्थिर होकर बोला—"देवि पुरानी बातें याद कर रही हैं।"

"बात कभी पुरानी नहीं होती, कुमार। स्मृति उसे सदा नया रखती है।"

"तुम शायद ठीक कहती हो परन्तु बात पुरानी न होने पर भी उसका प्रभाव बदल जाता है।"

"नहीं कुमार, प्रभाव भी नहीं बदलता। वह केवल अपने से अधिक शक्तिशाली प्रभाव के पीछे छिप जाता है।"

कुमार हँसा, बोला—"शब्दों का यह माया-जाल नारी को ही शोभा देता है।"

संघमित्रा और भी पास आ गई थी, बोली—"शब्दों का मायाजाल भावना की भित्ति पर उठता है, कुमार। तुमने कुछ देर पहले भइया से कहा था—'बस यही तुम्हारी वीरता है! यही तुम्हारा शौर्य है! इसी बूते पर सम्राट् बने हो! एक बंदी का सिर नहीं झुका सके! खोपड़ियों को ठुकराने के लिए तो गीदड़ भी श्मशान में घूमा करते हैं, लेकिन वह मानवों का मार्ग नहीं है।' इसके पीछे भी भावना की शक्ति थी।"

"नहीं···" कुमार ने कहा—"उसके पीछे नग्न सत्य था।"

संघमित्रा अप्रतिभ नहीं हुई। बोली—"कुमार! अंडा स्वयं जीव नहीं होता पर उसके अन्तस में जीव समाया रहता है। नग्न सत्य और भावना की यही स्थिति होती है। भावना मनुष्य का वह बल है जो उसे कभी क्लान्त नहीं होने देता।"

कुमार ऐसे हँसा जैसे कुछ छिपाना चाहता हो, बोला—"देखता हूँ देवि संघमित्रा ने भी अपने भाई की भाँति न हारने का प्रण किया है।"

संघमित्रा ने शीघ्रता से कहा—"मैं प्रण में विश्वास नहीं करती। मैं उत्तर चाहती हूँ।"

कुमार ने दृष्टि उठाई। कुछ कहते-कहते रुका। फिर सुस्थिर स्वर में बोला—

"उत्तर देना कोई कठिन काम नहीं है, देवि। कठिन काम है आश्वस्त करना। और फिर तुम्हें यह न भूलना चाहिए कि बन्दी के जीवन की घड़ियाँ गिनी हुई हैं।"

संघमित्रा ने सहसा धीरे से कहा—"उन्हीं घड़ियों की सीमा तोड़ने तो आई हूँ।"

"तुम्हारा आशय ?"

"मैं तुमसे तुम्हारे प्राणों का दान माँगती हूँ, कुमार !"

"मुझसे !" कुमार अट्टहास कर उठा—"मुझसे ! खूब ! देवि तर्क करने की भाँति नाट्य-कला में भी प्रवीण जा पड़ती हैं, तभी अपने भाई के पास न जाकर मेरे पास आई हैं।"

संघमित्रा उसी प्रकार शान्त स्वर में बोली—"भइया के पास जाकर क्या करती ? वह प्राण ले सकते हैं, दे नहीं सकते। दे तुम ही सकते हो।"

"तो तुम कहना चाहती हो···" कुमार ने किंचित तीव्रता से कहा—"मैं तुम्हारे भइया के पास जाकर क्षमा माँगूँ ? उनकी आधीनता स्वीकार करूँ ?"

"नहीं, नहीं···" संघमित्रा ने शीघ्रता से कहा—"मैं यह कभी नहीं कहती। मैं यह कभी चाह ही नहीं सकती।"

"तो क्या कहती हो ?"

"मैं कहती हूँ सम्राट् यदि तुम्हारी मुक्ति का आदेश दें तो तुम उसे स्वीकार लेना।"

"मगध का क्रूर सम्राट मेरी मुक्ति का आदेश देगा !"

"हो सकता है।"

"पर क्यों ? कैसे ?"

"क्यों और कैसे जानने की इतनी चिन्ता मत करो, कुमार। मनुष्य कब क्या कर बैठेगा कौन जानता है। मगध-सम्राट् की मानसिक स्थिति इस समय ऐसी है कि मेरे कहने पर वह तुम्हें क्षमा कर सकते हैं।"

"तुम ! तुम मेरी मुक्ति की प्रार्थना करोगी !"

"आज्ञा दो तो।"

"पर क्यों ?"

तब राजकुमारी काँप उठी। तभी दीपक की लौ भी काँपी। कुमार की छाया भी हिली जैसे हल्का-सा भूकम्प हुआ हो। एक क्षण बाद राजकुमारी ने दृष्टि उठाकर कहा—"नहीं जानते ?"

"शायद···"

संघमित्रा क्या कहे ? मौन, आत्मविभोर, खोई-खोई-सी वह खड़ी रह गई। फिर जैसे एक गहरा उच्छ्वास उठा। वह जैसे अपने आपसे बोली—'ओह निष्ठुर कुमार ! आखेट के बाद की वह रात भूल गये ! भूल गये वे बातें···!'

"कुमारी कुछ सोच रही हैं"—कुमार ने भी धीरे से कहा।

संघमित्रा ने अब भी कोई उत्तर नहीं दिया। वह जैसे अपने अन्तर की वाणी सुन रही थी। कोई कह रहा था—'तुम अब भी कुमार से प्रेम करती हो। महानाश के बीच भी तुम्हारी प्रणय-ज्वाला मन्द नहीं पड़ी। रक्त-प्लावन ने भी तुम्हारी प्रणय-पिपासा को शान्त नहीं किया···'

वह जैसे तड़प उठी। एक बार कुमार को देखा और फिर जैसे दृढ़ स्वर में अपने मन को ही सुनाने लगी—'प्रणय यदि प्रणय है तो उसे संसार की कोई भी शक्ति विमुख नहीं कर सकती। नारी जिसे एक बार प्यार करती है उसके हाथों अपना रक्त उलीचा जाने पर भी उसे प्यार करती रहती है पर वह प्यार होना चाहिए, प्रणय होना चाहिए।'

यह सोचते-सोचते वह कुछ ऐसी स्थिति में जा पहुँची जहाँ व्यक्ति होता भी है और नहीं भी होता। वह अपने लिए नहीं थी पर कुमार के लिए उसका रूप जैसे प्रेमल ज्योति की तरह भासमान हो उठा। उसे लगा जैसे कुमारी के नेत्रों से झरता हुआ एक परम शान्त, परम उज्ज्वल प्रकाश उसकी ओर बहा आ रहा है और उसका स्पर्श जैसे उसके रोम-रोम को ऐसे सहला रहा है जैसे क्लान्त वदन को कोई मधुर चाप से सहलाता है, जैसे झंझा के झुलसे हुए को मलयानिल की वायु दुलराती है। उस क्षण उसे लगा जैसे संघमित्रा वहाँ नहीं है, वह उसके नेत्रों से होती हुई उसके अन्तस में समा गई है। वह सहसा उच्छ्वासित स्वर में चीख उठा—"कुमारी! तुम कहाँ हो?"

इसके साथ ही इधर संघमित्रा भी उसी कम्पित स्वर में पुकार उठी—"कुमार!"

तब कुमार जागकर भी कई क्षण काँपता रहा। उसकी छाया हिलती रही। तब संघमित्रा ने मृदुल हँसी हँसकर कहा—"डर गये, कुमार!"

"हाँ कुमारी! युद्ध-भूमि में महाप्रलय देखकर भी जो नहीं डरा, पिता को भूलुण्ठित देखकर भी जिसने आह तक नहीं की, सम्राट् अशोक की भ्रकुटि भी जिसकी दृष्टि को नहीं झुका सकी वही कुमार इस क्षण डर गया।"

संघमित्रा फिर हँस पड़ी—"कुमार वीर हैं। उन्हें कौन डरा सकता है?"

कुमार ने शीघ्रता से उत्तर दिया—"दया!"

"दया!"—कुमारी सहसा काँपी।

"हाँ, कुमारी, मुझे डर है कहीं तुम्हारी वर्तमान स्थिति मेरी प्राण-रक्षा का कारण न हो।"

"तो···तो तुम जानते हो···लेकिन···लेकिन मैं पूछती हूँ ऐसा हुआ तो क्या यह बुरा होगा?"

"मगध-सम्राट् ने मेरा सिर काट डालने की आज्ञा दी है, कुमारी। मैं उस आज्ञा का सम्मान करूँगा। कुछ क्षण बाद जब मनमोहिनी उषा जागरण का संगीत अलापती हुई आकाश से उतरेगी तब उसी के साथ मेरी मृत्यु भी मेरा आलिंगन करने आयेगी···"

उसी क्षण द्वार पर आहट हुई। चण्डगिरी ने कहा—"देवि ! क्षमा करें, उन्हें बहुत देर हो चुकी है।"

संघमित्रा ने मानो याचना की—"थोड़ा और ठहरो, चण्डगिरी ! बात पूरी नहीं हुई।"

"देवि की जैसी आज्ञा !"

चण्डगिरी के पद-चाप मिटते न मिटते कुमार ने घृणा से कहा—"संघमित्रा स्वार्थ के लिए इतनी झुकती है !"

"लक्ष्य प्राप्त करने के लिए कुछ भी करना चातुर्य कहलाता है, कुमार।"

"पर मैं ऐसे चातुर्य से घृणा करता हूँ, देवि। मैं अपना मस्तक कभी नहीं झुका सकता, कभी नहीं। मैं मर सकता हूँ पर किसी की दया का भिखारी नहीं बन सकता।"

संघमित्रा ने आह भरकर कहा—"कुमार ! तभी तो मैं तुम्हें प्रेम करती हूँ।"

ये शब्द इतने उच्छ्वासित स्वर में कहे गये थे कि कुमार क्षण-भर के लिए उसे देखता ही रह गया और फिर बोला तो उसके स्वर मे तीव्रता नहीं थी। उसने उच्छ्वासित स्वर में कहा—"कुमारी !" कुमारी जैसे रहस्य-उन्मुक्त हो जाने से काँपती हुई खड़ी रह गई। कुमार ने क्षण-भर मौन रहकर सुस्थिर स्वर में कहा—"कुमारी ! तुम जानती हो मैं बन्दी हूँ।"

"कुमार ! मैं तुम्हें मुक्त करा सकती हूँ—अभी, इसी क्षण !"

"नहीं, कुमारी, नहीं ! मैं मगध-सम्राट् की दया नहीं चाहता।"

"दया नही, कुमार ! वह पश्चात्ताप होगा। सम्राट् तुम्हारे आने के बाद से पश्चात्ताप की आग मे जल रहे हैं। मैंने चण्डगिरी से इसीलिए समय माँगा है। तुम्हारी मुक्ति का सन्देश आने वाला है। भिक्षु उपगुप्त सम्राट् के पास गये हैं।"

"भिक्षु उपगुप्त सम्राट् के पास गये हैं ?"

"हाँ, कुमार ! पर वह तुम्हारे प्राणों का दान माँगने नहीं गये हैं। वह केवल तुमसे बातें करने की आज्ञा माँगने गये हैं, हाँ ! मैं चाहती तो तभी, आँचल फैलाकर सम्राट् से तुम्हें माँग लेती पर···पर···"

"पर···?"

"पर मैं तुम्हें अपमानित करना नहीं चाहती थी।"

"मैं तुम्हारा आशय नहीं समझा, देवि !"

"आशय स्पष्ट है, कुमार। तुम्हारी भाँति मैं भी समझती थी कि तुम पर मेरा दया करना तुम्हारा अपमान होगा। मैंने सम्राट् से तुम्हारे लिए एक शब्द भी नहीं कहा, पर दूसरी ओर उनके भीतर पश्चात्ताप की आग धधकाने में भी कुछ नहीं उठा रखा। मैं भिक्षु उपगुप्त की आज्ञा···"

"क्या ? क्या तुम भिक्षु उपगुप्त से मिली थीं ?"

"वह मेरे होने वाले गुरू हैं।"

"राजकुमारी !"

"ठीक है, कुमार।"

"तो तुम यहाँ तक पहुँच गईं। मुझे बचाने के लिये तुमने इतना कुछ कर डाला।"

"तुम्हें नहीं, कुमार। अपने को बचाने के लिये, अपने स्वार्थ के लिये।"

"ठीक कहती हो, देवि। यह स्वार्थ ही है। सब कुछ स्वार्थ है। इस स्वार्थ से कोई भी अछूता नहीं है। मैं भी नहीं हूँ। मेरा देश-प्रेम, मेरी वीरता, सब स्वार्थ है। परन्तु देवि! मेरा स्वार्थ अभी पूरा नहीं हुआ है। सम्राट् का पश्चात्ताप भी अभी तल पर है। उसे अन्तस की गहराई में जाने के लिये अभी और चोट की आवश्यकता है। विनाश के सम्पूर्ण हुए बिना निर्माण असम्भव है।"

"क्या अभी और विनाश होना शेष है?"

"बहुत शेष है, देवि!"

"क्या कहते हो?"

"ठीक कहता हूँ। अभी मेरा वध शेष है। अभी तुम्हारा हृदय टूटना शेष है। अभी अशोक को अपने पश्चात्ताप से उत्पन्न दी गई आज्ञा का उल्लंघन देखना शेष है।"

पागल-सी संघमित्रा बोली—"क्या कहते हो?"

तभी चण्डगिरी ने आकर कहा—"देवि! सम्राट् की आज्ञा-पालन की वेला आ पहुँची है।"

कुमार उस ओर कान दिये बिना बोलता रहा—"मैं ठीक कहता हूँ, देवि संघमित्रा! मैं तुम्हें प्रेम करता हूँ, अपने जीवन से बढ़कर प्रेम करता हूँ। तुमसे भी अधिक अपने देश को प्रेम करता हूँ। उससे भी अधिक मैं मनुष्य को प्रेम करता हूँ; पर मनुष्य तो आज सोया हुआ है। उसे जगाने के लिए अभी और बलिदान की जरूरत है। कलिंगकुमार प्रणय से नहीं डरता, नारी से नहीं डरता, संघमित्रा! यदि तुमने मुझे प्रेम किया है तो समझ लो तुम्हारा प्रियतम कलिंग के रक्त-यज्ञ में अपने रक्त की पूर्णाहुति देकर उसे सम्पूर्ण करना चाहता है। यदि तुम मुझे प्रेम करती हो तो मैं तुम्हें निमन्त्रण देता हूँ कि तुम भी इस यज्ञ में आहुति दो। अपने प्रणय का बलिदान करो। कलिंग-नारियों के रोदन में अपना रोदन मिला दो जिससे धरती-अम्बर काँप उठें, महानाश पूर्ण हो जाये और महतिनिशा के बाद ऊषा का उदय हो···"

तब जैसे बिजली कौंधी। कुमार तड़पकर उठा और उसने विमूढ़ से खड़े चण्डगिरी की कटार निकाल ली, और इससे पूर्व कि कुमारी झपटे उसे अपने वक्षस्थल में भौंककर धरती पर गिर पड़ा। बोला—"अब, अब संघमित्रा! जितना चाहे प्यार कर लो, मैं जीत गया। तुम्हारे प्रियतम को हत्यारे के हाथ नहीं छू सके।"

हतभागिनी-सी संघमित्रा दौड़कर कुमार की छाती के पास गिर पड़ी, चीत्कार तो क्या मुख से अस्फुट स्वर तक न निकल सका। क्षण आये, क्षण गये, उसने जैसे अब कटार को देखा तो गिड़गिड़ाई—"चण्डगिरी, चण्डगिरी···!"

विमूढ़ से चण्डगिरी ने कटार बाहर खींच ली। रक्त बहकर संघमित्रा के ऊपर

आया पर उसे देखने को चण्डगिरी रुका नहीं, बाहर भागा। यह सब पलक मारते ही हो गया। उसको बाहर जाता देखकर संघमित्रा जागी। तड़पकर बोली—"चण्डगिरी! कटार मुझे दो! यह कटार मुझे दो!"

उसी समय शिथिल होते हुए कुमार ने उसका आँचल पकड़कर कहा—"प्रणय-वेला में छोड़े जाती हो! मेरे सामने बैठो कि तुम्हें देखते-देखते जाऊँ जिससे जन्म-जन्म तुम्हें पा सकूँ। प्रणय कभी कायर नहीं होता और बलिदान से नयी मानवता जागती है, संघमित्रा! तुम्हें जीना होगा।"

आगे शब्द शिथिल होने लगे। संघमित्रा ने अब उठने की चेष्टा नहीं की। उसने कुमार के सिर को अपनी गोदी में रख लिया और अपलक मन्द पड़ते उन तेजस्वी नेत्रों को देखने लगी। तभी द्वार पर फिर आहट हुई। तेजी से भिक्षु उपगुप्त के साथ कुमार महेन्द्र ने भीतर प्रवेश किया। महेन्द्र बाहर से ही बोल रहे थे—"संघमित्रा! सम्राट् ने कुमार को क्षमा कर दिया। कुमार अब स्वतन्त्र हैं। उनका देश स्वतन्त्र है···"

बोल चुका तो नीचे देखा। नेत्रों के आगे की धरती डोल उठी—"क्या! क्या चण्डगिरी दो क्षण भी नहीं रुक सका?"

वहीं बैठे-बैठे संघमित्रा बोली—"चण्डगिरी को कुछ नहीं करना पड़ा। सम्राट की दया की बात सुनने से पूर्व ही कुमार ने प्राणों का अन्त कर डाला।"

"तो कुमार ने आत्महत्या की!" विमूढ़-से महेन्द्र ने कहा।

"नहीं···!" भिक्षु ने सुस्थिर स्वर में कहा—"कुमार ने इस रक्तयज्ञ में पूर्णाहुति दी है। उसने मेरा मार्ग प्रशस्त कर दिया। अब मनुष्यता जागेगी, अवश्य जागेगी।"

सम्भवतः यही शब्द सुनने के लिये कुमार के नेत्र अभी तक खुले थे। भिक्षु के बोलते-बोलते वे मुँद गये।

२२

सुजाता

शंकर पुणतांबेकर

●

श्री शंकर पुणतांबेकर का जन्म सन् १९२३ में कुंभराज, मध्य-भारत में हुआ था। शिक्षा ग्वालियर और आगरा में हुई। आपने हिन्दी तथा इतिहास में एम० ए० और एल-एल० बी० की परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं। कहानियाँ और एकांकी-नाटक लिखने में आपकी विशेष रुचि है। हिन्दी की विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रायः आपकी रचनाएँ प्रकाशित होती रहती हैं।

आजकल भेलसा, मध्य-प्रदेश में कालिज में इतिहास के प्राध्यापक हैं।

रचनाएँ

'कल्याणी', आदि।

सूर्य अस्ताचल की ओर जा रहा था। क्षितिज में बादल के एक टुकड़े को जैसे लाल रंग में से डुबोकर बाहर निकाला था। उसमें से होकर बिखरी हुई किरणें यत्र-तत्र गुलाबी आभा बिखेर रही थीं। प्रकृति को एक अनुपम सौन्दर्य प्राप्त हो गया था। प्रकृति ही नहीं मनुष्य-निर्मित झोंपड़ियों, अट्टालिकाओं और राजप्रासादों को भी एक अनुपम सौन्दर्य प्राप्त था। विदर्भाधिपति यज्ञसेन के राजमहल को अपनी सुन्दरता और भव्यता का पहले से ही गर्व था, फिर इस समय तो उसे और भी अधिक गर्व हो आया था। सचमुच था भी वह सुहावना। नगर की अन्य अट्टालिकाओं से दूर खड़ा जैसे कहता हो—'तुम दूर ही रहो अट्टालिकाओ, मेरे पास आने की तुम लोगों की पात्रता नहीं।' सूर्य भगवान् अभी पूर्णतया विदा भी नहीं हुए और उधर प्रासाद में दीप भी जगमगा उठे, जैसे भगवान् को यह कहने के लिए आलोकित हो उठे हों—'अब आप कुछ देर विश्राम कीजिये, महाराज। आपका कार्य-भार हम सँभाल लेंगे।' पर भगवान् उनकी ओर देखकर जैसे मौन ही हँस रहे हों—'तुम मेरा कार्य-भार सँभालोगे! असम्भव। तुम्हारी शक्ति तो बहुत ही सीमित है। फिर तुम पक्षपाती हो। तुम राजमहल प्रदीप्त कर सकोगे, झोंपड़ी तो नहीं!'

पर सूर्यास्त होने पर आज तो विदर्भ की इस राजनगरी में घर-घर दीपमालाएँ प्रदीप्त हो उठीं। झोंपड़ियों में भी आज अन्धकार न था। प्रासाद में अन्य दिनों की अपेक्षा आज दीपों की जगमगाहट अधिक थी।

आज इस नगरी का एक अपूर्व दिन था। प्रातः से ही यहाँ का वातावरण हर्ष, आनन्द और प्रसन्नता से परिपूरित था। जहाँ-तहाँ चहल-पहल थी। द्वार-द्वार पर बन्दनवार झलक रहे थे। सूर्य की प्रथम किरण के साथ ही सुन्दर सजे हुए रथ में महाराज यज्ञसेन की सवारी प्रासाद में से निकल पड़ी। उनके पीछे निकल पड़े राज-दरबारी और सेना के उच्च अधिकारी। रथ के आगे-आगे दुन्दुभी बजती जा रही थी। महाराज की सवारी राजपथ से होती हुई नगर के प्रमुख मार्ग पर आई। ज्यों ही दुन्दुभी का स्वर कानों में पड़ता था लोग अपने-अपने गृहों में से निकल मार्ग के किनारे खड़े हो जाते थे। स्त्रियाँ छतों पर पहुँच रही थीं। महाराज की सवारी पास आते ही उच्च स्वर में जयघोष हो उठता। स्त्रियाँ-पुरुष गुलाल, अबीर और फूलों की वर्षा करते। महाराज हाथ जोड़कर सबका अभिवादन करते।

प्रातःकाल का यह कार्यक्रम समाप्त होने पर राज्य की ओर से नगरभोज हुआ था। स्त्री-पुरुष-बच्चे, सधन-निर्धन सभी को राज्य की ओर से निमन्त्रण था। स्वादिष्ट भोजन के साथ-साथ भरपूर दक्षिणा भी लोगों ने पाई थी। अपने महाराज को कितनी

दुआएँ दी थी उन्होंने !

अपने-अपने घरों के बाहर दीपमालिकाएँ प्रज्वलित कर लोग अब भी शान्ति से न बैठे। वे अधीर थे—झटपट तैयारी करके राजप्रासाद के पार्श्व के विस्तीर्ण प्रांगण में पहुँचने के लिए। वहाँ उन्हें नृत्य देखने तथा संगीत सुनने को मिलेगा। नगर के सभी व्यक्तियों को आमन्त्रित किया गया था।

यह सब किस कारण था आज यहाँ !

आज विजयोत्सव मनाया जा रहा था। महाराज यज्ञसेन ने मगधाधिपति पुष्यमित्र का वीरता से सामना किया था और उन्हें मगध वापिस जाने के लिए बाध्य किया था।

प्रासाद के कर्मचारी आयोजन की तैयारी में व्यस्त थे। महाराज का आसन सुन्दरता से सजाया गया था—उनके आसन के नीचे राजदरबारियों के बैठने की व्यवस्था हुई। महारानी तथा अन्य भद्र महिलाओं के भी आसन लग गये। राज-नर्तकियों के स्थान भी सुरक्षित कर दिये गये। प्रजाजनों के बैठने के लिए स्वच्छ चादरें बिछीं। देखते-देखते भीड़ बढ़ने लगी। दरबारी आ गये। नर्तकियाँ भी समय पर उपस्थित हुईं। बस, अब महाराज के आने का ही विलम्ब था।

इस समय का यह आयोजन नाच और गान के लिए ही नहीं था। इस आयोजन का प्रमुख हेतु था—वीर सैनिकों का सम्मान। युद्ध में तीन वीरों ने विशेष रूप से नाम कमाया था। वे थे मदन, पुष्पक तथा सुनाम। तीनों ही राजासन की दाहिनी ओर अपने लिए रक्षित स्थान पर आकर अधिष्ठित हो गये थे। लोगों की दृष्टि उन्हीं पर थी।

पर कुछ लोग ऐसे भी थे जिनकी दृष्टि दूसरी ओर ही थी। नर्तकियों के लिए निर्धारित स्थान में जो कुछ वे देख रहे थे वह उनके लिए अनुपम था। इस समय वहाँ केवल दो नर्तकियाँ थीं, पर उनमें से एक उनकी दृष्टि के लिए विशेष आकर्षण का कारण थी। कानाफूसी करने के बाद उन्हें ज्ञात हुआ कि वह सुजाता थी। सुजाता के सम्बन्ध में उन्होंने कितनी ही बातें सुनी थीं—वह अच्छा नाचती है, अच्छा ही गाती है।

अपने मंत्री भद्रक के साथ शीघ्र ही महाराज यज्ञसेन की सवारी वहाँ उपस्थित हुई। लोग उठ खड़े हुए। उच्च स्वर में जयघोष हुआ। महाराज ने अपना आसन ग्रहण किया। लोग भी अपने-अपने स्थान पर चुपचाप बैठ गये।

प्रांगण के मध्य में दो हाथ ऊँचा, लगभग दस हाथ लम्बा-चौड़ा संगमरमर का एक चबूतरा बना हुआ था, उस पर सुन्दर बिछायत की गई थी। चारों कोनों पर खम्बे गाड़कर ऊपर चाँदनी तान दी गई थी। खम्भों को आम के पत्तों से मढ़ दिया गया था। कीमती रंगीन वस्त्रों की झालर से तथा प्रकाश की जगमगाहट से वह स्थान बहुत ही मनोहारी बन गया था। मंच पर एक ओर नाना प्रकार के वाद्य लिए वादक बैठे हुए थे।

महाराज के आसीनस्थ होने पर एक कर्मचारी नर्तकियों की ओर गया।

नीलमणि उठ खड़ी हुई और मंच की ओर चली। दर्शकों की ओर से करतल-ध्वनि हुई। नीलमणि ने अपने नाच और गान से दर्शकों को मोह लिया। घण्टे-डेढ़ घण्टे के बाद वह लौटी।

और अब बारी आई सुजाता की। सुजाता उठी। उसके उठते ही दर्शकों में से करतल-ध्वनि हुई, पर होकर शीघ्र ही रुक नहीं गई, होती ही रही। अन्त में अधिकारियों को उठकर चुप रहने के लिए कहना पड़ा।

सुजाता मंच की ओर चली। उसके अंग-अंग में चपलता थी। अंग-प्रत्यंग से जैसे मादकता छलक पड़ती थी। उसके यौवन का उभार दर्शकों के नेत्रों का केन्द्र बन गया था। उसके अंजनयुक्त नेत्र टेढ़ी भृकुटियों का आधार ले युवकों के हृदय को विद्ध किये जा रहे थे। उसकी लम्बी वेणी नागिन की तरह हिलोरें ले रही थी। उसकी कटि की कृशता ने तथा नितम्बों की पुष्टता ने किसका मन हरण नहीं किया था? नृत्य के सुन्दर वेश में मंच की ओर जाती हुई वह लोगों को ऐसी लगी जैसे स्वर्ग से कोई अप्सरा उतर आई हो।

और जब सुजाता ने नृत्य आरम्भ किया, लोग जैसे इन्द्र-दरबार में ही पहुँच गये। ई० पू० दूसरी शताब्दी के सीधा-सादा जीवन व्यतीत करने वाले लोग वे—उन्होंने आज तक देखी थीं लड़ाइयाँ, मार-काट। नाच-गान उन्होंने देखा-सुना नहीं था, ऐसी बात नहीं, पर सुजाता जैसा सुन्दर नाच उन्होंने कथाओं में ही सुना था।

सुजाता जैसा सौन्दर्य भी शायद उन्होंने आज ही देखा था। अपनी नगरी में ऐसी अनुपम सुन्दर नर्तकी है इस बात का एकबारगी उन्हें अभिमान हो आया।

नृत्य और गायन-कला का प्रदर्शन करके जब सुजाता अपने स्थान की ओर चली महाराज यज्ञसेन भी जैसे किसी सुन्दर स्वप्न में से जागते प्रतीत हुए।

और अब बारी आई उन तीन वीरों के सम्मान की। महाराज स्वयं उनके गले में हार डालने को थे, साथ ही सेना में उच्च-पद की नियुक्ति का पत्रक भी उन्हें प्राप्त होना था।

सूचना मिलने पर वे तीनों सैनिक मंच पर उपस्थित हो गये।

मंत्री भद्रक भी वहाँ आये। उन्होंने अपने संक्षिप्त भाषण में तीनों वीरों का नाम लेते हुए उनकी वीरता पर प्रकाश डाला। इन वीरों का राज्य की ओर से कैसा सम्मान होने को है यह भी कहा।

उन तीनों वीरों में मदन की ओर देखकर दर्शकों को बड़ा आश्चर्य हो रहा था। उसके दुबले-पतले शरीर और अवयवों की कोमलता को देखकर उसे सैनिक कहना उपयुक्त प्रतीत न होता था—वीर सैनिक कहना तो कदापि नहीं। देखने में भी वह कितना सुन्दर था!

महाराज मंच पर आये। पहले पुष्पक के गले में, फिर सुनाम के गले में महाराज ने हार डाले, उन्हें उनके नियुक्ति-पत्रक भी दिये। प्रचण्ड करतल-ध्वनि दर्शकों में हुई। अब महाराज मदन की ओर बढ़े। उसके गले में वह पुष्पहार डालने को ही थे कि

राजदरबारियों में बैठे एक व्यक्ति ने एकदम उठकर ऊँचे स्वर में कहा—"कृपया रुकिये महाराज !"

महाराज ने मुड़कर एकदम पीछे देखा। वह ही नहीं सभी इस स्वर से चौंक उठे। खड़े हुए व्यक्ति से महाराज ने पूछा—"क्या बात है, नकुल ?"

"महाराज !" नकुल बोला—"आप एक नीच वंश के व्यक्ति के गले में हार डाल रहे हैं।"

यह सुनकर क्षण-भर के लिए सभी स्तम्भित हो गये।

मंत्री भद्रक बोले—"यह तुम क्या कह रहे हो, नकुल ?"

"मैं ठीक ही कह रहा हूँ। आप नहीं जानते मदन कौन है। वह एक नर्तकी का भाई है।"

"नर्तकी का भाई !" महाराज चौंककर बोले।

"हाँ महाराज ! एक निम्न वंश के व्यक्ति का महाराज द्वारा सम्मान ! जनता कल यही कहेगी—इस राज में ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र समान है।"

"शूद्र कौन है ?" जैसे बिजली कड़क उठी। सबकी आँखें उधर मुड़ीं जिधर से यह वज्रपात हुआ। ओह, सुजाता !—जिसके गले से मधुर स्वर अभी-अभी बहा—उसी कण्ठ से ऐसी कठोर ध्वनि !

"महाराज !" नकुल सुजाता की ओर अँगुली निर्देश करते हुए बोला—"यही है वह नर्तकी जिसका मदन भाई है।"

"नर्तकी का भाई !" महाराज की भृकुटियों पर बल पड़ा। वह मंच से उतर अपने आसन पर बैठ गये।

"क्या इस वीर का सम्मान नहीं होगा ?" सुजाता ने पूछा।

"इस निम्नवंश के व्यक्ति को हार पहनाने के लिए कह रही हो हमें तुम, सुजाता !"

"यहाँ किसी वंश या जाति के व्यक्ति का सम्मान नहीं हो रहा है !" सुजाता दृढ़ता से बोली—"हो रहा है वीरों का सम्मान ! मदन वीर है। उसने अपनी वीरता का प्रमाण दिया है।"

इस अनुपम सुन्दरी में इतना साहस भी हो सकता है इसका दर्शकों ने अनुमान भी न किया होगा।

"हम मानते हैं प्रमाण दिया है···" महाराज बोले—"पर एक नर्तकी का वंश एक नर्तकी का ही वंश है। उस वंश के व्यक्ति को हम हार पहनाएँ यह लज्जा की बात है।"

"आप जाति या वंश से व्यक्ति की महत्ता नापते हैं, उसके कार्यों से नहीं ! एक नीच-जन्मा व्यक्ति लड़ाई में शौर्य दिखलाता है तो उसका आप सम्मान नहीं कर सकते। हाँ, आप उस व्यक्ति का सम्मान अवश्य करेंगे जो राजकुल में जन्मा है और लड़ाई के मैदान से भागा है।"

"सुजाता !" मंत्री भद्रक चिल्ला पड़े।

"महाराज, जिस नर्तकी के पेशे को अपनाकर मैं और मेरा वंश नीच बन जाता है, तो वीरता और शूरता के कार्यों को अपनाकर वह उच्च वंश क्यों नहीं बन सकता ? देश की रक्षा के लिए जो प्राण हथेली पर रखकर लड़ता है, वह नीच-जन्मा होकर भी राज्य में सम्मान का पात्र नहीं हो सकता यह कहाँ का न्याय है ?"

लोग मंत्रमुग्ध हो रहे थे। शायद ऐसी चर्चा सुनने का अवसर उन्हें कभी प्राप्त नहीं हुआ था।

"सम्मान का पात्र भी हो जाये तो शरीर का रक्त तो नहीं बदला जा सकता।" महाराज बोले।

"शरीर के रक्त से और मनुष्य की कृतियों से क्या सम्बन्ध ? राजघराने के सभी व्यक्ति तो बहादुर नहीं जन्मते ! और फिर लड़ाइयाँ साधारण रक्त के शूरवीरों की बहादुरी से ही जीती जाती हैं।"

हँसकर महाराज बोले—"अपने कला-चातुर्य से तो रिझा सकती हो तुम, सुजाता, वाग्चातुर्य से कदापि नही। मुझे यह देखकर प्रसन्नता हुई कि तुम-जैसी सुन्दर नर्तकी बुद्धिमती भी है। नाम भी बड़ा सुहावना है तुम्हारा—सुजाता—सु-जाता। मदन यदि अपनी वीरता का एक बार और परिचय दे, तो उसका भी ऐसा ही सम्मान होगा जैसा अभी होने को था।"

इतना कहकर महाराज अपने आसन से उठ खड़े हुए और प्रासाद की ओर चल पड़े। सुजाता की 'यह पक्षपात है, यह पक्षपात है—' की ध्वनि शायद उनके कानों तक पहुँची नहीं।

अब तक स्थितप्रज्ञ खड़ा मदन सुजाता की ओर दौड़ा। उसे सिसकियाँ भर आईं। सुजाता ने उसे अपने हृदय से लगाया और उसकी पीठ पर माता की तरह हाथ फेरने लगी।

जनता के करुणा से भरे नेत्र कह रहे थे—'इन बेचारों के साथ न्याय नही हुआ।'

* * *

उस रात बड़ी देर तक सुजाता को नींद नहीं आई। अपनी सुन्दर अट्टालिका, सुख-सामग्रियाँ, यहाँ तक कि अपनी सुन्दर देह की भी उसे घृणा हो आई। वह सोच रही थी क्या यह ईश्वर-प्रदत्त सौंदर्य, स्वकष्टार्जित नृत्यगान की ये कलाएँ पाप हैं जिन्होंने उसकी आज यह दुर्दशा की। वह नर्तकी है—समाज में गिरी हुई है—ठीक है, पर उसके भाई ने क्या किया है ? जो प्राणों की बाजी लगाकर देश की रक्षा के लिए लड़ता है वह भी समाज में हेय है क्योंकि वह शरीर-प्रदर्शन करके पेट भरने वाली का भाई है।

प्रातः सुजाता की नींद खुली तो उसने देखा—मदन का बिस्तर खाली है।

जब सन्ध्या ढल जाने के बाद भी मदन नहीं लौटा तो उसे दुःख हुआ और

रोष भी—मूर्ख, भाग गया कहीं, इतना समझाने के बाद भी। गुण का महत्त्व सम्मान के अभाव में कम नहीं हो जाता। उसकी अवहेलना करने पर भी नहीं। गुण अपनी परीक्षा देने के लिए भी नहीं डरता, बार-बार परीक्षा देने के लिए तत्पर रहता है। उसकी हमेशा जीत होती है। एक बार नहीं, सौ बार अपनी वीरता की परीक्षा दो, और यह सिद्ध कर दो कि वीरता किसी का एकाधिकार नहीं! और फिर इस परीक्षा में इसलिए नहीं उतरना है कि सम्मान का लोभ है। सम्मान का अवसर आये भी तो उसे ठुकरा दो। कहो—देश के लिए बहादुर बनना हरेक का कर्तव्य है; कर्तव्य का कहीं सम्मान होता है! इस सम्मान-दिवस की अपेक्षा वह दिन महान् होगा, जिस दिन बहादुरी से लड़ते-लड़ते लड़ाई के मैदान में सो जाओगे।

फिर भी वह भाग गया···

दरवाजे पर आहट हुई। वह प्रसन्न हो उठी। तो मदन वापिस आ गया। उसने दरवाजा खोला, पर देखा तो मदन नहीं था। थे यज्ञसेन महाराज के चचेरे भाई माधवसेन। दरवाजा खुलते ही वह अन्दर घुसे।

"आज महल में नृत्य के लिए नहीं गईं?" वह बोले।

"नहीं!"

सुजाता ने दरवाजा बंद कर दिया, फिर माधवसेन को बैठने के लिए मृगासन दिया। स्वयं भी एक आसन पर बैठी।

"कल महाराज ने तुम्हारे भाई के साथ जो अन्याय किया उससे मुझे बड़ा दुःख हुआ, सुजाता।"

"महाराज हैं वह, न्याय-अन्याय उनके अधिकार की बात है।"

"अन्याय करने का अधिकार किसी भी राजा को नहीं होता, सुजाता!" माधवसेन बोले—"तुम नहीं जानतीं यज्ञसेन को मद का नशा चढ़ा हुआ है। मगध राज्य से अपने को स्वतंत्र घोषित तो कर दिया है पर पुष्यमित्र चैन नहीं लेने देगा। उसने इस राज्य पर धावा बोल ही तो दिया था। यज्ञसेन महाराज समझते हैं कि पुष्यमित्र को अपनी बहादुरी से मार भगाया, पर यूनानियों के भारत में घुस आने के कारण पुष्यमित्र को यहाँ से तुरन्त वापिस जाना पड़ा, अन्यथा न होते आज यज्ञसेन और न उनका अहंकार ही! तुम्हें इस अन्याय का बदला लेना चाहिए, सुजाता।"

"बदला!" सुजाता हँसी—"एक साधारण नर्तकी और महाराज से बदला ले!"

"तुम अपने को साधारण नर्तकी समझती हो, सुजाता। राज्य की सभी नर्तकियों में तुम्हारा स्थान अग्रगण्य है। तुम्हारे नृत्य के लिए यज्ञसेन कितने लालायित रहते हैं! प्यालियों पर प्यालियाँ चढ़ाते हुए जब वह तुम्हारा नृत्य देखते हैं, अपने आपको भूल जाते हैं···"

सुजाता कुछ न बोली।

"नकुल को खूब अच्छा पाठ सिखाना होगा। उसी ने यह सब आग

लगाई है।"

"नकुल!" सुजाता बोली—"एक बार उसने मुझसे घृणित प्रस्ताव किया था। मैंने झिटकार दिया था। तभी से वह क्रुद्ध है मुझ पर। जाने दो, उसने अच्छा ही किया। समाज में हम क्या हैं जान तो सके।"

"चोट को चुपचाप सह लेना मनुष्य की कमजोरी है, सुजाता। तुम समाज में क्या नहीं हो! राजदरबार तक तुम्हारी पहुँच है। तुम्हारे एक-एक अंग-विक्षेप पर राजा-महाराजा सिर हिलाते हैं। तुम चाहो तो उन्हें धराशायी कर सकती हो।"

माधवसेन चुप हो गये, अपनी बातों का सुजाता पर प्रभाव जानने के लिए। लगा जैसे उसकी आँखें बड़ी-बड़ी होती जा रही थीं। कुछ देर पश्चात् उन्होंने फिर बोलना आरम्भ किया—"महाराज यज्ञसेन तुम्हारे हाथ की कठपुतली ही समझो, सुजाता। महल में तुम नृत्य के लिए जाती हो। जिस कक्ष में नृत्य के लिए तुम वस्त्र बदलती हो उसी से लगे दूसरे कक्ष से महाराज के लिए मद्य पहुँचाया जाता है। क्यों नहीं अवसर पाकर चुपके से तुम महाराज को पहुँचाई जाने वाली सुराही में विष घोल देतीं···"

"माधवसेन!" सुजाता चौंकी।

"हाँ, तुम पर कोई भी सन्देह नहीं कर सकता। यज्ञसेन का अन्त तुम्हारी कितनी बड़ी विजय होगी! इधर यज्ञसेन का अन्त होगा उधर शासन के सारे सूत्र मेरे हाथ में होंगे। दूध की मक्खी के समान जिस भाई के साथ व्यवहार किया जाता है, वह विदर्भ का सत्ताधिकारी होगा। फिर देखता हूँ तुम्हारा अपमान कौन करता है?"

"अपनी मान-रक्षा के लिए मैं महाराज को विष दूँ! माधवसेन, अपने स्वार्थ के लिए तुम मुझे यह क्या करने को कह रहे हो?"

"सुजाता!" माधवसेन बोले—"मैं जानता हूँ इसमें मेरा स्वार्थ है, पर स्वार्थपूर्ति हो जाने के बाद तुम समझती हो मैं तुम्हें और तुम्हारे भाई को भूल जाऊँगा? मदन होगा विदर्भ की सेना का सेनापति और तुम—तुम कहलाओगी विदर्भ की महारानी!"

"महारानी!" सुजाता चौंक पड़ी।

"हाँ, सुजाता।"

* * *

रात्रि के समय राजमहल में सुजाता का नृत्य चल रहा था। सामने महाराज आराम से बैठे हुए थे। राजमंत्री भद्रक और महाराज का दाहिना हाथ माने जाने वाले चार-छः दरबारी भी उनके साथ थे। उनमें नकुल भी था। आज ये सबके-सब मौत के शिकार बनेंगे। सुजाता ने मद्य की उस सुराही में जिसे महाराज के सामने लाकर रख जाता है विष घोल दिया है। थोड़ी देर में सेविकाएँ वह सुराही लायेंगी। देख लो लोगों, नृत्य देख लो! यह तुम्हारे लिए अन्तिम नृत्य होगा। उसका भी यह अन्तिम ही नृत्य होगा। महारानी बनने के बाद क्या वह नाचती फिरेगी? नहीं, वह

स्वयं इस भवन में बैठकर नृत्य देखेगी। आज जिस सत्ता को तुम लिए हो—कल वह उसके हाथ में होगी। आज तुम्हारे सामने सुन्दर नर्तकी नहीं नाच रही है, नाच रही है एक नागिन जो एक-एक को डसकर रहेगी। जिसे तुम सुजाता कहते हो वह सचमुच नागिन ही है···नागिन···सुजाता···नागिन···सु–जाता···

सुजाता के मस्तिष्क में तूफान उठ आया। नृत्य में उसके पैर डगमगाने लगे। अब तक सुराही महाराज के सामने लाकर रख दी गई थी। सेविका प्यालों में मद्य उँड़ेलने के लिए उसे उठाने को ही थी कि नाचती-नाचती बिजली की गति से सुजाता वहाँ पहुँची और उसने सुराही को एक ठोकर मार दी।

काँच की उस सुराही के टुकड़े-टुकड़े हो गए।

नकुल चिल्ला पड़ा—"सुजाता, तुम पागल हो गई हो क्या?"

पर सुजाता अपने वस्त्र बदलने के कक्ष की ओर दौड़ पड़ी और धम्म से जाकर गिर गई।

* * *

इस घटना के बाद सुजाता के शरीर में जैसे शक्ति ही नहीं रही थी। सुबह वह बिस्तरे पर से उठ न पाई। माधवसेन ने जब रात की घटना सुनी तो वह दौड़े-दौड़े सुजाता के पास आये। उसे बिस्तरे पर पड़ा देख उन्हें आश्चर्य हुआ।

"क्या हो गया तुम्हें, सुजाता?" उसके सिराहने बैठते हुए वह बोले।

"मेरा अंग-अंग टूट रहा है।"

"कल रात अचानक तुम्हें क्या हो गया? हाथ आये अवसर को खो दिया।"

"अवसर तो अभी बहुत से आयेंगे, माधवसेन! ऐसी जल्दी भी क्या है! बिल्ली चूहों को खाने के पूर्व उनका खिलवाड़ करती है। मैं भी इन चूहों का खिलवाड़ ही कर रही हूँ। एक दिन सबके-सब धरे रह जायेंगे।"

माधवसेन प्रतिदिन आते, पर प्रतिदिन ही वह देखते—सुजाता बिस्तरे पर पड़ी हुई है। वह नगर के अच्छे-से-अच्छे वैद्य को लाये थे। उसकी औषधि चल रही थी, पर एक महीना होने को आया, सुजाता के सुधरने के लक्षण न दिख रहे थे। वैद्य से उन्होंने बार-बार पूछा था कि सुजाता को क्या बीमारी है, पर वैद्य निदान न कर पाया था। सुजाता कब अच्छी होती है और महल में जाती है इसके लिए माधवसेन बड़े अधीर हो उठे थे।

और एक दिन उन्होंने सुना कि मालवा का शासक अग्निमित्र—जो पुष्यमित्र का बेटा था—विदर्भ से युद्ध करने के लिए निकल पड़ा है। उसका सामना करने के लिए विदर्भ जागरूक हो गया है। यज्ञसेन, भद्रक, सेनापति वीरसेन तथा अन्य प्रमुख अधिकारी रात में भी स्वस्थ हो सो नहीं सकते हैं। अब मदिरा, नृत्य और राज के अन्य विलास बन्द हैं। अब काम है हथियारों से—सैनिकों से! अब महाराज का ध्यान राजमहल में नहीं उसके बाहर है।

"अब क्या होगा, सुजाता? महल में तो सब-कुछ बन्द कर दिया गया है।"

चिंतित होकर माधवसेन ने पूछा।

"युद्ध के बाद देखूँगी, माधवसेन···" सुजाता बोली।

"युद्ध के बाद ?" माधवसेन के स्वर में जैसे उपहास था—"युद्ध के बाद तुम क्या देखोगी, सुजाता ?"

* * *

अग्निमित्र अपनी विशाल सेना के साथ आ धमका। यज्ञसेन भी अपनी पूरी तैयारी कर चुके थे। युद्ध आरम्भ हो गया।

एक दिन सुजाता माधवसेन से बोली—"मदन को अपनी वीरता की परीक्षा देने का फिर अवसर था, पर वह मूर्ख न-जाने कहाँ चला गया है।"

सुनकर माधवसेन बोले—"परीक्षा में उतरने के बाद तुम समझती हो यज्ञसेन उसका सम्मान करते ! मदन का तो अब मेरे ही राज में सम्मान होगा।"

इसके बाद एक दिन शाम को माधवसेन सुजाता के पास आकर बोले—"सुजाता, कल प्रातः तुम सुनोगी कि यज्ञसेन बाजी हार गये—वह अग्निमित्र के बंदी हैं।"

"सो कैसे ?" सुजाता ने चौंककर कहा।

"आज रात बारा के आस-पास अग्निमित्र के चुने हुए कुछ घुड़सवार महाराज के डेरे पर एकदम छापा बोल देंगे।"

"यह तुम्हें कैसे ज्ञात है, माधवसेन ?" सुजाता ने उत्सुक हो पूछा।

"मैंने ही अग्निमित्र को यह सुझाव दिया है। यज्ञसेन की पराजय के बाद वे मुझे ही विदर्भ का शासक घोषित करने वाले हैं। मैं भी उन सैनिकों के साथ रहूँगा, उन्हें गुप्त मार्ग से महाराज तक ले जाने के लिए। सुजाता, एक अवसर हाथ से चला गया तो क्या—यह कितना अच्छा अवसर आ गया है ! तुम्हारे महारानी बनने का समय अब दूर नहीं है, सुजाता।"

* * *

अग्निमित्र के उन चुने हुए सैनिकों को जिनमें माधवसेन भी थे काफी अधिक पहरेदारों का सामना करना पड़ा। ज्ञात होता था कि सेना का काफी बड़ा भाग महाराज की पहरेदारी करता है। सोचा था अचानक टूट पड़ेंगे, पर जैसे ये पहरेदार ही अचानक उन पर टूट पड़े। लड़ते-लड़ते मशालों के प्रकाश में माधवसेन ने जाना जिस घुड़सवार के साथ वह लड़ रहे हैं वह मदन है।

"मदन !" वह बोले—"मैंने तुम्हें पहचान लिया है। तुम तलवार फेंक दो। ज्ञात नहीं, तुम्हारी बहन यज्ञसेन की अब कट्टर शत्रु हो गई है। यज्ञसेन की पराजय के बाद अग्निमित्र मुझे ही शासक बनाने वाले हैं ! अरे, अब भी प्रहार कर रहे हो तुम ! शायद अपनी वीरता की परीक्षा दे रहे हो। पर तुम कितनी ही वीरता क्यों न दिखाओ, यज्ञसेन के राज्य में तुम्हें कोई न पूछेगा। मैंने सुजाता से कहा है कि तुम मेरे राज्य के सेनापति बनोगे और वह बनेगी महारानी।"

फिर भी माधवसेन ने देखा कि मदन तलवार चलाये ही जा रहा है। उन्होंने उसे बार-बार समझाया पर वह न माना।

प्रातः होने पर महाराज के डेरे में मंत्री भद्रक यज्ञसेन से बोले—"माधवसेन के सम्बन्ध मे सोचा भी न था कि शत्रुओं से जा मिलेंगे। और फिर ऐसा धोखा! मदन ने हमें समय पर सूचित न किया होता तो न-जाने क्या होता, महाराज!"

"मदन!" महाराज बोले—"यह वही मदन है—सुजाता का भाई?"

"हाँ महाराज, रात वह बहादुरी से लड़ा भी।"

"ऐसे बहादुर का हम महान्-से-महान् उपहार देकर सम्मान करेंगे।"

उसी समय एक अधिकारी ने आकर सूचना दी—"कल रात मदन घायल हो गया था। वह अभी चल बसा।"

"क्या?" महाराज और भद्रक दोनों के ही मुँह से एकदम निकल पड़ा।

"हाँ, महाराज।"

दोनों ही उठ खड़े हुए और मदन को देखने के लिए डेरे से चल पड़े।

सैनिकों ने शव को पूरा-पूरा फूलों से ढक दिया था, सिर्फ मुँह खुला था जो हँसता प्रतीत हो रहा था।

शव के पास जाकर महाराज बोले—"वीर, सचमुच तुमने अपनी वीरता की दोबारा परीक्षा दी। सुजाता ने ठीक ही कहा था—'शरीर के रक्त से और मनुष्य की वीरता से क्या सम्बन्ध!' माधवसेन ने और तुमने उसकी बात को प्रमाणित कर दिया। हमें दुःख है तुम्हारे जीते-जी हम तुम्हारा सम्मान न कर सके। भद्रक, हमें एक हार दो। हम इस वीर को अभी हार पहनायेंगे। नगर के कुशल शिल्पी से कहो कि इस वीर की एक सुन्दर प्रतिमा तैयार करे।"

शीघ्र ही महाराज के हाथों मे हार आया। भद्रक ने शव का सिर उठाया। महाराज हार पहनाने लगे। हार पहनाते हुए उस वीर का साफा सिर से अलग हुआ।

महाराज और अन्य उपस्थित लोगों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। शव मदन का नही था—था सुजाता का।

महाराज के मुँह से निकल पड़ा—"सुजाता तुम! धन्य हो! तुम तो सचमुच सु-जाता ही निकलीं।"

और उनका कण्ठ भर आया।

२३

नमक के लिए

शशिभूषण सिंहल

●

डॉ० शशिभूषण सिंहल का जन्म सन् १९३३ में लखनऊ में हुआ। लखनऊ विश्वविद्यालय से हिन्दी में एम० ए० और पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की। बी० ए० (आनर्स) तथा एम० ए० (स्पेशल) परीक्षाओं में विश्वविद्यालय में प्रथम स्थान प्राप्त किया। विद्यार्थी-काल से ही लेखन में रुचि है। प्रथम रचना 'इस नाचीज़ का नाम है—कल्लूखाँ' शीर्षक से १९५० में प्रकाशित हुई। तब से निरन्तर साहित्य-सेवा में संलग्न हैं। अनेक रचनाएँ हिन्दी की विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में स्थान पा चुकी हैं।

आजकल जम्मू-कश्मीर विश्वविद्यालय के स्नातकोत्तर हिन्दी-विभाग में प्राध्यापक हैं।

रचनाएँ

'ऐतिहासिक उपन्यासकार वर्माजी', 'उपन्यासकार वृन्दावनलाल वर्मा', आदि।

अन्त में ऊबकर कैदी शाहजहाँ ने शहंशाह औरंगजेब को लिखने का निश्चय किया। औरंगजेब ने सल्तनत छीनी, कैद में डाला। अब वह अपने बाप को पत्रों द्वारा जलील करने पर उतारू था। अनेक दोषारोपण करता। शाहजहाँ ने उन सबका पहला और अन्तिम उत्तर दिया—"बरखुरदार ! हम निहायत नालायक हैं। इसीलिए तुम्हारे कैदखाने की रौनक अफ़रोज कर रहे हैं। लेकिन इतना याद रखो—तुम पर हमारा अहसान ही है ! तुमने सल्तनत हमसे जबरन हासिल की !! और जिन्दगी भी तुमने हमसे पाई !!! क्या खूब ! चोरी और सीनाजोरी !

लेकिन लिहाज से तुम्हारा वास्ता क्या ! अलबत्ता हम शरमिन्दा हैं, तुम्हारे बाप होने के नाते···"

ख्वाजासरा पत्र लेकर अंगूरी बाग में दाखिल हुआ, शंकित हृदय। सामने अंगूरों की बेलों से घिरा आलमगीर औरंगजेब सफेद कपड़ों में टहल रहा था। दाँयें हाथ में घूमती तस्बीह और माथे पर बल। चेहरे की दाढ़ी फुँकारते साँप के फन-जैसी। ख्वाजासरा हिल गया। काँपता हुआ बढ़ा। फर्शी सलाम किया और चिट्ठी पेश की।

शहंशाह ने उपेक्षा से पत्र लिया और झटके से खोला। दृष्टि एक स्थल पर अटकी—"···और जिन्दगी भी तुमने हमसे पाई !!!···" हूँ ! आँखों के डोरे रक्तिम हो गये। माथे की रेखायें सिमटीं। खखारकर थूक सटका। पत्र पढ़कर फेंका जाने वाला था कि अन्तिम पंक्ति गड़ी—"अलबत्ता हम शरमिन्दा हैं, तुम्हारे बाप होने के नाते···"शहंशाह के मुँह पर जैसे जोर का थप्पड़ लगा। दाढ़ी सहलाई। दृष्टि सम्मन बुर्ज की दिशा में, जहाँ शाहजहाँ बन्दी था, केन्द्रित हो गई। आगे ताजमहल की ओर बढ़ी और अदृश्य में खो गई।

न-जाने कब तक यों ही खोया रहता यदि मुँहलगा ख्वाजासरा न टोकता—"जहाँपनाह···!" शायद कुछ नमक-मिर्च लगाना चाहता था। औरंगजेब जगा, जैसे दूसरा तमाचा लगा हो। उबल पड़ा—"निकल कमबख्त यहाँ से !" और दूसरे क्षण पत्र की चिंदियाँ क्यारियों में उड़ रही थीं। ख्वाजासरा के होश उड़ गये, होम करते हाथ जला। सहमी निगाहों से फर्शी सलाम और पीछे कदम। यों ही हटते-हटते आखिर हौज से कमर टकराई, पीछे घूमा और सिर पर पैर रखकर भागा।

* * *

बात आई-गयी हो गई। औरंगजेब ने अपनी भूल स्वीकार की, उसे अपने पिता से ऐसा व्यवहार नहीं करना चाहिए था। शाहजहाँ के कष्टों पर ध्यान दिया गया, वह अरसे से बीमार जो था। उसका प्रिय हकीम मर चुका था। हकीम का

पुत्र था, मुकर्रम खाँ। तीस वर्ष की आयु में ही खासा ख्याति-प्राप्त चिकित्सक और लगन का। इलाज के लिए मुकर्रम खाँ की नियुक्ति हुई। बादियाँ गुल-अनार, गुलाल और सलोनी भी छम-छम करती सम्मन बुर्ज में आने-जाने लगीं। बुर्ज की यमुना की ओर वाली खिड़कियाँ खुल गयीं। नीचे मैदान में जानवरों की लड़ाई का आयोजन होने लगा। कभी-कभी बुर्ज में महफिल जमने की इजाजत भी मिल जाती। सब इस परिवर्तन से प्रभावित थे किन्तु शाहजहाँ स्वयं चुप था!

यह कौन जानता था कि रहमदिल जहाँपनाह आलमगीर की तेज निगाहें इन साधारण बातों से ऊपर उठकर शाहजहाँ के गुप्त खजाने के हीरे-जवाहरातों को अन्धकार में खोज रही थीं। एक दिन जमी महफिल मे शाहजहाँ को अपने मेहरबान बेटे का पत्र मिला। पत्र में पिछले किये पर पछतावा था। शीघ्र ही हज कराने के प्रबन्ध के आश्वासन के साथ-साथ दबे शब्दों में शाहजहाँ को उसके गुप्त खजाने के हीरे-जवाहरात दान कर देने की सलाह थी। अन्त में इस दान-कार्य का स्वयं भार वहन करने की इच्छा भी प्रकट की गयी थी।

औरंगजेब पत्र भेजकर सन्तुष्ट था। उसने जाल लम्बा फेंका था। आठ-दस दिन में स्वीकारात्मक उत्तर की आशा थी। नगीना मस्जिद मे वज़ू कर रहा था किन्तु ध्यान उन चकाचौंध कर देने वाले हीरों की कल्पना में था। सोचा, खुदा मदद करे। उठकर खड़ा हुआ कि सामने गुल-अनार पत्र का उत्तर लिये पेश थी। औरंगजेब चकराया। मंत्रमुग्ध-सा पत्र देखने लगा, लिखा था—"काश! तुम्हारे पत्थर-दिल के साथ तुम्हारा दिमाग पत्थर का न होता। गिरगिट के से रंग बदलने वाले औरंगजेब! तुम्हें उन जवाहरातों को देने के बदले उन्हें हकीम के खरल मे डालकर चूर-चूर कर देना ज्यादा पसन्द करूँगा।" हाथ से पत्र गिर गया। वज़ू वाला बँधना भी लुढ़ककर, घन-घन करता हुआ दीवार से जा टकराया।

* * *

जासूसों ने किले का कोना-कोना छान मारा। ताजमहल और किले के बीच की सुरंग का चप्पा-चप्पा खोद डाला गया किन्तु शाहजहाँ के गुप्त हीरों-जवाहरातों का पता न लगा, न लगा। औरंगजेब कभी झुँझलाता, फुँकारता; कभी षड्यंत्र सोचता और मुट्ठियाँ बाँधकर रह जाता। हृदय मे कभी-कभी एक टीस जगती, मन गिरने-सा लगता। क्या यह पश्चात्ताप की लहर थी! शाहजहाँ का वह पत्र भी उसे भुलाये न भूलता था। वे दो वाक्य तो हृदय कचोटे डालते थे। फिर सम्मन बुर्ज की ओर दृष्टि जाती। ताज की गुम्बद को देखता। बस! ठण्डी आह भर खींचकर रह जाता। कदम बहुत आगे बढ़ चुका था। लौटना असम्भव था। आखिर, अब करे भी तो क्या? क्या सल्तनत छोड़ दे? नहीं, हरगिज नहीं। जिस बेल को भाइयों और अजीजों के खून से सींचा है क्या उसे यों ही, तनिक भावुकता में नोचकर फेंक दे!! औरंगजेब हिल उठता। क्षणिक दुर्बलता का लोप हो जाता। दृढ़-प्रतिज्ञ होने का रह-रहकर वह संकल्प करता।

औरंगजेब को बीमारी ने घर दबाया। उस मानसिक यातना से वह अकेला लड़ता तो कब तक ? कोई हृदय की बात सुनने वाला न था। कहता भी किससे ! उसे पीछे भागती अपनी छाया पर भी विश्वास न था। औरंगजेब और नगीना मस्जिद—यही दो साथी रह गये थे !

शाही हकीम और वजीरों की राय हुई कि शहंशाह को स्वास्थ्य-लाभ के लिये काश्मीर जाना चाहिये। औरंगजेब स्वयं आगरा के घुटते वातावरण से ऊब उठा था। हृदय कहीं भाग चलने को बेचैन था। फिर भी उसकी स्वार्थ-बुद्धि सतर्क थी। यदि बाद में कहीं शाहजहाँ ने आगरा में विद्रोह खड़ा कर दिया ! प्रत्येक वजीर, सरदार और क्या छोटे-से-छोटा अहलकार, सभी मन-ही-मन सुलग रहे थे। विनाश की ज्वाला भड़काने के लिए बयार का एक झोंका-भर चाहिये था। और शाहजहाँ तो जीता-जागता तूफान था। सब झंझटों की जड़ था, केन्द्र था शाहजहाँ। काश, उसे उखाड़ फेंक पाता। और फिर गुप्त जवाहरातों वाली बात चुभ जाती। बूढ़े की सल्तनत गयी, सब-कुछ गया। अब भी उन हीरों को कहीं तहखाने में दबाये सड़ा रहा है। उन हीरों से तो भारी युद्ध चलाया जा सकता था। दक्षिण मे मराठे बराबर सिर उठाये हुए थे। उन्हें मटियामेट किया जा सकता था। किन्तु किया क्या जाय ? शाहजहाँ की खुले-आम हत्या करना भी टेढ़ी खीर थी। प्रजा और अनेक दबे हुए विरोधी तत्त्वों के एक साथ भड़क उठने की आशंका थी। औरंगजेब नैतिक दृष्टि से लोगों की निगाहों में गिरना भी न चाहता था। आखिर उसने कुछ निश्चय कर डाला—साँप मरे, न लाठी टूटे !

शाहजहाँ को जीवित ही मिटा देने की, घोट-घोटकर मार डालने की योजना अमल में लाई जाने लगी। उसे दी गयीं सभी सहूलियतें बन्द हो गयीं। मौत का पंजा कस उठा।

यमुना और ताज की ओर खुलने वाली सम्मन बुर्ज की खिड़कियाँ बन्द कर दी गयीं। बुर्ज के नीचे आस-पास चाँदमारी होने लगी। चाँदमारों को आज्ञा मिली, यदि शाहजहाँ तनिक बाहर झाँके तुरन्त भून दो। सल्तनत की राह के पहले और आखिरी काँटे को जड़ से उखाड़कर फेंक दो। दिन-भर की ठाँय-ठाँय, धूँ-धूँ, भाग-दौड़ और भड़-भड़ दंगा नाजुक-मिजाज शाहजहाँ को उबाकर मार डालने के लिये पर्याप्त था। उस पर भी शाहजहाँ की व्यक्तिगत प्रिय वस्तुएँ छीन ली गयीं। उन्हे चूर-चूर कर दिया गया। जिन वस्तुओं में उनकी तनिक भी आसक्ति थी, उनकी कम्बख्ती ही आ गई। खिड़की बन्द ! जानवरों की लड़ाइयाँ बन्द ! महफिल, तमाशे सब बन्द ! हाँ, हकीम को रहने दिया गया ! न-जाने क्यों ?

किन्तु शाहजहाँ क्या नहीं समझता था ! जिन्दगी का खेल उसके लिए शतरंज की बाजी से कम दिलचस्प न था। वह औरंगजेब को जता देना चाहता था कि पहली बाजी में शाहजहाँ भले ही फिसड्डी रहा हो, लेकिन था शातिर ! दूसरी बाजी बिछ गयी थी, इसमें वह मात खाने के लिए हरगिज तैयार न था। शाहजहाँ औरंगजेब की इच्छानुसार क्यों मरता ? वह इन शरारतों के उत्तर में बिलकुल तटस्थ हो गया जीवन से,

उसके कष्टों से, उसकी आसक्ति से। भला अब आसक्ति रह भी किसमें जाती और क्यों ? बुर्ज की घुटन, बन्दूकों की ठाँय-ठाँय और सामान की लूट-पाट उसे विचलित न कर सकी।

औरंगजेब की शह बेकार गयी। वह पागल हो उठा। उसका स्वास्थ्य निरन्तर गिरता जा रहा था। काश्मीर जाना चाहता था किन्तु राह की यह बाधा, यह रोड़ा ! झुँझला उठा। चाहे अब दिखावे का चोंगा ही क्यों न उतार फेंकना पड़े ! औरंगजेब ने अन्तिम दाँव रखा।

* * *

आज हकीम मुकर्रम खाँ की परेशानी देखते ही बनती थी। शाहजहाँ का विश्वासपात्र ! उसके खानदान की पीढ़ियाँ शाहजहाँ के नमक पर पलती आ रही थीं। कभी उसके सामने ऐसी समस्या न आई थी जैसी आज आलमगीर के फरमान ने उत्पन्न कर दी थी। हकीम के चौड़े सुन्दर माथे पर वक्र रेखायें उभरीं। लम्बी पुष्ट नाक किसी अज्ञात पीड़ा से तनिक सिकुड़ गयी। फरमान कसकर पकड़ लिया और उसकी गहराई में पैठती बड़ी आँखों में कुछ बोझिल हो उठा।

शाहजहाँ की दवा का समय हो गया था। हकीम ने तत्परता से कई शीशियों से अर्क एक प्याली में ढाले। फिर···फिर काँपती दृष्टि से उसी शाही फरमान को देखा, और देखा तिपाई पर रखी उस शीशी को जो फरमान के साथ भेजी गयी थी। फिर दृष्टि गयी उस हाथ के फरमान पर, तिपाई की शीशी पर, सम्मन बुर्ज पर, ताज पर, दीवाने खास पर ! किंकर्तव्यविमूढ़ हकीम। हाथ का फरमान और तिपाई की शीशी—फरमान और शीशी—शीशी और फरमान—शाहजहाँ और औरंगजेब। माथे के पसीने की बूँदें हाथ के फरमान पर टपक गईं ! ध्यान आते ही हकीम चौंका। फरमान दूर फेंक दिया कोने में, जैसे हाथ में जलता अंगार हो। खुश्क होंठों पर खुश्क जीभ फेरने का प्रयास किया।

नहीं ! यह तो करना ही होगा। न करोगे, जान से हाथ धोओगे। गुल-अनार का क्या होगा, अपने सपनों का क्या होगा ! प्यारी गुल—मुकर्रम का रक्त जमने लगा। दिमाग घूमने लगा। मुट्ठियाँ कस गईं, दाँत भिंच गये। नहीं ! नहीं ! गुल ने क्या बिगाड़ा है ? मुझे जीवित रहना है, उसे जीना है। हम अपनी दुनिया क्यों उजाड़ें ? दो शतरंज के खिलाड़ी जमे हुए हैं। मैं तो उनके हाथ मोहरा हूँ। महज़ गुलाम ! औरंगजेब का जो हुकुम होगा, निबाहूँगा ! मुझे क्या ? दयानतदारी, ईमानदारी, नमकहलाली—सब बकवास, दिमाग का खब्त ! किन्तु हृदय गवाही न देता था। मुकर्रम ने फिर तिपाई की शीशी को घूरा जैसे जाल में फँसा हरिण बधिक को ताक रहा हो। कुछ संकल्प किया, फिर भी आँखें अपने-आप बन्द हो गयीं। आँखें खोलने का साहस न होता था। मुँदी निगाहों, हाथ फैलाये मुकर्रम तिपाई की ओर बढ़ रहा था। पागल-सा, खोया-सा—हाथ फैलाये। फैले हाथ से टकराकर शीशी गिर ही जाती यदि बीच में मीठी, खिलखिलाती आवाज न टोक देती—"क्यों जनाब ! कोई

नाटक हो रहा है !"

मुकर्रम ने हड़बड़ाकर आँखें खोल दीं। फैले हाथ पीछे कर लिये जैसे चोरी करता पकड़ा गया हो। सामने शाहजहाँ की मुख्य परिचारिका, गुल-अनार थी होंठों पर स्मित लिये। मुकर्रम के सपनों की साकार प्रतिमा। मुकर्रम ने सन्तोष की लम्बी साँस ली। गुल की ठोड़ी के तिल को अपलक निहारता रहा। गुलाबी साड़ी में लिपटी गुल-अनार अपनी लम्बी नागिन-सी वेणी से खेलती आगे बढ़ आयी। 'रात की रानी' की भीनी-भीनी गन्ध वातावरण में बस गयी। गुल जोर से खिलखिलाई—"हकीम साहब, दवा-दारू का झंझट भूलकर यह क्या करने लगे ? क्या खूब शायराना अन्दाज है जनाब का !" हँसती गुल का गोरा रंग कुन्दन-सा हो गया। नाभी पर की हीरों से जड़ी सोने की करधनी कमर में थिरक उठी। मुकर्रम ने पीड़ा से उसकी गहरी तरल आँखों में ताका और पुकारा—"गुल !"

गुल की हँसी क्षण-भर में विलीन हो गयी, जैसे तुषारापात हुआ हो। उसे परिस्थिति की गम्भीरता का बोध हुआ—"गुल ! तुम शायद मुझे बुलाने आयी हो, शाह को दवा देने के लिये।" मुकर्रम ने हारे जुआरी के-से बैठे स्वर में कहा। गुल ने अपनी लम्बी पतली नाक हिलाकर हुँकार भरी, सहमे नेत्रों से, जैसे उससे कोई अपराध बन पड़ा हो।

एकाएक मुकर्रम के चेहरे पर प्यार दौड़ गया। आँखें बन्द कर लीं, बोला—"गुल, तुम्हें याद है हमने क्या सोचा था !" बिना उत्तर की प्रतीक्षा किये बोलता गया—"सोचा था, हम दोनों इस दुनिया को छोड़ जायेंगे, इस मक्कारी की दुनिया को, फरेब की दुनिया को। था न ? और शायद वह वक्त आ गया।"

गुल को सब बातें याद थीं। उसे यह भी याद था कि दोनों ने फतहपुर सीकरी में जा बसने का प्रण किया था, वहाँ विवाह करने का भी। मुकर्रम ने गम्भीर सधे स्वर में पूछा मानो कोई न्यायाधीश अपने पुत्र के लिए फाँसी की घोषणा कर रहा हो—"मुझे फर्ज अदा करना चाहिये न, गुल ! मुझे लोग नमकहराम कहें, यह तुम पसन्द करोगी ?"

गुल के गले से इतना ही निकला—"फर्ज ! मुकर्रम ! मैं क्या तुम्हारे रास्ते में रुकावट···?" आगे गला रूँध गया।

मुकर्रम को जैसे उत्तर मिल गया। चेहरे पर दृढ़ता आई। आँखें खुल गयीं। तिपाई की शीशी की दवा (?) में अर्कों की प्याली पलट ली। शीशी को हिलाकर डाट लगा दी।

मुसकराकर बोला—"बताओ गुल, इसमें क्या है ?"

गुल-अनार के चेहरे पर फिर से हँसी दौड़ गयी, मानो सुबह की किरणों के स्वागत में कमल खिल गया हो। बोली—"तुम्हारे हाथ का जहर भी अमृत है।"

"यह अमृत पीकर अमर हो जाऊँ न, गुल !" मुकर्रम ने गम्भीरता से पूछा।

"क्यों नहीं !" गुल ने निश्चिन्त उत्तर दिया।

"लेकिन फिर तुम कैसे पहुँचोगी मुझ तक !" मुकर्रम ने पूछा।

"मरकर, मेरे आका !" गुल-अनार ने तुरन्त उत्तर दिया, न-जाने क्या सोचकर।

मुकर्रम को जैसे समस्या का हल मिल गया। आगे बढ़ आया। गुल की ठोड़ी ऊँची कर उसकी आँखों में ताका। और गुल झुक गई।

* * *

आगरा का किला। ठण्ड के दिन। रात को बारह का गजर बजा। चारों ओर हवा साँय-साँय कर रही थी और दूर पर सियारों की हुवा-हुवा। किले में जहाँ-तहाँ जलती मशालें दीख पड़ती थीं जैसे रात के वीराने में किसी की चिता के अंगारे उसाँस ले रहे हों।

मुकर्रम दवा की शीशी लेकर सम्मन बुर्ज में हाजिर हुआ। फरमान में यही समय लिखा हुआ था। उसे ज्ञात था, यहीं-कहीं दीवार से चिपके औरंगजेब की तेज निगाहें निगरानी कर रही होंगी। सामने शाहजहाँ था। मुकर्रम ने दवा प्याले में उड़ेलकर आगे बढ़ा दी। शाहजहाँ के हाथों में प्याला उठा और होंठों तक पहुँच गया।

"ठहरिये जहाँपनाह !" हकीम ने एकाएक टोका—"आपको कभी मुझ पर शक नहीं होता ? दवा जाँचकर ही पीनी चाहिये।" मुकर्रम जैसे फूटे घड़े में से बोला।

"शक ? तुम पर !!" शाहजहाँ ने उसे आश्चर्य से देखा।

"जी हाँ !" मुकर्रम तलवार के-से पैने स्वर में बोला—"पहले मैं खुद इस दवा का इम्तिहान लूँगा।" और उसने शाहजहाँ के होंठों पर टिके प्याले को छीन-सा लिया। अगले क्षण मुकर्रम था और प्याला। गट्, गट्, गट् पी गया। चेहरे पर जोर का पसीना आया, कमल पर फिसलती जल की बड़ी-बड़ी बूँदों-जैसा। मुकर्रम लड़खड़ाया।

"जहर !!!" शाहजहाँ चीखा।

"इस खून में आपका नमक है, जहाँपनाह।" मुकर्रम कराहा।

चीख सुनकर गुल-अनार अन्दर से दौड़ी। मशाल की काली, धुँधली रोशनी में उसने देखा—ठगा-सा शाहजहाँ। अन्तिम साँसें गिनता ढलते सूरज-सा अपना मुकर्रम। पास पड़े खाली प्याले ने सारी कहानी कह दी। मुगलिया सल्तनत में यह सब होता था। क्षण-भर में सब-कुछ समझ गयी। मुकर्रम बुदबुदाया—"गुल-प्यारी··· नमक···" और अन्तिम हिचकी ली।

गुल ने लम्बी चीख भरी। लगभग आधा मिनट तक सारे किले में वह करुण चीत्कार गूँजती रही। फिर गहरी खाइयों और कठोर किले से टकराकर निस्तब्धता की गोद में खो गई। गुल फूट पड़ी—"तुम अमर हो गये, मुकर्रम!" और कटे वृक्ष की भाँति उस पर जा गिरी।

शाहजहाँ सिसक रहा था। बड़बड़ाया—"जिसे मैंने खून दिया, जो मेरा बेटा था, मेरी जान का गाहक बन गया। और खून में थोड़े-से नमक के लिये तुमने जान दे दी, मुकर्रम!!" शाहजहाँ ने सिर पीट लिया।

पीछे के द्वार से सटी हुई छाया एकाएक हिली। वह था आलमगीर!!

२४

तथ्य और सत्य

शैलेश मटियानी

●

श्री शैलेश मटियानी का जन्म सन् १९३१ में बाड़ेछीना, अलमोड़ा में हुआ था। शिक्षा बाड़ेछीना और अलमोड़ा में पाई। प्रथम कहानी 'संघर्ष के क्षण' शीर्षक से सन् १९५० में दिल्ली की 'अमर कहानी' में प्रकाशित हुई। १९५४ से अनवरत रूप से हिन्दी की सभी उच्च कोटि की पत्र-पत्रिकाओं में आपकी रचनाएँ प्रकाशित होती रहती हैं। कविता, कहानी, एकांकी, उपन्यास, लेख—सभी-कुछ लिखते हैं। 'चिट्ठीरसैन' शीर्षक से एक आंचलिक उपन्यास कलकत्ता के 'आदर्श' में धारावाहिक रूप से प्रकाशित हो चुका है। लोक-साहित्य में विशेष रुचि है।

रचनाएँ

'हौलदार', 'बोरीवली से बोरीबन्दर तक', 'कबूतर-खाना', 'चिट्ठीरसैन', 'तिरिया भली न काठ की', 'किस्सा नर्वदाबेन गंगूबाई', 'कालिका अवतार', आदि।

सिद्धार्थ—विद्या-विहार का विस्तृत विमर्श-कक्ष श्रोताओं से भरा हुआ था। जन-संकुलता के मध्य भी, कक्ष में सर्वत्र मौन और शान्ति का साम्राज्य था। विद्या-विहार के प्रधानाचार्य रौहित्य के पांडित्य ने जैसे सबकी चेतना को प्रज्ञा-शून्य कर दिया हो।

आचार्य रौहित्य 'सत्य की खोज' पर विशिष्ट व्याख्यान दे रहे थे। उनके अगाध-पांडित्य से अभिभूत, एकान्त मौन साधे, सभी आचार्य की दिव्य-वाणी का रसास्वादन कर रहे थे। एक-एक तथ्य सत्य से मँजा हुआ, एक-एक तर्क ज्ञान की कसौटी पर कुन्दन-सा कसा हुआ।

स्वयं कौशल-नरेश भी उपस्थित थे। उनके पार्श्व की रत्न-खजित स्वर्ण-पीठिका पर, शरत्-पूनों-सी प्रोज्ज्वल रूप-राशि वाली राजनर्तकी मधूलिका बैठी थी।

मधूलिका ज्ञानार्जन के लिए जिज्ञासु, किन्तु, अपनी अतुल रूप-राशि के प्रति प्रगल्भ! इस विद्या-विहार का निर्माण उससे स्वार्जित-सम्पत्ति से किया था। शताधिक निर्धन विद्यार्थी उसके कोष से मिलने वाली छात्र-वृत्ति से विद्याध्ययन करते थे। अस्तु, वह नर्तकी होते हुए भी माननीया थी, और कौशल-नरेश तो उसकी सद्योन्मीलित-रक्तोत्पल-सी छवि के दास थे ही···

* * *

श्रोताओं में छात्र और आचार्य जन भी थे। इनके अतिरिक्त, राज्य के कतिपय गण्य-मान्य व्यक्ति और पाटलिपुत्र से कौशल भ्रमणार्थ आये हुए कुछ तरुण बौद्ध-भिक्षु थे, जिन्हें कौशल-नरेश अपने साथ-साथ लाये थे।

आचार्य रौहित्य का पाडित्यपूर्ण-व्याख्यान समाप्त होते ही, सारा कक्ष करतल-ध्वनि से गूँज उठा। विद्वानों ने आचार्य के अगाध-ज्ञान की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

पर, दो व्यक्ति उस समय भी मौन साधे हुए थे, मधूलिका और बौद्ध तरुण विशालाक्ष।

आचार्य रौहित्य ने सबको नमस्कार किया। यशः-प्रशस्ति-प्रदीप्त भू-प्रदेश को किंचित् कुंचित कर, मन्द-मन्द विहँसते हुए, मधूलिका से वह बोले—

"देवि, आप क्यों मौन हैं! लगता है, मेरे वक्तव्य का आप पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा! पड़ा भी हो, तो आपने उसे स्वीकार नहीं किया, सम्भवतः! कोई शंका!"

मधूलिका, अपने गांभीर्य को मुसकान की ओट में छिपाते हुए, बोली—

"नहीं तो, आचार्यवर! मेरे मौन का कारण आपके पांडित्य के प्रति अश्रद्धा

नहीं। पर, न-जाने क्यों, मन की जिस कुंठा का निवारण मैं चाहती थी, वह नहीं हुआ। अभी-अभी आपने कहा, कि तथ्य से अलग सत्य का कोई अस्तित्व नहीं। बिना किसी तथ्य के माध्यम से हमें सत्य का बोध नहीं होता। अस्तु, तथ्य से परे सत्य की कोई आस्था नहीं ?"

"हाँ, देवि !" आचार्य बोले—"मैंने ठीक ही कहा था। तथ्य और सत्य दोनों को हम अपनी सहज-बुद्धि से देखते-परखते हैं, अस्तु···"

"तो, आचार्य," बात काटकर, खिन्न-स्वर में मधूलिका बोली—"तथ्य और सत्य की परिणति भी एक होगी ? यदि यह सच है, तो मेरा यह लास्यजीवन ही (जो तथ्य-रूप से पूर्णरूपेण नारकीय और विलासिता का है) मेरा जीवन-सत्य है ? मैं अपने अन्तस्तल में ज्ञान और विराग की लाख अलख जगाऊँ, विलासिता के इस तथ्य से परे उसका कोई मूल्य ही नहीं ?···"

"आप व्यर्थ ही उद्विग्न होती हैं, देवि !" आचार्य सदर्प बोले—"जीवन की चरम-परिणति क्या होगी—यह बुद्धि से, विवेक से परे की बात है।"

"क्षमा करें, आचार्य !"—कक्ष के कोने से बौद्ध तरुण विशालाक्ष आचार्य के पास आ गया। विनीत-स्वर में बोला—"अनपेक्षित रूप से तर्क करने की धृष्टता के लिए, मैं क्षमा चाहता हूँ। पर, मेरा कर्त्तव्य मुझे बोलने को बाध्य कर रहा है। पांडित्य किसी को वाग्जाल से अभिभूत कर, निरुत्तर कर सकता है, आचार्य ! किन्तु हृदय की शंकाओं का निराकरण कोरी-बुद्धि से सम्भव नहीं ! विवेक और आध्यात्मिक-ज्ञान से शून्य ज्ञान मस्तिष्क का उन्माद होता है, आचार्य !"

फिर मधूलिका की ओर मुँह कर, विशालाक्ष बोला—"आचार्य रौहित्य के तर्क अकाट्य हैं, यह मुझे स्वीकार नहीं, देवि ! तथ्य और सत्य एक नहीं हैं। जैसे शरीर और आत्मा एक नहीं। शरीर तथ्य है, आत्मा सत्य है। अस्तु···"

आचार्य रौहित्य क्रुद्ध हो गये, बोले—"अनधिकृत व्यक्तियों को यहाँ वक्तव्य देने का कोई अधिकार नहीं। यह बौद्धों का भिक्षु-विहार नहीं, विद्या-विहार है, भिक्षु !"

फिर गर्व-भरी हँसी हँसकर, आचार्य बोले—"तुम्हें अपने ज्ञान का दम्भ हो, तो मुझसे शास्त्रार्थ कर लेना। लेकिन, यहाँ नहीं, भिक्षु ! मैं तुम्हारा मान-मर्दन कौशल-नरेश की सभा में करूँगा।"

"व्यर्थ का क्रोध आपको शोभा नहीं देता, आचार्य ! किसी की शंकाओं का निराकरण कहीं भी, कोई भी कर सकता है—इसमें पांडित्य को चुनौती का प्रश्न क्यों ?"

क्षण-भर ठहरकर गम्भीर स्वर में, विशालाक्ष बोला—"आपसे तर्क-वितर्क करना मुझे अभीष्ट नहीं। मैं तो देवि मधूलिका के हृदय में उपजे भ्रम का निवारण करना चाहता हूँ। आपने अपने दुरूह-वाग्जाल से उनके विवेक को दिग्भ्रांत कर दिया है, आचार्य ! आपका पांडित्य साधारण जन को अप्रतिभ अवश्य कर सकता है, किन्तु

उससे किसी के मनस्ताप का निवारण सम्भव नहीं। क्योंकि, स्वयं आपके विवेक-चक्षुओं पर ही अहंकार-आवरण पड़ा है।"

"लेकिन, तुम्हें यहाँ, विद्या-विहार की मर्यादा और उसके विधान के विरुद्ध, मैं देवि मधूलिका को कोई उपदेश नहीं देने दूँगा, धृष्ठ भिक्षु !"—सक्रोध आचार्य बोले—"मैं तुम्हें अभी, इसी समय निकल जाने का आदेश देता हूँ।"

विशालाक्ष ने हँसकर मधूलिका की ओर देखा। मधूलिका उसे शून्य-दृष्टि से ताकती रही। विशालाक्ष मुड़ा, और द्वार की ओर चल पड़ा, लम्बी-लम्बी डगें भरता हुआ···

पर, द्वार तक जाते-जाते उसके कर्ण-कुहरों में एक मधुरस्वर गूँज उठा—"ठहरो, भिक्षु !"

* * *

भिक्षु विशालाक्ष कौशल की सर्वश्रेष्ठ रूपांगना, मधूलिका, के अतिथि थे। उनकी नीली-गहरी, निर्विकार आँखें, उनका मृग-शावक-सा भोलापन, और मन को सहज ही सुख पहुँचाने वाली दिव्य-वाणी—सब-कुछ, जैसे अनजाने ही, मधूलिका को आत्म-विस्मृत किये जा रहा था।

कभी जहाँ नूपूरों की ध्वनि गूँज-गूँज जाती थी, लास्य-संगीत की स्वर-लहरियों से निर्जीव पाषाण-भित्तियों की आत्मा भी आन्दोलित हो उठती थी, सुरा-सुन्दरी के भ्रूकुंचन पर मणि-कांचन बरसा करता था—कौशल की राजनर्तकी का वही भव्य-विशाल कक्ष आज मौन था। विशालाक्ष की उपस्थिति ने जैसे वैभव के सारे उल्लास को शून्य कर दिया हो।

ओह, प्रशान्त-महासागर-सी नीली-गहरी दीप्ति-भरी आँखें, जिन्हें देखते ही हृदय का समस्त ज्वार, भाटे की शान्ति में परिणत हो जाता है !···

मधूलिका सोच रही थी, इसी कक्ष में वह कौशल-नरेश के साथ बैठा करती थी। पर, इन दोनों के सामीप्य में कितना अन्तर है !

कौशल-नरेश उस अवस्था को पहुँच चुके थे, जहाँ से तारुण्य वार्धक्य की चट्टानों से टकराकर लुढ़क पड़ता है। पर, उन बूढ़ी आँखों में विलासिता का विष-वृक्ष पूर्ववत् गहरी जड़ें समाए था।

लेकिन, यह भिक्षु ?

तारुण्य की लोल-लहरों से रक्ताभ-मुख कितना निर्विकार !

विशालाक्ष के इस सामीप्य में मधूलिका का विवेक तो जाग रहा था, किन्तु, यौवन की उद्दाम-तरंगिणी-सी मधूलिका अन्ततः जैसे बीते वसन्तों की उद्दाम-मादक स्मृतियों में अनायास ही खो जाती, और वह सोचती···वह सोचती···

काश, यह भिक्षु, उसे कौशल-नरेश की तरह ही प्यार करता···

भावावेश में आकर, मधूलिका ने अपनी बाँहें भिक्षु के गले में डाल दीं।

विशालाक्ष निर्विकार बैठ रहे।

बोले, "देवि ! मैं यहाँ अधिक ठहरूँगा नहीं। आप और मैं, दोनों एक तथ्य हैं, तथ्य-रूप के प्रति मोह बढ़ाने से, भ्रांति का जन्म होता है। मानव पथ-भ्रष्ट हो जाता है"—बाल-सुलभ मुसकान बिखेरते हुए, विशालाक्ष कहते गये—"उस दिन आचार्य ने आपसे कहा था, कि 'तथ्य और सत्य में कोई अन्तर नहीं, क्योंकि हम दोनों को अपनी सहज-बुद्धि से परखते हैं···' उन्होंने यह भी कहा था, 'बिना तथ्य के माध्यम के, हमें सत्य का बोध नहीं हो पाता'···देवि, तथ्य के माध्यम से सत्य का बोध अवश्य होता है, पर इस दिशा में तथ्य सत्य का पूरक-माध्यम मात्र है, न कि स्वयं सत्य ! तथ्य स्थूल, द्रष्टव्य होते हुए भी क्षण-भंगुर और सीमित है। सत्य बाह्य-चक्षुओं के लिए अदृष्ट होते हुए, सूक्ष्म होते हुए भी निस्सीम और विराट् !"

क्षण-भर ठहरकर, विशालाक्ष, मधूलिका के स्कन्ध-प्रदेश को स्नेह-पूर्वक थपथपाते हुए, बोले—"आपका यह नर्तकी-जीवन तथ्य है, किन्तु, यही आपके जीवन का अन्तिम सत्य नहीं ! रहा प्रश्न, जीवन की चरम-परिणति का—सो, भद्रे, जीवन की चरम-परिणति का बोध बुद्धि से परे हो सकता है, विवेक से परे नहीं। और विवेक का जन्म होता है, अन्तर्मन्थन से। वस्तुतः जीवन की चरम-परिणति के प्रति जागरूक-दृष्टि रखना ही मुक्ति-मार्ग पर बढ़ने की प्रेरणा देता है, क्योंकि यह तथ्य-रूप शरीर नाशवान है, और सत्य-रूप आत्मा को आवागमन के बन्धन से मुक्ति देना ही मोक्ष !"

"तो," मधूलिका बोली—"मेरे लिए मोक्ष का कोई मार्ग ?"

"भद्रे !" विशालाक्ष बोले—"जन्म-जन्मान्तर की सतत-साधना से ही मोक्षसिद्धि सम्भव है। आप अपने ज्ञान-दीप की बाती जलाये रहें, विराग का अलख जलाये रहें—मुक्ति का मार्ग कभी दीख पड़ेगा अवश्य। एक बात फिर दोहरा दूँ, तथ्य और सत्य का भेद न भूलें, देवि ! सबसे बड़ी बात—तथ्य भोग्य है और सत्य ग्राह्य। अभी तक आपने जीवन को 'भोग्य' ही समझा, 'ग्राह्य' नहीं, सो···"

"लेकिन," मधूलिका ने तर्क किया—"बिना तथ्य का भोग किये सत्य को उपलब्धि कैसे हो सकती है ? मैं आपके उपदेशों के प्रति श्रद्धावनत हूँ, देव ! सच, इस विलासिता के जीवन से मन ऊब गया है, पर आपका सामीप्य···आप और मैं···"

मधूलिका फिर सम्मोहित हो गई, बोली—"आपका और मेरा, सत्य और तथ्य का गठबन्धन···"

"आप भूल रही हैं, देवि !" विशालाक्ष मुसकरा दिये—"मेरा-आपका पथ अलग-अलग है, भद्रे ! तथ्य का भोग कर, सत्य ग्रहण करने की बात ऐसी ही है, जैसे मदिरापान कर मद्य-निषेध का मार्ग खोजना ! तथ्य-भोग की लालसा से ही इस नाशवान संसार के मोह-जाल में आसक्ति बढ़ती है। सत्य-तथ्य, एक-दूसरे के पूरक-माध्यम होते हुए भी, दो समानान्तर-रेखाएँ हैं, जिन्हें आत्म-बोध की तिर्यक-रेखा ही एक-दूसरे से मिला सकती है !"

विशालाक्ष चल पड़े—बोले—"देवि, मैं चला ! सत्य-तथ्य का गठबन्धन तभी सम्भव है, जब दोनों का संगम विवेक-विराग की वेदी पर हो···अच्छा, कल्याणमस्तु !"

* * *

दूसरे ही दिन कौशल के राज-पथ पर एक भिक्षुणी, भिक्षु विशालाक्ष के साथ हाथ में कमंडल लिए चली जा रही थी···

राज-मार्ग पर वेग से जाते अपने रथ से कौशल-नरेश ने बाहर झाँका और उस तरुणी-भिक्षुणी पर दृष्टि पड़ते ही चीख उठे—"मधूलिका !"

२५

गूजरी महल

सावित्री निगम

●

राज्य-सभा में महिलाओं की सबसे अधिक तर्कपूर्ण वकालत करने वाली सदस्या हैं श्रीमती सावित्री निगम। आपका अधिकांश समय समाज-सेवा में बीतता है। राजधानी की अनेक समाज-सेवी संस्थाएँ आपके संरक्षण में कार्य करती हैं। भारत-सेवक-समाज के संचालन में आपका महत्वपूर्ण भाग रहा है। गूँगे-बहरों, उपेक्षिता बहनों, अपराधी जातियों और पिछड़े वर्गों की सेवा में आप दिन-रात जुटी रहती हैं।

समाज-सेविका होने के साथ-साथ आप कुशल लेखिका भी हैं। समाज-सुधार तथा स्त्री-समस्याओं पर आपके लेख समय-समय पर पढ़ने को मिलते रहते हैं। आपकी रचनाओं में बहुत अच्छी पकड़ होती है।

समय का रथ चल रहा था। दिन ढलते, सुबह होती और ग्वालियर किले की तराई में बसी हुई छोटी-सी बस्ती में नित्य नये परिवर्तन होते। नन्हे पौधे बढ़कर वृक्ष बने, गढ़े गहरे तालाब। दुधमुँही बच्चियाँ युवतियाँ बनीं और युवतियाँ चार-चार बच्चों की मातायें। साहू गूजर की इकलौती बेटी सोमा भी, जो जन्म से ही माँ के स्नेह से वंचित थी, अब साहू को तंग करने वाली, रोती, चिड़चिड़ी सोमा न थी।

अब वह थी पिता का सहारा, घर की मालकिन। गायों और मजदूरों की अन्नदात्री सोमा रानी—चतुर, कुशल और काम-काजिन।

"सोमा निखर रही है," साहू ने सोचा—"गोरी गाय का दूध पी-पी सोमा गोरी हो रही है, बिलकुल 'गूजरी' रूप-रंग, ढील-ढौल में।" अपनी पत्नी की स्मृति ने साहू को झकझोर दिया। और उसके कानों में वही अस्फुट स्वर सुनाई पड़ने लगे—"मैं जाती हूँ, तुम रंज न करना। सोमा तुम्हारी बेटी नहीं है, बेटा है। देखना, बिगड़ने न पाये। पढ़ाना-लिखाना, सऊर सिखाना।"

दूसरे दिन साहू सोकर उठे, तो भूरी भैंस खोली और पुरोहित के दरवाजे पर बाँध दी। बरोठे में जाकर पैर पकड़ लिये—"महाराज, सोमा को भी दो अक्षर पढ़ा दो।"

पण्डितजी धँसी हुई आँखें निकालकर बीच में ही बोल उठे—"देखते हो, हमें फुरसत कहाँ है।"

साहू ने कातर दृष्टि से देखा। इतने में भैंस रंभाई और पण्डितजी ने सामने देखा। गाढ़े दूध की याद कर लालच से मुँह में पानी भर आया। खखारकर बोले, "पर भाई, तुम तो अपने आदमी हो, तुम्हारी बात कैसे टालें? और विद्यादान तो हमारा धर्म है। बिट्टी सोमा को कल से ले आना।"

साहू हँसकर बोला, "महाराज, भूसा-खली की फिकर न करना।"

"हाँ, सोमा पढ़ जायेगी, पर घर का काम-काज?" साहू ने सिर पर हाथ रखकर सोचा, "एक नई सूझ!" वह मुसकरा पड़ा—"मुखिया लाला की ललाईन बेल-बूटे और कशीदे में बड़ी कुशल हैं, बस-बस।"

साहू ने ओट में खड़े होकर पुकारा—"मालकिनजू को पाय लागी।"

आड़ में खड़ी होकर ललाईन ने कहा—"साहू दादा से कहो हमें लजाया न करें, हम उनकी बहू हैं।"

"यह सब रानीजी की लायकी है। हाँ, एक बिनती है, अब सोमा उनके चरनन में पड़ी है, चाहे सऊर सिखायें, चाहे फूहड़ बनायें" साहू ने गिड़गिड़ाकर कहा।

"दादाजी से कहो हमें सहारा मिलेगा, हम खुशी से राजी हैं।"

सोमा गूजरी थी, पर उसकी बुद्धि देखकर सब चकित थे। पण्डित कहते, "हमारा पढ़ाना ही अच्छा है।" ललाईन कहती, "मेरे पास जो बैठे कारीगर हो जाये।"

लड़कियाँ उसे देखकर जलती थीं। माँएँ उन्हें घुड़कियाँ देतीं और कहतीं, "सोमा कितनी मेहनती है! एक तुम लोग हो, निकम्मी!"

माँएँ ईर्ष्यालु हो उठीं प्रशंसा सुनते-सुनते। युवतियाँ रूप देखकर कहतीं, "जवानी में जुलम करेगी, गाँव के लड़के बिगड़ जायेंगे।" पर सोमा के सामने आते ही, उसकी मीठी शिष्ट बोली सुनकर और हिरनी-सी भोली सूरत, सदा मुसकराने वाली आँखें और लाल सुर्ख होंठों के बीच बेले की कली-से दाँत देखकर कौन क्या कह पाता, सिवा प्रशंसा और प्रेम-प्रदर्शन के। फिर सोमा से सबको ही काम रहता था—किसी को बटन टँकाने हैं, तो किसी को लहँगे में गोट लगवानी है। कभी दूध तो कभी मट्ठा, और कभी भूसा भी तो सोमा ही देती थी।

सावन की सुनहरी धूप मुसकराती हुई खिसक रही थी। मेघजल से धुली हुई हरी-हरी पत्तियाँ और गंध उंड़ेलते हुए कुन्द से सफेद फूल निहारती हुई सोमा महलों में दूध देकर उतर रही थी। सिर पर थी दूध की खाली कलसी, और पैरों में कंकरीली जमीन से टकरा-टकराकर बजने वाली पैजनियाँ। श्रम-कण, शीसफूल के झालर की तरह माथे पर चमक उठे, और थकान से लाल हुए कपोल गुलाल-भरे सांध्य आकाश से होड़ लगाने लगे। ठण्डी हवा के एक झोंके ने तरुण रक्त में एक प्रकार की गुदगुदी ला दी। उसकी चाल में एक बाँकापन आ गया, और आँखों में झलक आई शोखी की हल्की-सी लाली थी।

पत्तों की खड़खड़ाहट के साथ सुनसान पथ में सुनहरी जीन से सुसज्जित एक खाली घोड़ी बेतहाशा भागी आ रही थी। वह दस कदम भी न बढ़ पाई थी कि कराहट-पूर्ण आवाज सुनाई दी। सोमा ने देखा, युवराज मानसिंह काँटों में उलझे कगार पर बिलकुल लटके-से पड़े थे। एक क्षण के विलम्ब से हजारों फीट गहरे खड्ड में गिरकर युवराज की कहीं हड्डी भी न मिलती। सोमा के मुँह से एक चीख निकल गई, दौड़-कर उसने उन्हें उतारा। रत्नजटित कलगी माथे पर गड़ने से खून टपक रहा था। गूजरी ने चूनरी फाड़कर पट्टी बाँधी। काँटे साफ किये, धूल झाड़ी और कृतज्ञतापूर्ण नेत्रों से युवराज ने देखा और कहा—"गूजरी!" वह मुसकरा दी।

"तुमने आज मुझे बचा लिया।" प्रेम, दया और सहानुभूति की एक उड़ती हुई नजर फेंक गूजरी धीरे से 'उँह' करके काँटे बीनने लगी। आज वह प्रथम बार एक पुरुष के इतने निकट आई थी और पुरुष भी युवा, हृष्ट-पुष्ट और खूबसूरत—जिसके दिल में दिलेरी थी और आँखों में उमंग—जो सहृदय और भोला भी था।

सोमा को जाने कैसा लगा। उसके सारे शरीर में बिजली-सी दौड़ गई। उसने देखा राजकुमार छिप-छिपकर उसकी ओर देख रहे हैं। वह लाल हो उठी। वह राजकुमार की बिखरी हुई चीजें उठाकर बोली, "महाराज, पालकी बुला लाऊँ?"

"नहीं गूजरी, अभी हम दस मील दौड़ सकते हैं।"

गूजरी घर लौट आई। राजा ने सौ बीघा जमीन दी, रानी ने प्रेमाश्रु भरकर मुँदरी और चुनरी पहनाई। पर फिर भी वह खोई-खोई-सी लौटी।

साहू खा-पीकर हुक्का लेकर बैठे तो चार बिरादर-भाई आकर बैठ गये। एक बोला—"साहू काका तो अब जिमीदार हुई गये।"

साहू बोला—"नहीं भाई, हम तो किसान भले।"

एक ने धीरे से कनखियों से इशारा किया, दूसरे ने कहा, "काका! अब सोमा सयानी होय गई। अब की काम कर डालो। पंचू भाई का लड़का खूब जोड़ का है। काहे भाई पंचू, कुछ उजुर तो नहीं है?"

साहू की त्योरी चढ़ गई, पर पंचू बीच ही में बोल उठे, "ललवा की सगाई तो बहुत आई, पर जैसी सलाह होय।"

चारों आदमी कह उठे, "वाह-वाह! जोड़ी तो बहुत ठीक है। राम-सिया की जोड़ी है।"

साहू ने नथने फुलाकर कहा—"आया करो, तो ठीक से बैठा करो। अपने-अपने धी-पूतों की जोड़ी बिठाओ, मेरी सोमा की उमर ही क्या है! अभी बच्ची तो है।" वह उठ खड़ा हुआ। सब खिसियाकर चुपके-चुपके खिसक गये।

जब सब चले गये, तो सोमा बाहर आई। आँखों में आँसू भरकर बोली, "काका, ये सब हमारे सुख से जलते हैं। तुम इनके कहे में न लगना। अगर तुमने कुछ किया तो मेरी जान से हाथ धोओगे।"

साहू की बूढ़ी आँखें प्रेम और शंका के कारण डबडबा आईं। वह बोले, "नहीं बेटी, जाओ अपना काम करो, तुम्हारा काका बौरा थोड़े ही गया है।"

* * *

सबने कहा, समझाया, आगा-पीछा सुझाया और सबने ही मुँह की खाई। साहू भला सोमा की बात कैसे टालता? उसकी सोमा बच्ची ही रही। फिर सोमा—साहू की एकमात्र अवलम्ब, उसके घर की रौनक और चहल-पहल थी। दुनिया की निगाह में सोमा लड़की थी, पर साहू की निगाह में थी—बेटा, पढ़ा-लिखा, समझदार। सोमा ने जब से होश संभाला, साहू ने उसकी बात कभी न टाली थी। फिर यह बात कैसे टालता? गाँव में अनहोनी बात हो गई। सोमा कुँवारी ही रह गई। अब भी वह साहू के लिए बच्ची ही थी।

दुनिया, दुनिया है—गाँव में हो या शहर में—किस्से गढ़ने में दक्ष, गप्पें उड़ाने में कुशल और चरित्र की बात का कहना ही क्या? जरा नाक-कान का ठीक हुआ कि नायक या नायिका करार दे दिया गया। फिर रूप, लावण्य और यौवन की पुतली सोमा, कुँवारी सोमा, क्यों न सभी निठल्लों की गप्पों की नायिका बनती?

जब वह दूध लेकर चलती, सुनसान पगडण्डी के मोड़ों पर गाँव के शोहदे लड़के आकर खड़े हो जाते। कोई कहता, "गोरी, धीरे चलो, गगरी छलक न जाये," तो कभी "भारी है गगरी, कमर मोरी लचके!" पर सोमा मनी-अनमनी कर गर्दन झुकाये

त्योरियाँ चढ़ाये, अपनी राह चली जाती। और जब कभी गाँव के भीतर उन लड़कों से भेंट होती तो हँसकर कहती, "फुस्सन दादा, कहाँ रहते हो? तुम बहन को भुलाना ना"; "कल्लू भैया, अब की राखी मे पारसल की तरह छिपना ना।" लड़के शरम से गड़ जाते।

सोमा पृथ्वी की भाँति अविचल गति से जीवनचर्या की कीली पर घूमती हुई दो बार—सांय और प्रातः अपने प्राणों के अवलम्ब प्रणय के सूर्य के दो चक्कर लगा आती थी। कभी झिलमिली की ओट से दो आँखें चार होतीं, तो कभी पहाड़ियों की ओट में दो-दो बातें हो जातीं। बस, यही काफी था गूजरी में गति, स्फूर्ति और जीने की लालसा बनाये रखने के लिये।

राजकुमार कहते, "गूजरी, कब तक जलेंगे? चलो, दुनिया बसायें।"

गूजरी हँसकर जवाब देती, "जलने में सुख है, राजा! महारानी फूलकुँवर दुनिया बसाती हैं, गूजरी की दुनिया पहाड़ों की ओट में है।"

वह जिद करते, वह टालती। वह खीजकर रूठते, वह हँसकर मनाती। उनकी दुनिया में उमंगें थीं, अरमान थे। क्षण-भर का मिलन, विस्तृत विरह। अकाल में भूख बढ़ती है तो विरह में प्रेम क्यों न बढ़ता?

"जलन में बड़ा सुख होता है, नहीं तो पतंगे क्यों जल-जलकर मरते," गूजरी रात-दिन यही रटती थी। मानसिंह जानते थे अब वह दिन दूर नहीं, जब वह होंगे ग्वालियर के राजा और गूजरी होगी पटरानी। सुबह की प्रतीक्षा में रात कटती और शाम की प्रतीक्षा में दिन। गम गलत करने को रानी रंधा और रानी फूलकुँवर थीं ही।

कौन सोच सकता था गूजरी इतनी छलाँग भरेगी। असली बात कोई न जानता था। झूठे शक किये। किसी ने कहा, किसी ने सुना। आखिर शब्दों पर श्रद्धा ने विजय पाई। लोग कहने लगे—"सोमा सचमुच दूध की धोई है, पवित्र है, देवी है।" दिन बीते, महीने बीते, साल भी बीत गये। गूजरी, राजकुमार और साहू—तीनों का जीवन क्रमबद्ध था। थोड़े सुख में भी तीनों संतुष्ट थे, पर नियति से यह भी न देखा गया। दो दिन की बीमारी मे अचानक साहू चल बसा, सोमा—लाड़ली सोमा को दुःखी, सन्तप्त और निरावलम्ब छोड़कर।

सोमा ने न रोने वालों की भीड़ में स्वर मिलाया, न वह गिरी-पड़ी। पुत्र की भाँति उसने अन्त्येष्टि क्रिया की। उसकी जिम्मेदारी, व्यस्तता और अकेलापन उसका साहस बन गया। सब आये—किसी ने आँखें मलीं, कोई सिसका, अनेक चिल्लाकर रोये; पर गूजरी समुद्र की तरह शान्त और पर्वत की भाँति अचल रही। धीरे-धीरे सब चले गये। उसने किसी को न रोका। वह एकान्त चाहती थी।

संध्या सिसक उठी। रात्रि ने अपनी मातमी काली चादर फैलाई। निस्तब्धता और उदासी से उसका दम घुटने लगा। उसने चिराग भी बुझा दिया। मौत के इतने निकट एकान्त के गर्भ में, उसके धीरज का बाँध टूट गया। वह फफक-फफककर रो उठी। खूब रोई। फिर थकान ने उसे धीरे से उठाया और नींद ने उसे गोद में ले लिया।

शान्ति पंखा झलने लगी।

रात्रि प्रौढ़ हो चुकी थी। द्वार पर किसी ने खटखट की। सोमा दौड़कर द्वार के पास गई। वस्त्रों की सुगन्ध और परिचित फुसफुसाहट ने बता दिया कि आज प्रणय के प्रभु, स्वप्नों के देवता दुःख बटाने आये हैं। उसने द्वार खोल दिया। दोनों चुप थे। राजकुमार ने गूजरी के सिर पर हाथ रखा। उस हाथ में थी माँ की ममता, पिता का सहारा और पति का विश्वास। अपना कोई देख वह रो पड़ी। आँसुओं की बाढ़ आ गई।

आखिर राजकुमार बोले, "गूजरी, काहे का रोना ? जो होना था सो हो गया। अब हमारे साथ चलो। प्रेम की दुनिया बसायें। दिन में मनायें होली और रात में दीवाली। वहाँ न कोई राजा होगा, न गूजरी। वहाँ हम होंगे, तुम होगी और होगी प्रेम की दुनिया। चलो गूजरी, घोड़ा तैयार है।"

* * *

गूजरी ने सिसकियों को सँभालकर कहा, "महाराज ! ग्वालियर में अँधेरा करने का पाप क्या मेरे सिर लगेगा ? भक्त तो भगवान् से दूर ही अच्छा लगता है। जूते और टोपी की अपनी-अपनी जगह अलग है। है न महाराज ?"

"नहीं गूजरी, अब हम कुछ न सुनेंगे। बहुत सुना अब तक। राज्य और रानी मुझे न चाहिये। मुझे चाहिये अपनी गूजरी !"

"नहीं राजा, दुनिया कहेगी, मैंने राजा हर लिया। रानी कोसेगी, राजा दाँत पीसेंगे। गाँव वाले थूकेंगे और प्रजा शाप देगी।"

मानसिंह ने कानों पर हाथ रखे, "अब कुछ न सुनूँगा। चलो, नहीं उठाकर बिठाता हूँ घोड़े पर।"

"नहीं-नहीं, रुको ! अच्छा चलूँगी। काका का दसवाँ तो कर लूँ।"

"कब है दसवाँ ?"

"सप्तमी को।"

"तो पक्का रहा !"

"हाँ-हाँ।"

राजकुमार के एक-एक दिन पहाड़-से कटे और गूजरी के बड़ी बेचैनी से। दिन-भर सोचती, रात-भर सोचती। कभी डूबती, कभी तैरती, पर किनारा न मिला। जब दूध देने आती, जरा चैन मिल जाता।

आखिर सप्तमी भी आ गई। राजकुमार के पैर सीधे न उठते, पर गूजरी के मन में अब भी अंधड़ और तूफानों का संघर्ष चल रहा था।

* * *

आधी रात हुई। अशर्फी की थैली कमर में लपेट, जीन कसकर राजकुमार चल पड़े मगन होकर। चल पड़े आज प्रणय-संसार जीतने। गूजरी का द्वार खुला मिला, अन्दर गये। जो-कुछ देखा वह कभी स्वप्न में भी न सोचा था। षोडश शृंगार किये

गूजरी पड़ी थी। नीले होंठों पर अब भी वही मुसकान थी।

उनका सिर चकराया, आँखों में अँधेरा-सा छा गया। काली भयानक रात्रि, प्रेयसी का मृत शरीर! भय से वह काँप उठे, सिरहाने रखी हुई पुरजी उठाई और उलटे पाँव लौट पड़े।

महल में आकर चिट्ठी खोली, उसमें लिखा था : "प्रभो! गूजरी राजा चाहती है, पति नहीं। पति उसका कौन छीन सकता है? वह सदा उसमें रहेगी। तुम रंज न करना, मैं अब भी तुम्हारे साथ हूँ। मेरा घर देखना।"

पहले भाँति-भाँति की बातें उड़ीं, कहानियाँ बनीं, फिर बात धीमी पड़ गई।

समय का साबुन सब धोकर सब साफ कर देता है। लोग फिर सब भूल-से गये। राज्य की ओर से गूजरी के घर में ताला पड़ गया।

इस घटना को कई बरस बीत गये और फिर वह दिन भी आ गया, जब मानसिंह 'महाराजा ग्वालियर' बने।

राजतिलक की खुशियाँ खत्म भी न होने पाई थीं कि गूजरी का घर खुदने लगा और बनने लगा एक गगनचुम्बी विशाल महल।

कहते हैं महाराजा मानसिंह जब तक जिये, हर सप्तमी की रात को वह बराबर वहाँ आते रहे और राहगीर, चौकीदार सब सुनते थे—कभी चूड़ियों की खनक, कभी हँसी और फुसफुसाहट। उनकी मृत्यु के पश्चात्, उनकी आज्ञानुसार एक कमरे को छोड़कर सम्पूर्ण महल में आर्किलॉजिकल म्यूजियम बना दिया गया, पर गूजरी का खास कमरा अब भी बन्द रहता है, जिसमें हर सप्तमी की रात को वैसे ही चूड़ियों की खनक, हँसी और आवाजें सुनाई पड़ती हैं। अक्सर दूसरे दिन सवेरे मिठाई के टुकड़े, मुरझाये फूल, कभी मोती और सितारे भी कूड़े में दिखाई पड़ जाते हैं।

ग्वालियर किले की तलहटी में अब तक गर्व से मस्तक उठाये 'गूजरी महल' प्रेम की देवी, त्याग की मूर्ति, गूजरी के अनुपम बलिदान की याद दिलाता है। गूजरी की कहानी सभी किले में आने-जाने वाले कहते-सुनते हैं और एक ठण्डी साँस भरते हैं।

२६

दस अंगुलियाँ : एक धागा

सुरेश भटनागर

●

श्री सुरेश भटनागर का जन्म सन् १९३५ में देहरादून में हुआ। वहीं से आपने सन् १९५९ में एम० ए० उत्तीर्ण किया। छः-सात वर्ष से लिखना शुरू किया है। थोड़ा लिखा है किन्तु जितना भी लिखा है खूब सोच-समझकर। कहानी, उपन्यास, एकांकी, समाज-शास्त्र, बाल-साहित्य, लोक-साहित्य —इन सभी विषयों पर आपने अपनी लेखनी उठाई है। कई प्रतियोगिताओं में आपकी रचनाएँ पुरस्कृत भी हुई हैं। हिन्दी की विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में आपकी रचनाएँ प्रायः छपती रहती हैं।

दरबान ने अपना दाँया हाथ तीन बार अपनी ठोड़ी तक ले जाकर, गर्दन झुकाकर बादशाह आलमगीर औरंगजेब को आदाब बजाया।

"जहाँपनाह, एक नौजवान अपने एक दोस्त के साथ आपकी खिदमत में कुछ अर्ज करना चाहता है।"

"इजाजत है!" शाही अन्दाज से जहाँपनाह बोले और उन्होंने अपनी कोहनी को मसनद पर टिका दिया।

पलक झपकते ही औरंगजेब ने देखा—एक निहायत खूबसूरत नौजवान दरबार में लड़खड़ाता आया और अपने को सँभाल न सकने के कारण गिर पड़ा। शायद वह बेहद थका हुआ था।

औरंगजेब ने देखा, और अन्दाज-भरी निगाह नौजवान के चेहरे पर डाली—"क्या चाहते हो?"

नौजवान ने तीन बार कोर्निस की और अपनी फरियाद अर्ज की—"आलमपनाह, मैं हुजूर का गरीब गुलाम, शहंशाह की सल्तनत के साये में जनूब की सरहद पर के गाँव में, जिन्दगी बसर कर रहा था। मराठों ने चौथ और सरदेशमुखी वसूल करने की कोशिश में, मेरे खुशहाल गाँव पर छापा मारा। मेरे गाँव की रोजी-रोटी छीन, उसमें आग लगा दी। जालिमों ने सारे गाँव को खाक बना डाला। उस गाँव की राख लेकर, आपकी खिदमत में आया हूँ, आलमपनाह!" कहते-कहते उसकी हिचकियाँ बँध गयीं। शायद उसे जलते गाँव के खौफनाक नजारों की याद ताजा हो आयी।

शहंशाह का हाथ तलवार की मूठ पर गया। आँखों से चिनगारी निकलने लगी। उनका क्रोध मराठों की इस नयी हरकत पर उबल पड़ा। शहंशाह लगभग चीख पड़े—"काफिरों की यह मजाल! उन काफिरों की यह जुर्रत! यह हिम्मत उन चोर-डाकुओं की! उन बदतमीज गुस्ताखों को उनकी इस गुस्ताखी का सबक जल्दी मिलेगा। जब तक कुछ और बन्दोबस्त न हो, तब तक शाही मेहमानखाने में तुम्हारे ठहरने का इन्तजाम रहेगा।"

"हुजूर का शुक्रगुजार हूँ। आलमपनाह हुक्म दें तो एक अर्ज करनी थी हुजूर से।" नौजवान बोला।

"क्या?" औरंगजेब की आँखें सवालिया बन गयीं।

"गुलाम के पास कुछ भी अपना नहीं है। सब-कुछ हुजूर का है। हुजूर की मेहरबानी से गुलाम को कुछ बुनना आता है। आलमपनाह के कदमों में मेरा यह छोटा-सा तोहफा है। उम्मीद है शहंशाह आलम कबूल करेंगे।" कहते हुए उसने एक

रही है। युबक की आँखें, उसकी इस मादक चाल पर बेहोश हो गयीं। वह भावुक बन उसकी ओर देखता रह गया।

"सुना है आप यह शामियाना ईद के लिए तैयार कर रहे हैं।"

"बेशक। ठीक सुना आपने।"

"मुझे रोशनआरा कहते हैं। मैं शहंशाह की बहन हूँ। खैर छोड़िये इस बात को। हाँ, जिस दिन आप दरबार में आये थे मैं झरोखे में थी। आपने जाने से पहले मुझे शायद देखा भी था। आपके तोहफे से बेहद हैरान थी मैं। क्या गजब के धागों की महफिल जमाई है आपने। मेरी तो निगाहें अटकी-अटकी जा रही थीं। मुझे तो लगा कि जादूगर कोई झरना बन्द कर लाया है। निहायत ही बेहतरीन चीज थी वह।"

"मैं आपका शुक्रगुजार हूँ। आपनें मुझ नाचीज की इतनी कद्र की। हकीकत में मैं इस काबिल नहीं हूँ।"

"जी हाँ। हर बड़ी चीज अपने को छोटी कहती है और इसमें उसका बड़प्पन और भी निखर जाता है। उस दिन मेरे दिल में एक चाह पैदा हो गई थी। उम्मीद है उसे पूरा कर दोगे।"

युवक चकराया। चौकन्ना हो उसने इधर-उधर देखा। उसके रोंगटे खड़े हो गये। वह भूल गया कि वह शाही महल में है। आहिस्ता से बोला—"गुलाम को जो हुजूर का हुक्म होगा वह सिर माथे पर।"

"चौंकते क्यों हो, नौजवान! मेरी चाह तो बहुत छोटी-सी है।"

"जी कहिये, गुलाम पूरी करने की कोशिश करेगा।"

"तो हमें ईद के दिन पहनने के लिए एक जनाना लिबास बुनकर दो। तुम्हारी मेहनत शाही खजाने से दे दी जायेगी।"

युवक के माथे की सलवटें दूर हो गयीं और उसने स्वीकृति दे दी।

* * *

युवक की अमृतमय आँखें अब लाल रहने लगीं। दिन में वह शामियाने के करघे पर रहता और रात को अपने कक्ष में। उसने अपने कक्ष में एक करघा और लगा लिया था। उसकी अंगुलियाँ अब पहले से तेज कार्य करतीं।

ईद बहुत पास आ गयी थी। उसके शामियाने की क्षमता अभी अनुमानतः पौने दो लाख ही हो पाई थी। उधर रोशनआरा की चाह ने भी पनपना आरम्भ कर दिया था।

हलकी धूप धरती पर उतर आयी थी। युवक बैठा बुन रहा था। आज वह कुछ उदासी अनुभव कर रहा था। तभी रोशनआरा उसके बिलकुल समीप आकर बैठ गयी।

"मैंने कहा, सलामालेकुम। कहिये, क्या हाल है? आज बड़े उदास हो। मैं तुम्हें रोज अपने झरोखे से देखती हूँ, पर आज जैसी उदासी तो अभी तक न देखी

थी। क्या वजह है इसकी ?"

युवक की अंगुलियों की हरकत में कोई अन्तर नहीं आया। वे अपना कार्य करती रहीं। युवक ने कहा—"आज मुझे अपना गाँव याद आ गया। सुबह-ही-सुबह एक सपना आया था कि मराठों के सरदार ने दिल्ली पर हमला कर दिया। उसने शाही फौज को बुरी तरह हराया, और उसने बादशाह के सामने यह शर्त रखी कि वह मुझे उसके सुपुर्द कर दे, नहीं तो वह सारी दिल्ली को तबाह कर देगा। शहंशाह शायद उससे टक्कर लेने में घबरा उठे। उन्होंने मुझे उसके हवाले कर दिया। तभी मेरी नींद खुल गई। फिर बताइये तबीयत उदास क्यों न हो।"

रोशनआरा खिलखिलाकर हँस पड़ी—"मराठों का सरदार बहादुर हो सकता है, मुगल सल्तनत से टक्कर लेने काबिल नहीं। पाँच सौ तोपें उसे भूनने के लिए काफी हैं। डेढ़ लाख फौजी सिपाही उसे सालों तक मैदान मे टिकाये रखेंगे। पाँच हजार घुड़सवार और नौ सौ हाथी हमेशा किले के चारों तरफ रहते हैं। सुरंगें इतनी हैं, कि आराम से दिल्ली से आगरा तक पहुँचा जा सकता है। एक सुरंग तो इसी जगह है, जहाँ यह करघा है।" कहकर उसने एक ओर जाकर एक पत्थर हटाया और दीवार एक ओर सरक गयी। उसकी जगह, एक चौड़ा रोशनीदार दरवाजा बन गया। वह उसे युवक को दिखाती हुई बोली—"यह आगरा को जाती है।" इसके बाद उसी पत्थर को वहीं लगाकर सुरंग को बन्द करती हुई बोली—"घबराते हो नौजवान ! तुम्हारा बाल भी बाँका न होगा। और फिर सपने तो सपने ही होते हैं। हकीकत में उनकी गिनती ही क्या ?"

युवक ने कहा—"आपने जिन अलफाजों में मेरे घबराये दिल को राहत दी है, उसके लिये कैसे शुक्रिया अदा करूँ ?"

"हमने तुम्हारे नहीं अपने दिल को राहत दी है, नौजवान।" और रोशन मुसकरा उठी।

युवक की अंगुलियाँ जो शाही फौज के आँकड़े सुनने के लिये रुक गयी थीं, फिर चलने लगीं।

"दरअसल बात यह है कि हमने अपना लिबास भी देख लिया है जो कि तुम बुन रहे हो। जो बात तुमने उसमें दिखायी वह हमारे दिमाग के बाहर की चीज है। तुम्हारी रात-दिन की कसरत पर हमारा दिल हमें बहुत कोस रहा है।"

"हम तुम्हें कितनी तकलीफ दे रहे हैं, नौजवान।" रोशनआरा ने उसके चेहरे से उदासी की रेखाएँ मिटते देखकर कहा।

"तकलीफ की क्या बात, सरकार की खिदमत गुलाम के सिर-आँखों पर !"

"अच्छा यह तो बताओ धागे के टूट-टूट जाने पर भी शामियाने में गाँठ क्यों नहीं पड़ती ?"

"पर धागा ही तो टूटता है। लच्छी सलामत रहे, सरकार, शामियाना बेदाग बनेगा।"

और फिर उसकी इस बेरुखी से परेशान रोशन वहाँ से चली गयी।

युवक सोच रहा था—यह रोशनआरा भी एक पहेली है। उसे अपनी सुन्दरता पर गर्व है। ऊँह! पर क्या यह रूप उस पर अपना प्रभाव जमा सकेगा? वह इन विचारों में डूबता-उतराता रहा।

* * *

ईद रंगीनी और चहल-पहल लेकर आखिर एक दिन आ पहुँची। चारों ओर एक अजीब समाँ था। इस दिन खास चर्चा बस शामियाने की थी जिसके नीचे दो लाख आदमी नमाज पढ़ने जा रहे थे। शहंशाह आलमगीर की प्रतीक्षा हो रही थी।

औरंगजेब पूरी शान-शौकत के साथ अपने कक्ष से निकले और जनानखाने की ओर चल दिये। उनकी चाल में मस्ती थी, चेहरे पर रौब था। दिमाग में शामियाना घूम रहा था। सहसा दूर से रोशनआरा आती दिखायी दी। उसका लिबास इतना महीन था कि उसका एक-एक अंग उसमें से झाँक रहा था। औरंगजेब बौखला उठा। दिमाग में छाया शामियाना गिरता दिखाई दिया। वह चीख उठा—"बदतमीज! यह क्या स्वांग रचा है तूने?"

"भाईजान!" रोशनआरा कुछ न कह सकी।

"चुप रह बदजात लड़की! इस लिबास से तो तू नंगी अच्छी है। इसमें तेरे जिस्म का हर हिस्सा हू-ब-हू दिखाई दे रहा है।" औरंगजेब ने उसके झलकते अंगों की ओर संकेत किया।

"मैं क्या करूँ, भाईजान? यह मैंने बारह तह करके सिलाया है।"

"बकवास बन्द कर लड़की! जबान चलाती है! यह किसकी मजाल है जो तूने इस तरह की हरकत की? सच बता।"

"यह मेरे उस नौजवान ने···" रोशन के शब्द गले में अटक गये।

"उस काफिर की यह जुर्रत! उसकी यह हिम्मत कि शाही अस्मत पर डोरे डाले! उसकी गर्दन पर कल कलमा पढ़ा जायेगा।" औरंगजेब गुस्से से लाल होकर चला गया। रोशनआरा कुछ भी न कह सकी। देखती ही रह गयी।

अगले दिन उसी शामियाने के नीचे एक सूली गाड़ी गयी। जंजीरों से बाँधकर युवक को फाँसी के तख्ते पर ले जाया गया।

औरंगजेब ने कहा—"इसका साथी?"

"उसका कहीं पता नहीं चला।"

"जल्लाद, तख्ता खींचो!" औरंगजेब ने कड़कती आवाज में कहा।

इसके बाद सूर्य की प्रथम किरण के प्रखर होते ही युवक को फाँसी के तख्ते पर चढ़ा मिट्टी बनाकर उतार दिया गया।

* * *

देशपाण्डे की हत्या के पश्चात् उत्तेजित मराठों ने जब मुगल-प्रदेशों पर हमले करने आरम्भ किये तो औरंगजेब उनका दमन करने के लिए दक्षिण में पहुँचा। जिस

समय युद्ध के मैदान में मराठों की सेना से उसकी मुठभेड़ हुई तो उसे वही युवक दिखाई दिया जो कि देशपाण्डे का सहकारी बनकर दिल्ली आया था और अचानक ही गायब हो गया था।

औरंगजेब ने उससे पूछा—"तुम कैसे ?"

"जैसे आप !"

"क्या मतलब ?"

"शहंशाह ! देशपाण्डे से एक दिन रोशनआरा ने पूछा था कि धागा टूट जाता है किन्तु शामियाने में गाँठ तक नहीं पड़ती। तब उसने उत्तर दिया था—धागा ही तो टूट जाता है किन्तु लच्छी कहाँ टूटती है। सो यही बात है कि देशपाण्डे मारा गया, किन्तु देशभक्ति की शृंखला कभी टूट नहीं सकती।"

इतना कहकर वह जय-भवानी की हुंकार भरकर युद्ध-क्षेत्र में मुगल सेना का संहार करने लगा।

२७

प्राचीर के पीछे

स्वरूप ढौंडियाल

●

श्री स्वरूप ढौंडियाल का जन्म सन् १९३५ में गढ़वाल में हुआ था। बचपन शिमला और गढ़वाल की सुरम्य पहाड़ियों में बीता। साहित्य के प्रति विद्यार्थी-काल से ही रुचि रही। प्रथम कहानी 'सोमवार, अट्ठारह तारीख' थी जो 'मनोहर कहानियाँ' में प्रकाशित हुई। तब से निरन्तर लिख रहे हैं। हिन्दी की विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में आपकी रचनाएँ प्रायः प्रकाशित होती रहती हैं।

आजकल भारत-सरकार के जल तथा विद्युत विभाग में कार्य कर रहे हैं।

इतिहास-प्रसिद्ध शेर खाँ, उर्फ शेरशाह सूरी, लम्बे लम्बे डग भरता, अपने शयन-कक्ष की ओर बढ़ रहा था। चाल में स्थिरता थी, गाम्भीर्य और विश्वास था। नेत्रों में विगत जीवन के प्रति संवेदना और भविष्य के लिए आस्था थी।

एक गुप्तचर भागा-भागा आया—"जहाँपनाह ! परवरदिगार···!"

शेरशाह सूरी के बढ़ते कदम थम गये। बलिष्ठ, पौरुष-भरी देह इस प्रकार वहीं पर रुक गई, जैसे बरसाती-मौसम में पहाड़ से लुढ़कती विशाल चट्टान अवरोध पाकर रुक गई हो। प्रश्न-सूचक मुद्रा में घूमकर, गुप्तचर की ओर देखा। सशंकित दृष्टि उसके मुखमण्डल की झुर्रियों में अपना भविष्य ढूँढने लगी। संशय उसके जीवन का अविभाज्य अंग बन गया था। भावी आशंका के काले-काले बादल, उमड़ते-घुमड़ते उसे अपनी ओर आते प्रतीत हुए। भाग्य के अकस्मात् परिवर्तन से निर्मित फरीद खाँ, सौतेली माँ के अत्याचारों से पीड़ित और विषादपूर्ण जीवन का भोक्ता फरीद खाँ, आज शहंशाह था, परवरदिगार था। वह भावी आशंका से न डरे, यह सम्भव न था। भाग्य बनते, बदलते और पनपते जिसने देखे हों, वह उनके ध्वस्त हो जाने की कल्पना भी कर सकता है।

गुप्तचर हकलाया—"एक बूढ़ा···एक उम्रदराज, किले के पीछे···"

उसने बात समाप्त भी नहीं की थी, कि शेरशाह दहाड़ा—"सीधे और साफ-साफ कहो। वक्त की बरबादी शेरशाह गवारा नहीं कर सकता। तमाम उम्र उसने एक-एक लमहे की कीमत जानी है। बहार खाँ पर झपटते शेर में और जिन्दगी-मौत में फासला न था और एक लमहे की बरबादी भी बहार खाँ की जिन्दगी की बरबादी का सबूत बन सकती थी। शेरशाह ने वक्त की कद्र की है। सरे-रहगुजर, जिन्दगी में, आँखें खोल-खोलकर चला है। रात की इन खामोश घड़ियों में किसी बूढ़े का शाही महलों से क्या वास्ता ?"

शेरशाह घबराहट में स्वयं को विस्मृत कर बैठा था। वह भूल चुका था कि एक गुप्तचर के सम्मुख अपनी श्रेष्ठता और पौरुष का दावा जताना ऐसा ही है, जैसे सूर्य का जुगनू को अपने प्रकाश की महत्ता समझाना।

गुप्तचर बोला—"जहाँपनाह ! बूढ़ा आपसे मिलना चाहता है, इसी वक्त ! कहता है—'मेरा शहंशाह से मिलना जरूरी है'···"

शेरशाह ने गुप्तचर की आँखों से कुछ पढ़ लेना चाहा, कुछ पा लेना चाहा। बूढ़े की इस मिन्नत में उसे एक साजिश की बू महसूस हुई। वह स्तम्भित और अटल खड़ा रहा—एक खामोश बुत की तरह !

गुप्तचर उत्तर की प्रतीक्षा में था और शेरशाह अपनी अंदरूनी कशमकश में उलझा हुआ था। चन्द लमहों की जज्बाती जद्दो-जेहद के बाद, शेरशाह ने निश्चयात्मक स्वर में कहा—"बूढ़ा पेश किया जाए !"

"हुजूर···!" गुप्तचर के माथे पर पसीने की बूँदें उभर आईं। पसीने की बड़ी-बड़ी बूँदें, महल की भीतरी छत पर लटकते फानूसों की रोशनी में, चेचक के फूले हुए फफोलों की तरह लग रही थीं। शेरशाह एकटक गुप्तचर के पसीने से लथपथ चेहरे को घूरता रहा—निर्निमेष, एकटक !

"आलीजाह !"—गुप्तचर ने साहस से मुँह खोला, जैसे वह कोई भद्दी और नामाकूल हरकत करने लगा है—"वह आपसे महल के पीछे ही मिलना चाहता है। वह महल में कदम न रखने की कसम खा चुका है।"

"कह दो, वापिस चला जाये ! शेरशाह रात के इस खामोश और खुशनुमा माहौल को, जबकि रात की स्याही हर जर्रे-जर्रे को आराम की तालीम दे रही है, बरबाद नहीं करना चाहता।"

गुप्तचर चल पड़ा।

शेरशाह को महसूस हुआ, जैसे उसने एक बहुत बुरे वक्त को टाल दिया हो। एक अनिष्ट से त्राण पा लिया हो, लेकिन अन्तर में एक कीड़ा कुलबुला उठा। महल के दरो-दीवार प्रकम्पित-से जान पड़े। एक बूढ़े का दर्द-भरा, मुफलिसी से बेजार, सूखा चेहरा आँखों में झिलमिलाने लगा। वह न्यायप्रिय है। धार्मिक सहिष्णुता और सुधारों में बेजोड़ शेरशाह सूरी आज एक साधारण बूढ़े से न्याय न कर सका, यह उसके लिए डूब मरने की बात होगी। बूढ़ा अकारण नहीं आया होगा।

गुप्तचर दरवाजे तक पहुँचा था। शेरशाह चिल्लाया—"रशीद !"

"जहाँपनाह !" गुप्तचर दौड़ा-दौड़ा आया।

"कह दो मैं आ रहा हूँ।"

बात की बात में शेरशाह महल के पीछे खड़ा था। जिरह-बख्तर से उसका जिस्म लैस था। तलवार कमर में लटकी थी।

बूढ़े को देखते ही बादशाह को महसूस हुआ, कि वह एक बहुत ही बचकाना कदम उठा चुका है। बूढ़े की मैली सलवार और मिर्जई से उसकी गरीबी का साफ इजहार और अहसास होता था। शहंशाह शेरशाह सूरी, हुमायूँ का कट्टर प्रतिद्वंद्वी आज एक उजड्ड, गँवार और निहायत मामूली इन्सान के सामने तलब हो, यह उसकी सरासर तौहीन थी।

शेरशाह पूछना चाहता था, कि अरे कमअक्ल बूढ़े ! खुदा के बन्दे ! इस नादानी की जुर्रत की सजा जानता है ? शेरशाह के इन्साफ की धाक बँध चुकी है। अफगान उस पर जान देते हैं। मुगल सम्राट् हुमायूँ उससे मुँह छिपाता फिर रहा है। और तूने दिल्लेरी की, मुझे इस रात मे बुलाने की। अगर कोई खास राज की बात न हुई, तो शेरशाह इस गुस्ताखी के लिए तुझे माफ नहीं कर सकता।

लेकिन शेरशाह कुछ भी न कह सका। उसे महसूस हो रहा था, कि वक्त की यह भयानक खामोशी बोझिल और दुसह हो गई है। वह निचुड़-सा गया, जैसे उसमें खून न हो, जान न हो। सब-कुछ एक ख्वाब की तरह घट रहा था। एक ऐसा ख्वाब, जिसे इन्सान न देखना चाहते हुए भी कभी-कभी गहरी नींद की घड़ियों में देखता रहता है···देखता ही रह जाता है···उसका अपने पर वश नहीं होता।

बूढ़ा फुसफुसाया—"फरीद खाँ!"

शेरशाह सूरी चौंका। इस किस्म के बेअदबी-भरे लफ्ज सुनने की उसे आदत नहीं थी।

"आखिर तुम आ गये, फरीद खाँ!"—बूढ़ा बोल रहा था—"तुम्हारे तख्तो-ताज ने तुम्हें रोका नहीं, एक बदनसीब और गरीब बूढ़े के पास आने से! बेइंतहा दौलत ने तुम्हारे सुनहरे काम की मखमली जूतियों वाले पाँवों में बेड़ियाँ नहीं डाल दीं!"

शेरशाह का चेहरा गुस्से से तमतमा उठा, हाथ तलवार की मूठ पर जा पहुँचा। बूढ़े ने देखा और बोला—"वाह! इसी बूते पर इन्साफ का दम भरते हो! जानते हो—गुस्सा इन्सान की अन्दरुनी कमजोरियों का इज़हार करता है। इन्सान को हैवानियत की अन्धेरी खोह में ढकेल देता है। अपनी तलवार की तेज धार को क्या इस बूढ़े जिस्म पर आजमाओगे? जानते हो, मेरे खून की एक-एक बूँद तुम्हारी शहंशाहियत को नेस्ता-नाबूद कर सकती है···फरीद खाँ, मुझे गौर से देखो, जरा करीब आकर देखो! जिन्दगी उतनी ही नहीं है, जितनी तुम उसे देखते हो, समझते हो···!"

बूढ़ा कहता गया—"याद कर···मेरे बेटे, याद कर! खुदा तुझे बख्स देंगे। तेरे गुनाहों की माफी मिल जायेगी। याद कर, सहसराम की जागीर को, अपने अब्बाजान हसन को और अपनी अम्मी को! याद कर, अपने उस बुरे वक्त को, जब तू अपनी सौतेली अम्मी के जुल्मों से घबराकर, घर छोड़कर भागा नहीं था··· उस समय तू अपने पड़ोसी के घर जाता था—करीम बख्श के घर! मैं ही करीम बख्श हूँ, जिसके पाँव कब्र तक पहुँचने वाले हैं। घर से, सौतेली अम्मा के बदसलूकों से तंग आकर जब तू मेरे घर आता था, तो मैंने तुझे मोहब्बत दी, पनाह दी—और आज, तू सुनकर हँस देगा, कि मैंने तुझे अपने घर की रुखी-सूखी रोटियाँ भी दीं। हमारे लिए वही रुखी-सूखी न्यामत थी और आज भी वही है। अल्ला ताला ने तेरी फरियाद सुन ली—यह तेरी खुशनसीबी है, मेरे नूरे-चश्म!"

"अहसानों की कीमत माँगने आये हो!" शेरशाह के मुख से निकला।

"फरीद खाँ!" बूढ़े के स्वर में कम्पन था—"यह तू नहीं बोल रहा है, तेरे ताजो-तख्त के कीमती जवाहरात बोल रहे हैं। मैं नहीं सुन रहा, मेरी मुफलिसी सुन रही है। तू वह फरीद खाँ नहीं रहा, जो एक मोहब्बत-भरी नजर मिल जाने पर अपने को इन्सान समझ लेता था, और मोहब्बत देने वाले को पैगम्बर! आज तू

अपने को पैगम्बर समझ रहा है, और मुझे नाचीज बरसाती कीड़ा। लेकिन, कान खोलकर सुन ले, मैं इन्साफ माँगने आया हूँ—फरीद खाँ से भी, और शेरशाह सूरी से भी। दिन की चमकती रोशनी में आने की बजाय इस कालिख-भरी रात में आना मैंने बेहतर समझा, इस डर से, कि कहीं दिन के उजाले में बादशाह के सफेद चोगे में गरीब हाथों की कालिख न लग जाय! उसके नुमाइंदे, अमीर, दरबारी, सिपह-सालार सुन न लें···मगर, मुझे इन्साफ तो चाहिए ही! मैं भीख नहीं माँग रहा, यह मेरा हक है।"

रात गहरी होती जा रही थी। प्राचीर के पीछे दो छायाएँ खड़ी थीं। दोनों में जमीन-आसमान का अन्तर था।

"इन्साफ···फैसला···!"—शेरशाह बुदबुदाया।

"हाँ, इन्साफ, मेरे बेटे···इन्साफ! सुना है, शेरशाह सूरी हिन्दुस्तान के बादशाहों का बादशाह है। अपनी हुकूमत का काम बड़ी मुस्तैदी से करता है। सारी सल्तनत 'सरकार' में और 'सरकार' परगनों में तकसीम कर दी गई है। परगनों की देख-रेख के लिए शिकदार और अमीन मुकर्रर कर दिये गये हैं। फारसी और हिन्दी को बराबर का रुतबा दिया गया है। सारे देश की पैमाइश करके लगान की दर मुकर्रर कर दी गई है। सुना है, अपनी रियाया के आराम और भलाई की हमेशा तुम्हें फिकर रहती है, किसान अपनी मर्जी के मुताबिक जिन्स या रुपये में लगान दे सकते हैं। मुफलिस और मजलूम लोगों से हमदर्दी रखते हो। तुम्हें कभी किसी ने बेइन्साफ नहीं कहा···लेकिन···"

बूढ़ा कुछ देर रुका। मुँह में जमे थूक को हलक के नीचे उतारने के बाद बोला—"फरीद खाँ! याद कर, तुझे नसीम याद है? मेरी बेटी नसीम?"

शेरशाह सूरी कातर नेत्रों से बूढ़े की ओर देखता रह गया। अतीत के एक धुँधले चौखटे से नसीम की तस्वीर उसकी आँखों के सामने छिटक पड़ी···

उसने देखा—तेरह-चौदह साल की एक मासूम लड़की घुटने टेककर बैठी है। अनुनय-भरे शब्दों में बोल रही है—"फरीद! मुझसे शादी करोगे न! तुम्हारी बाँहों में खो जाने का ख्याल मुझे हर वक्त मीठा लगता है, राहत देता है।"

"नसीम!" फरीद खाँ बोला था—"तू बड़ी भोली और नासमझ है। तू शायद हकीकत को जानती नहीं। मेरी जिन्दगी का कोई ठिकाना नहीं। मेरी मंजिल बहुत दूर है। मैं तो खानाबदोश हूँ। अब्बाजान सौतेली अम्मी के इशारों पर नाचते हैं। मुझे तू सहसराम का जागिरदार न गिन! मैं एक भिखारी हूँ—महज एक भिखारी!"

"फरीद! एक बार हाँ कह दो। मैं अपने फरीद के साथ जहन्नुम में भी रह सकती हूँ, कह दो न हाँ!"

और फरीद खाँ ने हामी भरी। दोनों एक-दूसरे की बाँहों में खो गये।

समय बीता। भाग्यचक्र अबाध गति से परिवर्तित होता रहा। माँ के दुर्व्यवहार से तंग आकर फरीद खाँ जौनपुर चला गया। अपनी सम्पूर्ण शक्ति को उसने अपनी

महत्वाकांक्षाओं के केन्द्र-विन्दु पर केन्द्रित कर दिया। लगन उसके जीवन का मूल मन्त्र था। थोड़े ही समय में वह अरबी-फारसी भाषाओं में दक्ष हो गया। साहित्य और इतिहास में उसे विशेष रुचि थी।

बिहार का सूबेदार जमाल खाँ उसकी योग्यता से प्रभावित हुआ और उसके पिता को समझाया कि वह फरीद खाँ से अच्छा सलूक करे। फरीद खाँ ने अपने बाप की जागीर सँभाली लेकिन सौतेली माँ ने उसे टिकने न दिया···

इसके बाद फरीद खाँ, बिहार के सूबेदार दरिया खाँ लोहानी के पुत्र बहार खाँ के आश्रम में रहा। वीरतापूर्वक एक शेर को मारने के बदले बहार खाँ से उसे शेर खाँ की पदवी मिली। कुछ समय बाद उसकी बहार खाँ से अनबन हो गई, परन्तु बाबर ने उसे अपना लिया।

बाबर की कृपा से उसे अपने पिता हसन की जागीर भी मिल गई और सहसराम की जागीर के अलावा, उसे कुछ इलाके बाबर की ओर से भी मिल गये।

इस प्रकार एक दिन आहिस्ता-आहिस्ता अपनी शक्ति बढ़ाने के बाद, उसने मुगल साम्राज्य के खिलाफ बगावत का झंडा खड़ा कर दिया। मुगल सम्राट् हुमायूँ को शेर खाँ की चमकती हुई किस्मत के सामने मुँह की खानी पड़ी। शेर खाँ, शेरशाह सूरी बन बैठा···

और, नसीम उसे याद न रही।

लेकिन, आज शेरशाह सूरी उस बूढ़े के सामने एकाएक दयनीय बन गया। अरबी और फारसी के विद्वान् को अपनी बात समझाने के लिये शब्द न मिल पाये। मुगल साम्राज्य से टक्कर लेने और बगावत करने वाला, अपने ही मन के द्वन्द्व से परास्त हो गया। बहुत ही मद्धिम और स्पष्ट स्वर में वह बुदबुदाया—"क्या चाहते हो?"

बूढ़ा चिल्लाया—"तुम्हें शादी करनी होगी, नसीम से! मेरी बेटी नसीम से शादी करनी होगी। फरीद! वह अभी तक तुम्हारा इन्तजार कर रही है। वह अभी तक कुँवारी है। फरीद खाँ का कौल उसे याद है, और फरीद खाँ के अलावा कोई और उसे भला लगता भी नहीं। एक बूढ़ा बाप अपनी बेटी की खुशी माँगने आया है, फरीद खाँ से···और वह, शहंशाह शेरशाह सूरी से इन्साफ चाहता है···"

"नामुमकिन!" शेरशाह के मुँह से निकला। मगर, अन्दर-ही-अन्दर जैसे किसी ने उसके दर्प को मरोड़कर रख दिया, कि जोर से किसी मासूम की मुहब्बत के खिलाफ चीखना तो इन्साफ नहीं, है फरीद खाँ!

वह अपनी स्थिति स्पष्ट करना चाहता था। एक बादशाह एक भिखारी के साथ कैसे सम्बन्ध जोड़ सकता है? शेरशाह ऐसा नहीं करेगा, कभी नही करेगा!

लेकिन, मन में बवण्डर उठने लगे। हृदय की कोमल भावनाओं ने उसके शहंशाही गरुर को पानी-पानी कर दिया। वह वही मासूम फरीद खाँ बन गया। वही, पूनम की चाँदनी-सी नसीम उसकी बाँहों में सिमटने लगी और फरीद खाँ बुदबुदाया—

"करीम बख्श, मुझे माफ कर दो !"

मगर, शहंशाह शेरशाह सूरी काँप रहा था। इन्सानियत माफी माँगने के लिए बूढ़े के कदमों की ओर झुक जाना चाहती थी···और शेरशाह कहना चाहता था कि मैं तुम्हें मालामाल कर दूँगा। तुम्हारी नसीम की शादी किसी खूबसूरत और अमीर लड़के से कर दी जायेगी, मगर मुझे माफ कर दो। मैं उससे शादी नहीं कर सकता। शहंशाहों के रस्मों-रिवाज और उनकी सियासी पाबन्दियाँ कभी-कभी उनको मजबूर कर देती हैं···"

वह क्षमा माँगने के लिये झुक ही रहा था कि उसके जिस्म पर चिपके जरह-बख्तर उसे चुभ गये। उसकी चेतना लौटी। ओह ! वह शहंशाह है ! हिन्दुस्तान की किस्मत का सितारा शेरशाह सूरी है। वह चाहे तो अपनी सारी रियाया को अपने कदमों में झुका दे, फिर वह एक बूढ़े के सामने झुक रहा है ? एक मामूली और कमजोर बूढ़े के सामने ?···

शेरशाह सूरी ने ताली बजाई। दो सिपाही दौड़कर आ पहुँचे और उन्होंने बूढ़े को कसकर पकड़ लिया···

* * *

प्राचीर के पीछे एक बार इन्सानियत जी तो उठी थी, मगर फिर वहीं रात के अन्धकार में हमेशा के लिये डूब भी गई।

२८

भूत की परछाईं

हंसराज रहबर

●

श्री हंसराज 'रहबर' का जन्म सन् १९१३ में भूतपूर्व रियासत पटियाला के हरियाऊ सिंगवां ग्राम में हुआ। गृह-कलह और निर्धनता से तंग आकर दस-ग्यारह वर्ष की उम्र में घर छोड़ दिया। पहले अखबार बेचकर, फिर ट्यूशनें करके एम० ए० तक शिक्षा प्राप्त की। विद्यार्थी-जीवन से ही राजनीति में भाग लेने लगे। जींद राज्य की राजधानी संगरूर में प्रजामण्डल की नींव डाली। पुलिस की सख्तियाँ झेलीं और दो बार जेल-यात्रा भी की।

सामाजिक और राजनैतिक जीवन में हुए अनुभव को ही साहित्य में व्यक्त किया है। आरम्भ में उर्दू में कविताएँ लिखीं, इसीलिए 'रहबर' उपनाम रखा। कहानियाँ १९३९ से लिख रहे हैं। लाहौर में कई वर्ष तक उर्दू-अखबारों के सम्पादक रहे। विभाजन के बाद दिल्ली में आ बसे और तब से प्रायः कलम की मजदूरी ही आजीविका का साधन बनी हुई है।

रचनाएँ

'प्रेमचन्द—जीवन, कला और कृतित्व', 'आंके-बांके', 'संकल्प', 'परेड-ग्राउण्ड', 'कंकर', 'हाथ में हाथ' 'उपहास', 'नव-क्षितिज', 'हम लोग', आदि।

"देवानन्द ! उठो, दौड़कर जाओ ! मैं कब से तुम्हें ढूँढ रही हूँ। तुम यहाँ बैठे यह क्या बना रहे हो ?"

"महारानी ! इसे यों न छीनिये। यह मेरे देवता झूठ की मूर्त्ति है। मैं इसे पाँव लगा रहा हूँ।"

"तुम सचमुच सोदाई हो ! चारों ओर सत्य और धर्म की धूम मची है और तुम झूठ की मूर्ति लिए बैठे हो !"

"महारानी ! यह अपने-अपने मन की भावना है। जो एक के लिए अमृत है, वह दूसरे के लिए विष है। जिसे दूसरे लोग धर्म और सत्य मानते हैं, वह मेरे अथवा आपके लिए झूठ हो सकता है।"

महारानी मुसकराई।

"अच्छा, इधर आओ। यह मूर्त्ति मुझे दो।"

"लीजिये, आपको भेंट करने के लिए तो बना ही रहा था।"

"मैं तुम्हें महल से निकलवा दूँगी !" महारानी ने कृत्रिम रोष से कहा।

"महारानी ! ऐसा न कीजिये। आपकी सेवा करते बाल सफेद हो गये। अब इस बुढ़ापे में कहाँ जाऊँगा ? हम गरीबों को तो महात्मा बुद्ध के धर्मसंघों में भी आश्रय नहीं मिलता !"*

महारानी फिर मुसकराई और मूर्त्ति को ध्यान से देखकर बोली :

"यह क्या ! मूर्त्ति पत्थर की और पाँव मोम के लगा रहे हो ?"

"साँच की आँच लगते ही पिघल जो जायेंगे !"

देवानन्द के शुष्क होंठों पर मुसकान और आँखों में चमक उत्पन्न हुई।

महारानी ने उसे और मूर्त्ति को देखा और फिर एक मिनट चुप रहने के उपरान्त बोलीं :

"अच्छा, अब दौड़कर जाओ और बाग से अच्छे-अच्छे फूल चुनकर लाओ। मैं तुम्हारे इस झूठ को पाँव लगाती हूँ।"

यह उस समय की बात है, जब महाराजा अशोक की कीर्त्ति और महानता का डंका सारे संसार में बज रहा था। हर ओर उनकी न्यायशीलता, धर्मप्रियता और दयाभाव की चर्चा थी। भगवान् बुद्ध ने कड़ी तपस्या के पश्चात् आत्मशुद्धि के जो सिद्धान्त निर्धारित किये थे, महाराज अशोक उन सिद्धान्तों की सजीव प्रतिमा थे। उन्होंने पूर्व,

---

* बुद्ध के धर्मसंघों में दास, राजा के कर्मचारी और कर्जदारों का प्रवेश वर्जित था।

पच्छिम और उत्तर-दक्षिण में भिक्षु भेज दिये थे, जो भगवान् बुद्ध का यह स्वर्ण संदेश दुनिया को सुनाते घूम रहे थे कि सत्य का पालन ही वास्तविक भक्ति है, नेकी का चलन वास्तविक धर्म है और धर्म का मार्ग अपनाकर संसार के दुखों से मुक्ति सम्भव है। महाराज अशोक सांसारिक सुखों से मुँह मोड़कर तप और त्याग का जीवन बिता रहे थे और उनकी यह प्रबल मनोकामना थी कि उनकी प्रजा भी पवित्रता का जीवन व्यतीत करे और धर्म के सिद्धान्तों को प्राणों से प्रिय समझे। इसीलिए उन्होंने धर्म के उच्च सिद्धान्त जगह-जगह स्तम्भों पर अंकित करवा दिये थे और यों भी ढंढोरची यदा-कदा उनकी घोषणा करते राज्य-भर में घूमा करते थे ताकि अपढ़ और मूढ़ जनता सोते-जागते इन सिद्धान्तों का ध्यान रखे और इन पर चलकर अपने जीवन को शुद्ध और पवित्र बनाये। महाराज अशोक को यह भी विश्वास हो गया था कि हम इस दुनिया में जो नेक काम करते हैं, उसके बदले में दूसरी दुनिया में हमें परम आनन्द अर्थात् स्वर्ग प्राप्त होता है। अतः उनकी यह मान्यता भी स्तम्भों पर अंकित करवा दी गई थी और उनकी प्रिय प्रजा पर यह बात स्पष्ट कर दी गई थी कि महाराज अशोक परलोक के मुकाबले में इस लोक की प्रत्येक वस्तु को तुच्छ और नश्वर समझते हैं। वह निर्लेप हैं और दुख-सुख की कल्पना से मुक्त सारी प्रजा उनकी संतान है और वे उसे ऐसे ही प्यार करते हैं जैसे एक पिता अपने बच्चों को करता है।

एक धर्म-स्तम्भ के अनुसार महाराज अशोक के विशाल राज्य में युद्ध के भीषण नक्कारों के स्थान पर अब सर्वथा धर्म की शान्तिमय नौबत सुनाई देती थी। उनका अस्तित्व दया और धर्म का स्रोत था, किसी को शिकवे-शिकायत की गुँजायश नहीं थी। सारी प्रजा शान्त और समृद्ध जीवन बिता रही थी; और यह कायदे की बात है कि जिस राजा की प्रजा सुखी और सन्तुष्ट हो, वह स्वयं भी सुखी और सन्तुष्ट होता है। अतः महाराज अशोक सुखी और सन्तुष्ट थे। देश में उन्हें जो ख्याति प्राप्त थी, सो तो थी ही, यूनान और ईरान तक के दार्शनिक प्रतिनिधि उनके दरबार में उपस्थित होकर ज्ञानार्जन करते थे।

इस समय जब धर्म और सत्य की धूम थी, जब राजा और प्रजा सुख और शान्ति का जीवन व्यतीत कर रहे थे, जब सर्वोच्च राजनीतिक सत्ता और श्रेष्ठतम धार्मिक नीति के समन्वय से एक नवसंस्कृति का निर्माण हो रहा था, एक दुःखद घटना ने महाराज अशोक के सुख और शान्ति को अस्त-व्यस्त कर दिया। वृद्धावस्था में उनकी सर्वप्रिय महारानी असंधिमित्रा का सहसा देहान्त हो गया। धर्म के उच्च सिद्धान्तों को छोड़ महाराज को यदि किसी से प्रेम था तो महारानी असंधिमित्रा से। महारानी होने के अलावा वह उनके प्रिय पुत्र कुणाल की माँ थीं। जिस महान् नारी के सहयोग और सम्पर्क में जीवन की लम्बी यात्रा तय की थी अब उसका गम किसी प्रकार भुलाये नहीं भूलता था। महाराज अशोक निस्संदेह बड़े ही साहसी, उदार और दयावान् थे, लेकिन वह सदमे उठाने और गम सहने के आदी नहीं थे। और गम सहने की उनकी अब अवस्था ही कहाँ रह गई थी ? जीवन-संगिनी की असल

जरूरत जवानी से कहीं अधिक बुढ़ापे में होती है, अतः इस क्षतिपूर्ति के लिए एक नई जीवन-संगिनी की खोज शुरू हुई और थोड़े ही दिनों में महाराज अशोक का विवाह राज्य की एक सुन्दर रमणी तिष्यरक्षिता से हो गया।

तिष्यरक्षिता के रूप और लावण्य का वर्णन करने के लिए कोई उचित उपमा हमें नहीं सूझती। अद्वितीय कहना भी ठीक नहीं होगा। हिन्दुस्तान जैसे विशाल देश में किसी वस्तु का अभाव नहीं। ऐसी रमणियाँ उस समय भी बहुत थीं, उसके बाद भी रहीं और अब भी मिल सकती हैं। अजन्ता की महान् कला को जो कीर्ति और अमरत्व प्राप्त है, वह इन्हीं रमणियों के रूप और लावण्य का चमत्कार है।

नई महारानी को देखकर महाराज अशोक मुग्ध हो उठे और इस बुढ़ापे में भी वह उसे हृदय की समस्त शक्ति से प्रेम करने लगे। हास-विलास और आनन्द के क्षणों में महारानी अगर दिन को रात कहती थीं तो वह उसकी हाँ में हाँ मिलाने में गर्व का अनुभव करते थे। लेकिन तिष्यरक्षिता जितनी सुन्दर थी, उतनी ही घमंडी और हठी भी। महाराज अशोक जितने गम्भीर और विचारशील थे वह उतनी ही चंचल और मुँहफट थी। महाराज जितने त्यागी और संयमी प्रसिद्ध थे वह उतना ही सांसारिक ऐश्वर्य और भोग-विलास पर जान देती थी। महाराज की दृष्टि में जो वस्तु अकिंचित और तुच्छ थी, वह उसके लिए अमूल्य और प्रिय थी। उसकी दृष्टि में धर्म के उच्च सिद्धान्तों की कुछ भी प्रतिष्ठा नहीं थी। वह परलोक के सुख और आनन्द को कपोल-कल्पित कहकर व्यंग्य करती और महाराज के बुढ़ापे तक की खिल्ली उड़ाने में दरेग न करती थी।

महाराज अशोक चंचल और रूपवती महारानी की इन बातों की तनिक भी परवाह न करते। उनके मन में यह उत्कट अभिलाषा थी कि उनके और महारानी के जीवन में सामंजस्य उत्पन्न हो इसलिए वह उसे बड़े-बड़े धर्मोत्सवों में अपने साथ ले जाते ताकि वह महात्माओं के दर्शनों और विद्वानों के उपदेशों से प्रेरित होकर धर्म में प्रवृत्त हो। कई बार यात्रा के समय वह धर्म-स्तम्भों के लेखों की ओर महारानी का ध्यान आकर्षित करते और बड़े ही प्यार से कहते—"यह रूप, यह यौवन और यह शरीर नश्वर है। मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह व्यसनों को त्यागकर शुभ कार्यों में मन लगाये।"

महारानी आँखों में चंचलता भरकर महाराज की ओर देखती और विद्रुप-भाव से खिलखिलाकर हँस पड़ती। महाराज अशोक जो प्रजा के पिता और धर्मावतार का पद प्राप्त कर चुके थे विस्मय से उसके मुँह की ओर ताकते रह जाते।

मानव-हृदय को समझना कठिन है। महारानी तिष्यरक्षिता जितने धर्मोत्सव देखती और जितने उपदेश सुनती उतना ही धर्म के प्रति उसकी उदासीनता और बढ़ती। खुद तो क्या बदलती वह महाराज अशोक के तप और त्याग से भी चिढ़ती थी। वह उनके आगमन से पूर्व हार-शृंगार करती और सुन्दर फूल मँगवाकर सेज पर बिछा देती थी।

महाराज अशोक के अपने राजभवन में भौतिकवाद और अध्यात्मवाद में

संघर्ष छिड़ा था।

देवानन्द तिष्यरक्षिता का बूढ़ा दास था। धर्म और अध्यात्मवाद के विरुद्ध इस संघर्ष में वह उसकी सहपक्षी और विश्वस्त था।

एक ही ऐतिहासिक घटना ने महाराज अशोक और देवानन्द के जीवनों को विभिन्न प्रकार से प्रभावित किया था; और यह घटना कलिंग की प्रसिद्ध लड़ाई थी। इतिहासकार लिखते हैं कि इस युद्ध में मानव-हत्या का वीभत्स दृश्य महाराज अशोक से देखा नहीं गया और उसके उपरान्त उन्होंने कभी युद्ध न करने की प्रतिज्ञा की। यह एक ऐसी अद्वितीय घटना है, जिसके कारण महान् अशोक का नाम आज भी स्वर्ण अक्षरों में लिखा जाता है।

उन्होंने इस हृदय-परिवर्तन के बावजूद कलिंग को मगध राज्य का एक प्रांत बनाया और इस युद्ध में जो डेढ़ लाख जंगी कैद हुए थे, उन्हें सदा के लिए अपना दास बनाकर रखा।

देवानन्द इन्हीं डेढ़ लाख इन्सानों में कैद होकर पाटलिपुत्र आया था। उससे पहले वह एक स्वतंत्र नागरिक था। वह एक अच्छा कलाकार था—मूर्तियाँ बनाता और दर्शन-विद्याएँ पढ़ता था। देश पर विपत्ति आई तो वह भी तलवार हाथ में लेकर जंग में कूद पड़ा। मगर कलिंग की पराजय के उपरांत वह महाराज अशोक के तुच्छ दास का जीवन बिता रहा था। जवानी विभिन्न प्रकार की मुशक्कत करते गुजरी थी। अब बूढ़ा हो गया था और शायद इसीलिए उसकी सेवाएँ राजभवन में परिवर्तित कर दी गई थीं।

जब महारानी तिष्यरक्षिता धर्म के सिद्धान्तों और परलोक की कथित मान्यताओं का मजाक उड़ातीं और आँखों में चचलता भरकर हँसा करती थीं तो उसके होंठों पर भी हलकी-सी मुसकान आ जाती और वह विद्रूप भाव से इधर-उधर देखा करता था। महारानी ने उसकी और उसने महारानी की मनोगत भावनाओं को समझ लिया था। उन दोनों के अपने-अपने निजी घाव थे और इसी नाते वे एक दूसरे के मूक सहयोगी और समर्थक बन गये थे।

देवानन्द का गम पुराना था और एक दास की हैसियत से उसने अपने आपको संयत रखना भी सीख लिया था। लेकिन जब घाव रिसता था तो वह विवश कराह उठता था। जब वह स्तम्भों पर धर्म के सिद्धान्त अंकित होते देखता और लोगों को सत्य-अहिंसा की बातें करते सुनता तो वह कोई ऊल-जलूल बात कहकर हँस पड़ता, देर तक हँसता रहता। उस पर उन्माद-सा तारी हो जाता और आँखें भावातिरेक से चमक उठतीं, इसीलिए वह लोगों में सनकी और सौदाई प्रसिद्ध था। यह मानी हुई बात है कि जो व्यक्ति समय की प्रचलित मान्यताओं का विरोध करता है, वह अवश्य सौदाई और सनकी कहलाता है।

महारानी तिष्यरक्षिता ने भी देवानन्द को कई बार इस उन्माद-अवस्था में देखा था; और इस भावुक रमणी ने अपने बूढ़े दास की आंतरिक पीड़ा को समझ

लिया था। अतः वह उसकी ऊल-जलूल बातें भी सहानुभूति से सुना करती थी।

गया में बहुत बड़ा धर्मोत्सव था। लोग दूर-दूर से आकर जमा हो रहे थे। उत्सव का केन्द्र वह बोधि वृक्ष था, जिसके नीचे तपस्या करते हुए भगवान् बुद्ध को ज्ञान प्राप्त हुआ था। यह वृक्ष अब स्वयं ज्ञान, भक्ति और श्रद्धा का प्रतीक बना हुआ था। महाराज अशोक इस समय बौद्ध-धर्म के सबसे बड़े अनुयायी थे और वह बौद्ध-धर्म के इस सबसे बड़े चिह्न को आस-औलाद और राज्य से भी अधिक मानते थे। वह इस उत्सव से कई दिन पूर्व गया में पधारे थे। नित्य सुबह उठकर वह इस बोधि-वृक्ष के दर्शनों को जाते और उसकी परिक्रमा करते थे।

उत्सव से दो-तीन दिन पूर्व महारानी तिष्यरक्षिता ने देवानन्द को बुलाया और गुप्त भाव से कहा—"किसी विद्वान् पंडित को बुलाकर लाओ जो ज्योतिषी भी हो और सब प्रकार के मंत्र जानता हो।"

देवानन्द ने विस्मय से महारानी की ओर देखा और डरते-झिझकते पूछा :

"आप क्या करेंगी पंडित को बुलाकर ?"

"अपनी किस्मत पूछूँगी।"

"किस्मत !" देवानन्द मन-ही-मन में हँसा, "महारानी बन गईं और इन्हें अभी अपनी किस्मत का पता नहीं चला !"

वह यों ही बड़बड़ाता पंडित की खोज में बाहर निकला।

* * *

दूसरे दिन रात के गहरे सन्नाटे में दो परछाइयाँ बोधि-वृक्ष की ओर बढ़ रही थीं। उनके पंजों के बल चलने का कारण शायद यह था कि दूसरों की नींद न खुले और उनके आराम में बाधा न पड़े। उनमें एक महारानी तिष्यरक्षिता थी और दूसरा देवानन्द। महारानी आगे-आगे चल रही थीं और देवानन्द पन्द्रह-बीस कदम के फासले पर उनके पीछे-पीछे जा रहा था। चाँद निकला हुआ था, लेकिन आकाश पर हलके-हलके बादल थे, जिनके कारण चाँदनी का दृश्य स्वच्छ नहीं था। यात्री इधर-उधर लेटे हुए थे और उनके खर्राटों की आवाज निस्तब्धता को भंग कर रही थी। वे दोनों बोधि-वृक्ष के निकट जाकर रुके। महारानी ने देवानन्द के कान में कुछ धीरे से कहा और फिर वह खुद उसी प्रकार दबे पाँव आगे बढ़ गईं और देवानन्द उसी स्थान पर खड़ा रहा।

मंदिर का चौकीदार टहलते-टहलते दूर निकल गया था, अब इधर लौटकर आया तो इससे पूर्व कि वह कुछ कहे, देवानन्द बोला—"सुनाओ माधव ! कितनी रात बीत गई होगी ?"

माधव भी कलिंग की लड़ाई में गिरफ्तार होकर आया था और वह देवानन्द का पुराना साथी था। दोनों कई साल तक इकट्ठे काम करते रहे थे और एक दूसरे से भली-भाँति परिचित थे।

"कौन देवानन्द ?" माधव ने समीप आकर उसे ध्यान से देखा—"रात अभी

आधी पड़ी है। तुम इस समय कहाँ घूम रहे हो ?"

"पड़े-पड़े ऊब गया था। आँख ही नहीं लगती थी। सोचा कि चलूँ कुछ देर तुम्हारे साथ बातें कर लूँ।"

"बुढ़ापे में नींद यों ही कम आती है, और तुम्हें तो सोचने और कुढ़ने का रोग है।"

"आजादी छिनी, घर छिना और देश छिना। अब यह सोच ही तो है, जिससे मन बहलता है।"

"अब इन बातों में क्या रखा है। जो होना था सो हो चुका। व्यर्थ का रोग पालने से लाभ ? जिसे देखो मुक्त कण्ठ से महाराज अशोक का यश-गान कर रहा है। उन्होंने अपने तप और त्याग से प्रजा के मन को भी अपने वश में कर लिया है।"

"यह सब-कुछ मैं भी देख रहा हूँ और यह बात अधिक कष्ट का कारण है, माधव ! यह तप और त्याग नहीं, ढोंग है ! जब सत्य के नाम पर झूठ का प्रचार होता है तो कपट का जन्म होता है, और हमें आस्तीन में साँप पालने पड़ते हैं। मेरा दुःख निजी दुःख नहीं बल्कि मैं देख रहा हूँ कि ढोंग का जो बीज अब बोया जा रहा है उसके कड़वे फल मनुष्य को पीढ़ी-दर-पीढ़ी चखने पड़ेंगे। सैंकड़ों, हजारों साल···"

माधव चुपचाप देवानन्द की ओर देख रहा था। उसका सिर हिल रहा था और वह कई क्षण तक आप-ही-आप हिलता रहा। वह फिर बोला :

"महाराज अशोक इस दुनिया के सुखों को हेय समझते हैं ! सारी प्रजा उनकी संतान है और वह उसे पिता के सदृश प्यार करते हैं लेकिन उसी प्रजा की एक युवा कन्या से बुढ़ापे में विवाह रचाते हैं ! रंगभवन सजाते हैं ! क्या तप है ! क्या त्याग है !"

और वह खिलखिलाकर हँस पड़ा। उसका अट्टहास वातावरण में गूँज उठा।

"तुम सचमुच सौदाई हो और सौदाइयों की-सी बातें करते हो !" माधव बोला।

लेकिन देवानन्द के जोर से हँसने का उद्देश्य महारानी को चौकीदार की उपस्थिति से सूचित करना था ताकि वह जल्दी-जल्दी अपने काम से निपटकर दूसरी ओर चुपके से निकल जायें।

महाराज अशोक जितनी श्रद्धा और निष्ठा से धर्म को मानते थे तिष्यरक्षिता उतनी ही तीव्रता से उससे घृणा करती थी। ज्योतिषी को बुलाने का आशय यह था कि बोधि-वृक्ष को जलाने का उपाय मालूम करे। महारानी का यह घृणित प्रस्ताव सुनकर ज्योतिषी सिर से पाँव तक काँप गया। लेकिन जब तिष्यरक्षिता ने भारी पुरस्कार का लालच दिया और ज्योतिषी को विश्वास हो गया कि उसके अपने व्यक्तित्व को किसी भय की आशंका नहीं, तो उसने एक मंत्र बताया जिसे तीन बार पढ़कर बोधि-वृक्ष को आग लगाई जा सकती थी।

महारानी तिष्यरक्षिता ने मंत्र पढ़कर आग सुलगाई ही थी कि देवानन्द का

अट्टहास सुनाई दिया। वह घबराकर उठीं और झटपट दाईं ओर को चल दीं।

चौकीदार माधव ने धुआँ उठते देखा तो वह बोधि-वृक्ष की ओर लपका। उसकी दृष्टि महारानी पर भी पड़ी। लेकिन उसे आग बुझाने की चिन्ता थी। उसकी आवाज सुनकर कुछ यात्री जाग उठे और चौकीदार जमा हो गये। देवानन्द भी उसके साथ ही चला आया था। उन सबने मिलकर आग बुझा दी।

"यह कौन पापी था जिसने इस पवित्र वृक्ष को जलाने का दुस्साहस किया?"

"कोई भूत-प्रेत होगा। मनुष्य तो यह काम नहीं कर सकता।"

"लेकिन मैंने उसे भागते देखा है।" माधव बोला, "उसकी परछाईं थी और शास्त्र कहते हैं कि भूत की परछाईं नहीं होती।"

"शास्त्र यह भी कहते हैं कि झूठ के पाँव नहीं होते। जहाँ झूठ के पाँव लग जाते हैं, वहाँ भूत की परछाईं भी होती है, माधव!"

देवानन्द जोर से हँसा। उसका अट्टहास वातावरण में गूँज रहा था और लोग विस्मय से उसकी ओर देख रहे थे।

२९

कलाकार का मूल्यांकन (?)

हरिदत्त भट्ट 'शैलेश'

श्री हरिदत्त भट्ट 'शैलेश' का जन्म सन् १९३० में भट्टवाड़ी, गढ़वाल में हुआ। शिक्षा गढ़वाल, कलकत्ता, वाराणसी और देहरादून में हुई। कितने ही नाटकों का सफल निर्देशन और लोक-नृत्यों का प्रदर्शन कर चुके हैं। संस्कृति-साहित्य-समिति और हिमालय-लोक-कलाकार-संघ के संस्थापक और प्रधान हैं। उपन्यास, कहानी, एकांकी, कविता, निबन्ध—सभी-कुछ लिखते हैं। लोक-साहित्य में विशेष रुचि है। हिन्दी के अतिरिक्त अंग्रेजी, संस्कृत और गढ़वाली में भी लिखा है।

आजकल दून स्कूल, देहरादून में प्राध्यापक हैं।

रचनाएँ

'नौबत', 'गद्य-प्रसूनम्', 'रैबार', 'सुधीर खास्तगीर की कला', आदि।

कलाकारों का उत्साह ठंडा पड़ गया। प्रधान शिल्पी दिन-रात गहरी चिन्ता में डूबे रहते। महाराज को बुरे-बुरे सपने आते। प्रजा के मुख पर प्रश्न-सूचक चिह्न थे। सभी चिन्तित थे कि कोणार्क के सूर्य-मन्दिर को बने लगभग एक महीना हो गया, परन्तु मन्दिर का प्रस्तर-कलश ठीक से जुड़ नहीं पा रहा है।

मुख्य-मुख्य शिल्पी निरन्तर सोचते रहे, विचारते रहे, पर समझ में कुछ न आया। प्रधान शिल्पी विश्वकर्मा ने कई बार कलश को ध्यान से देखा, एक-एक पत्थर को परखा, तोला, जोड़ देखे, घण्टों बैठकर सोचते रहे परन्तु कोई हल न निकला। किसी भी रूप में कहीं कोई कमी न दिखाई दी। कई दिन तक इसी उधेड़बुन में रहने के बाद विश्वकर्मा ने सकुचाते हुए महाराज नरसिंह देव से अपनी असमर्थता प्रकट की, यह कहकर कि जो कलाकार इसे ठीक कर देगा, उसे मैं अपना जीवन सौंप दूँगा और जीवन-भर उसका दास रहूँगा।

महाराज ने देश के कोने-कोने में घोषणा करवा दी। दूसरे देशों में सूचना भेजी गई—जो कलाकार कोणार्क के सूर्य-मन्दिर का कलश ठीक से रख देगा, उसे राज्य की ओर से मुँह-माँगा पुरस्कार मिलेगा। इसी स्मृति में राज्य की ओर से प्रतिवर्ष धूम-धाम से मंगलोत्सव मनाया जाएगा।

घोषणा किए कई दिन हो गये थे परन्तु कोई न आया। फिर घोषणा करवाई गई। राजपुरुष और दण्ड-पाशिक दिन-रात घोड़ों पर बैठकर गाँव-गाँव में घूमते रहे, घर-घर समाचार पहुँचाया गया, जोर-शोर से डुगडुगी पिटवाई गई, पर कोई फल न निकला।

महाराज, महामात्य, शिल्पी—सभी बेचैन थे। आखिर क्या होगा, मन्दिर पूर्ण कैसे होगा, कलश कैसे चढ़ेगा, परम्परा के अनुसार बने हुए मन्दिर को तोड़ना राजा और राज्य के लिए अशुभ माना जाता था। कैसा दैव-प्रकोप, बस दुश्चिन्ताएँ बढ़ती जा रही थीं।

कई दिनों के बाद लगभग बाईस बरस के एक युवक ने राजदरबार में उपस्थित होने की इच्छा प्रकट की। प्रतिहारी ने महाराज को सूचना दी।

"महाराज की जय हो!" युवक ने नतमस्तक होकर प्रणाम किया।

"भद्र, कहो, क्या मन्तव्य है तुम्हारा?" महाराज ने पूछा।

"देव, आपकी घोषणा सुनकर आया हूँ।" युवक ने कहा।

महाराज को विस्मय हुआ और साथ ही सन्देह भी। बरसों से जो कलाकार अपनी साधना में लगे थे, जिन्होंने उड़ीसा में एक-से-एक सुन्दर देवालयों का निर्माण

किया, जिन्होंने कोणार्क के एक-एक पत्थर में प्राण फूँक दिये, जब उन्होंने ही अपनी असमर्थता प्रकट की तब इस किशोर अनुभवहीन तरुण से वह दुस्साध्य कार्य कैसे सम्भव हो सकेगा। महाराज इसी सोच में पड़े हुए थे कि युवक ने महाराज की चिन्ता को भाँपते हुए सविनय कहा—"महाराज, यदि मन्दिर का कलश न चढ़ा तो मैं अपने प्राणों की बलि चढ़ा दूँगा।"

महाराज ने युवक का अलौकिक रूप और अद्‌भुत उत्साह देखकर कहा—"तुम्हारा कल्याण हो, भद्र। यदि तुमने कलश चढ़ा दिया तो तुम्हें मुँह-माँगा पुरस्कार दिया जायेगा। हमारे राज्य की प्रत्येक वस्तु तुम्हारी सेवा में रहेगी।"

"महाराज की जय हो!" युवक ने नतमस्तक होकर फिर प्रणाम किया।

"शिवास्ते पन्थानः सन्तु!" महाराज ने आशीष दी।

युवक ने कोणार्क के लिए प्रस्थान करने की अनुमति माँगी और राजदरबार से चला गया।

महाराज ने महामात्य राजराज चालुक्य को बुलाया, कुछ देर बातचीत की और आज्ञा दी कि युवक की सेवा के लिए आप स्वयं कुछ राजपुरुषों को लेकर वहाँ जाएँ, जिससे शुभ-सन्देश हमें शीघ्रातिशीघ्र मिल सके।

महामात्य ने युवक राजीव और कुछ राजपुरुषों को साथ लेकर कोणार्क के लिए प्रस्थान किया।

वहाँ पहुँचते ही युवक प्रधान शिल्पी विश्वकर्मा की सेवा में उपस्थित हुआ। चरणों को छूकर सादर उन्हें प्रणाम किया।

प्रधान शिल्पी ने युवक को ध्यान से देखा। सुन्दर सरल दिव्य मुखाकृति, बड़ी-बड़ी लाल-लाल आँखें, उन्नत विशाल भाल, आकर्षक और अलौकिक रूप, जैसे किसी रूप-शिल्पी ने युवक का अंग-अंग गढ़-गढ़कर बनाया हो। और अनायास उनकी आँखों से टप-टप दो आँसू टपक पड़े। अपने को संभालते हुए विश्वकर्मा ने कहा—"तुम्हारा कल्याण हो, वत्स!"

कुछ देर बातचीत कर युवक ने फिर प्रधान शिल्पी के चरण छुए और मन्दिर की ओर चल पड़ा। प्रधान शिल्पी को देखकर उसके हृदय में रह-रहकर तूफान-सा उठ रहा था। उसे लगा, जैसे विश्वकर्मा से उसका पूर्व परिचय हो, जन्म-जन्म का सहज सम्बन्ध हो। उसका रोम-रोम विश्वकर्मा की छाया में बैठने के लिए पुकार रहा था।

युवक ने दो-तीन दिन तक लगातार मन्दिर का प्रत्येक भाग देखा—स्तम्भ, उपपीठ, अधिस्थान, सब एक-एक कर देखे। मन्दिर के शिल्प-सौंदर्य को देखा, मानव की मूक भावनाओं और अनुभूतियों को मूर्त-रूप देने की रूप-कल्पना को देखा, कलाकार के अंतःकरण में गूँजने वाली भाव-लहरियों के रंग-बिरंगे रूप देखे, एक-एक पत्थर से उन शिल्पियों के हृदय की कहानियाँ सुनीं। विमान देखा, जगमोहन देखा, नाट्य-मन्दिर और भोग-मन्दिर देखे, मन्दिर का एक-एक पत्थर देखा और मंत्रमुग्ध-सा चुपचाप देखता गया, सुध-बुध खो बैठा। सहसा महामात्य ने युवक की तंद्रा तोड़ी—

यह कहते हुए—"भद्र, मुझे आपसे कुछ निवेदन करना है।"

महामात्य ने दृढ़तापूर्वक कहा—"आचार्य विश्वकर्मा और मुझे पूर्ण विश्वास हो गया कि मन्दिर का कलश आपके हाथों से ही चढ़ेगा। महाराज की आज्ञा है कि सबसे पहले राजधानी में उन्हीं को शुभ-समाचार भेजा जाए और मेरी इच्छा है कि यहीं कोणार्क में आपकी मुँह-माँगी वस्तु आपको समर्पित की जाए। यही पुरस्कार-वितरणोत्सव हमारे देश का एक ऐतिहासिक उत्सव हो, जिसे आने वाली पीढ़ी युग-युग तक दुहराती रहे।"

युवक कुछ देर चुपचाप खड़ा रहा, शान्त और गम्भीर। फिर उसने धीरे से सादर निवेदन किया—"देव, आपकी उदारता का मैं हृदय से स्वागत करता हूँ, किन्तु जब तक कलश नहीं चढ़ा, तब तक अपना मन्तव्य व्यक्त करना भी तो अपराध है।"

"नहीं भद्र, ऐसा क्यों? यह तो गौरव का विषय है। मैं इस बात को बिलकुल अपने तक ही सीमित रखूँगा, आप विश्वास करें।"

"मुझे विश्वास है देव, किन्तु···"

"किन्तु क्या?"

"मुझे भय है कि कहीं···"

"भद्र, चिन्ता न करो, मैं वचन देता हूँ। मुझे विश्वास है कि उत्कल के महामात्य की एक छोटी-सी बात को अवश्य रखोगे।"

"ठीक है महामात्य, किन्तु खेद है कि मैं अपना मन्तव्य व्यक्त करने में अपने को असमर्थ पा रहा हूँ। हाँ, आपकी बात को अवश्य रखूँगा। सन्ध्या तक पत्र द्वारा अपना मन्तव्य व्यक्त कर दूँगा। महामात्य की जय हो, मेरी धृष्टता के लिए मुझे क्षमा करें।"

* * *

महामात्य ने मन्दिर के एकान्त कोने में इधर-उधर देखकर जैसे ही युवक का पत्र पढ़ा, उनके हाथ काँपने-से लगे। हृदय में एक तूफ़ान-सा उठा, सिर चकराने लगा और उन्होंने पत्र के टुकड़े-टुकड़े कर हाथों से मसल डाला। तन-बदन में आग-सी लग गई, आँखों से अंगारे बरसने लगे। राजकुमारी चारुमती से विवाह! मेरे प्राणों से खिलवाड़! और एक भयंकर अट्टहास कर वह चुप हो गया। किसी तरह खून के आँसू पी गया।

* * *

इधर युवक ने कलाकारों के चेहरों पर छाई निराशा और उदासी देखी, प्रधान शिल्पी की अस्वस्थता का कारण भाँपा। कई बार मन्दिर का उर्ध्व भाग देखा, विमान को ध्यान से देखा, नीचे उतरा, कलश को देखा। फिर ऊपर चढ़ा और कलश के नीचे के अम्ल को एकटक देखता, सोचता रहा। सहसा उसका चेहरा खिल उठा—अरे, यह तो उल्टा रखा हुआ है, जिससे कलश का सन्तुलन बिगड़ रहा था! युवक के हाथ आगे बढ़े, कमल-पटल सीधे रखे, बस कली की जगह खिला कमल बन गया।

वह जल्दी-जल्दी नीचे उतरा। उसके कथनानुसार कलश ऊपर ले जाया गया और युवक ने झट से कलश चढ़ा दिया।

सारे कोणार्क में तूफान-सा मच गया, हर्ष का ज्वार उमड़ पड़ा। कलाकार भागे-भागे आये, किन्तु क्या देखते हैं कि राजपुरुष युवक को मार रहे हैं। कलाकार वायु-वेग से आगे बढ़े, ऊपर चढ़े, परन्तु तब तक युवक का शरीर खून से लथपथ होकर नीचे ढुलक गया था! और साथ ही कोणार्क का कलश भी!!

कलाकारों ने राजपुरुषों पर पत्थरों की वर्षा की, संग्राम हुआ और मन्दिर की कहानी अधूरी ही रह गई।

प्रधान शिल्पी ने युवक का मृत शरीर अपने गले से लगाया। वह जी-भर रोये। सहसा उनकी दृष्टि युवक के कंठहार पर पड़ी। "यह क्या! मेरा स्मृति-चिह्न! मेरे प्रणय की गाथा! रोहिणी! रोहिणी!" कहकर वह फूट-फटकर रोने लगे।

और उधर राजधानी में वज्रपात हो गया। महामात्य ने महाराज को बन्दी बना लिया और बलात् राजकुमारी चारुमती से विवाह का स्वांग रचा, किन्तु वह कहानी भी अधूरी ही रह गई। क्योंकि राजकुमारी भी जीवन से तंग आकर बहुत शीघ्र तरुण कलाकार के पास पहुँच गई।